खोई हुई जुबान की वापसी

मध्य भारत के जन संघर्षों की गाथा

- राहुल बैनर्जी

प्रस्तावना - दो विपरीत दुनियाओं की कहानी	1
अध्याय 1: रोते हुए आंसुओं की आरती उतार दो!	6
अध्याय 2 – ज़िंदगी की दिशा की खोज	12
अध्याय 3 – संघर्ष के साथी	18
अध्याय 4 - प्रकृति के अनाथ संतान	23
अध्याय 5 - प्रकृति के संतानों का पुनरुत्थान	32
अध्याय 6 - खोया हुआ स्वर्ग	40
अध्याय 7 - पुराने मंदिरों के बदले नए मंदिर	47
अध्याय 8 – मजबूरी का नाम गांधी	56
अध्याय 9 – छत्तीसगढ़ माता की गुहार	63
अध्याय 10 - नर्मदा की बहती बंद	69
अध्याय 11 - दिल की सुनो	79
अध्याय 12 – पर्यावरणवादी आंदोलनों के बुजुर्ग दिशारी	87
अध्याय 13 – संघर्ष यात्रा और उसकी विफलता	96
अध्याय 14 - प्यार है पर चैन नहीं	106
अध्याय 15 – उपेक्षित नारी शक्ति	116
अध्याय 16 - जंगल में मंगल	124
अध्याय 17 – पारंपरिक और आधुनिक झाड़ फूँक	130
अध्याय 18 – हक के लिए संघर्ष	138
अध्याय 19 – आज के आधुनिक सिसिफस	146
अध्याय 20 – अराजकतावाद की विडंबना	155
अध्याय 21 - भैंस के आगे बीन बजाना	161
अध्याय 22 – जेल भरो	172
अध्याय 23 - न्याय दूर अस्त	181
अध्याय 24 - कोहिनूर हीरे का ब्याज	189
अध्याय 25 - भारतीय क्रांति के लिए संघर्ष	197
अध्याय 26 – कुछ समय के लिए संघर्ष विराम	200
अध्याय 27 – धरती माता की लूट	206
अध्याय 28 – दिवास्वप्न का अंत -	212

खोई हुई जुबान की वापसी

मध्य भारत के जन संघर्षों की गाथा

दो विपरीत दुनियाओं की कहानी - प्रस्तावना के एवज में

बोंदर सिंह काफी तनाव में थे। उन्हें इंदौर उच्च न्यायालय द्वारा 5000 रुपये का जुर्माना देने, या ऐसा न करने पर छह महीने की जेल काटने की सजा मई 2001 में सुनाई गई थी। बोंदर एक भिलाला आदिवासी है जिन्हें आमतौर पर वर्ष के उस समय नकदी की बेहद कमी होती है। चूंकि बोंदर गिरफ़्तारी के बाद जमानत पर रिहा होने से पहले लगभग दो महीने जेल में बिता चुका था, इसलिए उसके वकील ने सुझाव दिया कि वह शेष चार महीने की जेल की सजा भी पूरी करे। हालांकि, बोंदर के लिए इसका मतलब होता कि आने वाले खरीफ की खेती वह नहीँ कर पाता। विगत वर्ष में अवर्षा के कारण फसल खराब हो गई थी और इसलिए उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीँ थी। फलस्वरूप उसके लिए जेल जाकर खेती करने का मौका छोड़ देना संभव नहीँ था। तो बोंदर के लिए एकमात्र विकल्प बचा था उसके गाँव के पास के बाजार और तहसील मुख्यालय, उदयनगर, के एक साहूकार से दंड का रकम दस प्रतिशत प्रतिमाह की ब्याज दर से उधार लेना।

बोंदर भारत के मध्य प्रदेश राज्य में देवास जिले के हीरापुर गाँव का निवासी भिलाला आदिवासी किसान है। उनके माता-पिता, गाँव के अन्य लोगों के साथ, करीब अस्सी साल पहले धार जिले के मनावर तहसील से आए थे। जंगलों को काट कर खेती करने के लिए क्षेत्र के जागीरदार द्वारा उन्हें उदयनगर लाया गया था। हालाँकि, लगभग तुरंत बाद, 1947 में भारत की स्वतंत्रता पश्चात वन भूमि को खेती में तब्दील करने की इस प्रक्रिया पर रोक लग गई थी, और एक बंदोबस्त सर्वेक्षण के बाद, हीरापुर और आस-पास के गांवों के लोग केवल उस भूमि पर खेती करने के लिए सीमित हो गए थे, जिसे वे साफ कर चुके थे। बाकी जंगल को वन विभाग ने अपने कब्जे में ले लिया। समय के साथ, जैसे जैसे जन संख्या बढ़ी, यह जमीन एक अच्छी आजीविका प्रदान करने के लिए बहुत कम साबित हुई। भारतीय वन अधिनियम, 1927 के प्रावधानों के कारण भी आदिवासियों की स्थिति खराब हुई। उन्हें खाना पकाने, आवास, और खेती जैसे बुनियादी कार्यों के लिए आवश्यक लकड़ी इकट्ठा करने से रोक दिया गया। उन्हें इन जरूरतों को पूरी करने के लिए वन विभाग के कर्मचारियों को रिश्वत देना पड़ता था।

बोंदर इस सजा सुनाए जाने के लगभग एक दशक पहले अपने खेत की बाड़ लगाने के लिए लकड़ी इकट्ठा करने एक दिन जंगल गए थे। जब वह लकड़ी के साथ लौट रहा था, तो उसे एक वन रक्षक और उसके सहायक ने पकड़ लिया। आदिवासियों और स्थानीय वन विभाग के कर्मचारियों के बीच प्रचलित समझौता के तहत ऐसी परिस्थितियों में वन रक्षक बस रिश्वत लेता है और छोड़ देता है। लेकिन इस वन रक्षक ने बोंदर की गाड़ी जब्त कर लिया। जब बोंदर ने विरोध किया, तो वन रक्षक ने उसे लाठी से मारा। तब बोंदर ने भी नाराज होकर लकड़ी से वन रक्षक को सिर पर मारा, जिससे वह गंभीर रूप से घायल हो गया।

इस अपराध के लिए बोंदर को पुलिस ने गिरफ्तार कर जेल भेज दिया। उनके भाइयों द्वारा साहूकार से पैसे उधार लेकर वकील लगाकर उन्हें जमानत पर रिहा किया गया था। बाद में, उन्हें देवास में सत्र अदालत ने तीन साल की जेल की सजा सुनाई। उन्होंने उच्च न्यायालय में इस फैसले के खिलाफ अपील करने के लिए एक बार फिर से पैसे उधार लिए और आखिरकार उच्च न्यायालय का निर्णय आया कि पाँच हज़ार रुपए के जुर्माने देना होगा। जिसे अदा करने के लिए उन्हें फिर से साहुकार की ओर रुख करना पड़ा। इसके अलावा, उन्हें अपनी आधी जमीन एक अन्य आदिवासी को किराए पर देनी पड़ी और अपने बेटे को एक बड़े जमींदार के खेतों में काम करने के लिए भेज देना पड़ा ताकि साहूकार के महंगे कर्ज का भुगतान किया जा सके।

बोंदर सिंह की कहानी मध्य प्रदेश में रहने वाले भील आदिवासियों की है। आदिवासी ज्यादातर भूमिहीन मजदूर या सीमांत किसान हैं जिनकी भूमी बहुत कम सिंचित हैं और इसी पर उनकी आजीविका निर्भर है। इसलिए अधिकांश आदिवासी साहूकारों के ऋण बंधन में जकड़े हुए है। स्वतंत्रता के बाद की विकास नीतियों ने न केवल आदिवासियों पर अत्याचार करने वाले सामंती और औपनिवेशिक संरचनाओं को बरकरार रखा है बल्कि आधुनिक पूंजीवादी विकास के लिए संसाधन उन्हें वंचित कर उनके पारंपरिक वन क्षेत्रों से निकाले गए हैं।

बोंदर की परेशानी की कहानी असल में दो विपरीत दुनियाओं की कहानी है। मध्य प्रदेश के संदर्भ में, यह गरीब आदिवासियों और गैर-आदिवासी साहूकारों और सरकारी अधिकारियों की कहानी है, जिन्होंने आदिवासियों को लूट कर समृद्ध हुए है। भारतीय संदर्भ में यह शहरी क्षेत्रों, जिनके विकास ग्रामीण क्षेत्रों के शोषण पर आधारित है और इन शोषित ग्रामीण क्षेत्रों की कहानी है। वैश्विक संदर्भ में, यह सीमांतिक गरीब देशों और औद्योगिकृत देशों, जिनका विकास तीसरी दुनिया के अविकसित देशों की लूट से हुआ है, की कहानी है।

मेरे जैसे विपरीत दुनिया के शहरवासी की मुलाकात बोंदर जैसे आदिवासी और उसकी अंधेरे से घिरी जीवन से कुछ घटनाओं की एक अजीब श्रृंखला से हुई। बोंदर और अन्य आदिवासियों के साथ मैं एवम कुछ और मेरे जैसे आधुनिक विकास से मुह मोडे हुए लोग गत चार दशकों से इन दो विपरीत दुनियाओं को अलग थलग रखने वाले शोषण को मिटाने के लिए लड़ रहे हैं।

यह जो कहानी मैं बताने जा रहा हूँ, वह मध्य भारत में लड़ी गई एक पर्यावरणीय लड़ाई की है, जिसमें एक तरफ ऐसे आदिवासियों की दुनिया है जो परंपरागत रूप से प्रकृति के साथ रहते हैं और दूसरी तरफ ऐसे लोगों की दुनिया है जो प्रकृति से जितना संभव हो सके निकालने के लिए लालची है। मैं यह कहानी केवल इसलिए लिख रहा हूं क्योंकि पारंपरिक भील कहानीकार, जिन्हें गायन कहा जाता है, जो निश्चित रूप से इस कहानी को बताने के लिए अधिक योग्य हैं, हमारे "सभ्य" तरीकों की बहुत परवाह नहीं करते हैं और इसलिए साक्षरता के प्रति उदासीन हैं। हालांकि, यह उनके दिलचस्प मिथकों के मौखिक गायन में बाधा नहीं डालता है लेकिन लेखन की संस्कृति की इस कमी के कारण भीलों को आधुनिक दुनिया की जटिलताओं से जूझने में दिक्कत आती है।

इस प्रकार, जैसा कि एक भील बुजुर्ग ने 1985 में पहली बार मुझे बताया था, वे आधुनिक भारत में सभ्यता के कचरे बन गए थे क्योंकि वे सफेद पर काले नहीँ कर पाते थे - कागज पर कलम चलाने में असमर्थ थे। आज जब मैं उस बातचीत को याद करता हूँ, मुझे एहसास होता है कि मेरे जैसे पर्यावरण आंदोलनों में लगे हुए कार्यकर्ता भी एक प्रकार से उसी स्थिति में है। क्योंकि प्रकृति के साथ हमारे व्यवहार में विनम्रता और निरंतरता लाने की आवश्यकता का हमारा सरल संदेश हम बड़े पैमाने पर दुनिया को बताने में विफल रहे हैं। इसलिए इस कहानी को मैं लिखने का बीड़ा उठाया हूँ और मैं इस में भील गायनों की रोमांचक शैली को ही अपनाया हूँ।

नर्मदा नदी के पास के गांवों में एक सृजन मिथक गाया जाता है। यह कहानी बताती है कि कैसे ब्रह्मांड बनाने के विचार से भगवान अचानक तत्पर हो गए थे, और उन्होंने इसके लिए जंगल में जाने और लकड़ी लाने के लिए रेलू कबाड़ी को सलाह दी थी। नर्मदा और ताप्ती नदियों के उद्गम के बाद धीरे-धीरे जानवरों और पौधों को कैसे बनाया जाता है, इसकी कहानी शुरू होती है। ये नदियाँ अंत में दूदू हमाड यानि समुद्र से मिलती हैं और इस यात्रा के दौरान, गाँव, पहाड़ियाँ और घाटियाँ भी निर्मित होती हैं।

मुख्य कहानी में कई छोटी कहानियों भी है, जो सभी रात भर में गाए जाते हैं। अत्यधिक मनोरंजक होने के साथ यह महाकाव्य, श्रोताओं को प्रकृति की विशालता और प्राकृतिक प्रक्रियाओं की ताकत के बारे में भी बताता है। ऐसा करने पर, यह प्रकृति के लिए श्रोताओं के मन में एक सम्मान पैदा करता है, जो कि "आधुनिक" मनुष्यों के चरित्र के विपरीत है। औद्योगिक क्रांति के बाद की तीन शताब्दियों से, मनुष्य अपने स्वार्थ सिद्ध करने के लिए केवल प्रकृति को अपने अधीनस्थ किया है जिससे कि गंभीर पर्यावरणीय समस्याएं खड़ी हो गई है।

भीलों ने अपनी कहानी कहने में वीर, शृंगार और हास्य रस का सराहनीय मिश्रण किया है। यह उनकी कहानियों को दिलचस्प बनाता है और साथ ही वे उपदेशात्मक भी होते है। भील गायन न केवल महान कथाकार हैं बल्कि एक प्राचीन नैतिकता के प्रथम श्रेणी के शिक्षक भी हैं। वर्तमान में भीलों के अपने हकों के लिए जारी आंदोलनों की औचित्य ऐसी ही एक कहानी में बखूबी वर्णित किया गया है और इस पुस्तक का नाम भी उसे से आया है।

एक महिला थी, जीवला कुवंर, जिसने अपने पति की अवज्ञा की थी और उसके खिलाफ बोली थी। एक पंचायत की बैठक बुलाई गई थी और यह माना गया था कि उसने गलत तरीके से बात की थी। सजा के तौर पर, बड़ों ने आदेश दिया कि उसकी जीभ काट दी जाए और उसे उसके पति को निगल जाने के लिए दे दी जाए। हालाँकि ऐसा किया गया था, लेकिन जीभ हमेशा के लिए पति के गले में अटक गई। इस विचित्र कहानी में बताया गया है कि कैसे भील समाज में या किसी भी समाज में महिलाओं पर अत्याचार किया जाता है।

हालाँकि, क्योंकि जीभ को पूरी तरह से निगला नहीं गया था, इसलिए उसे दोबारा प्राप्त करने की संभावना बनी हुई है। वास्तव में, केवल महिलाएं ही नहीं, बल्कि दलित, आदिवासी और अन्य उत्पीड़ित तबके के लोग अपने हकों के लिए आवाज उठाने में असमर्थ हैं, और उन्हें अपनी खोई हुई ज़बान

वापस पाने की ज़रूरत है। यह कहानी वर्तमान में जारी इस कठिन लढाई और उसकी खुशियों और दुखों के बारे में है। ऐसे लोगों के बारे में है जो सदियों से मौन रहने के बाद अब अपनी खोई हुई जुबान को पुनः प्राप्त करने में जुटे हुए है।

भीलों के मिथकों और कहानियों का एक दिलचस्प पहलू उनमें महिलाओं द्वारा निभाई गई केंद्रीय और शक्तिशाली भूमिकाएं हैं, जो उनके समाज की पितृसत्तात्मक चरित्र की वास्तविकता के विपरीत है। इसलिए, प्रकृति और आदिवासियों के शोषण के खिलाफ संघर्ष की कहानी में एक महिलावादी पक्ष जोड़ने के लिए, मैंने वर्तमान कहानी में इस सराहनीय परंपरा का पालन किया है। मेरी पत्नी और कार्यकर्ता सुभद्रा की एक दलित होने के तौर पर व्यक्तिगत संघर्ष की और जिन भील महिलाओं के साथ वो काम करती है उनकी कहानियाँ भी इस वर्णन में शामिल है विभिन्न जन आंदोलनों की कहानियों के साथ। चूंकि सुभद्रा जैसी महिला कार्यकर्ताओं के लिए, व्यक्तिगत और साथ ही सार्वजनिक संघर्ष दोनों ही राजनीतिक हैं, इसलिए यह कहानी नैतिकता को रेखांकित करने की भीली परंपरा का अनुसरण करती है।

भीलों के अलावा, मध्य भारत में आदिवासियों का एक और महान समूह गोंड जनजाति का है। गोंडों का एक वर्ग मध्य युग में सामंती राजा बन गया था और एक विशाल क्षेत्र पर शासन करता था, जिसे अब गोंडवाना के नाम से जाना जाता है। गोंडों ने मुगलों और अंग्रेजों, दोनों के खिलाफ भीलों की तुलना में और उग्र प्रतिरोध खड़ा कर दिया था। आज तक, वे भारतीय राज्य की विनाशकारी विकास नीतियों के खिलाफ मजबूती से लड़ रहे हैं। इसी कारण से वे भी मेरी इस कथा में दर्ज है। एक सुंदर कविता में, प्रसिद्ध कवि भवानी प्रसाद मिश्र ने गोंडों की प्रकृति अनुकूल जीवन शैली का बखूबी वर्णन किया है -

सतपुड़ा के घने जंगल।
नींद मे डूबे हुए से
ऊँघते अनमने जंगल।
इन वनों के खूब भीतर,
चार मुर्गे, चार तीतर
पाल कर निश्चिन्त बैठे,
विजनवन के बीच बैठे,
झोंपडी पर फ़ूंस डाले
गोंड तगड़े और काले।
जब कि होली पास आती,
सरसराती घास गाती,
और महुए से लपकती,
मत्त करती बास आती,
गूंज उठते ढोल इनके,
गीत इनके, बोल इनके

यह सुखद जीवन शैली को, जो न केवल गोंडों की बल्कि पूरे विश्व के आदिवासियों की है, दुर्भाग्य से गैर-आदिवासियों द्वारा आर्थिक समृद्धि और राजनीतिक सत्ता के लालच में शताब्दियों से तहस नहस किया गया है। वर्तमान कहानी मूल रूप से मध्य भारत में विनाशकारी आधुनिक विकास के खिलाफ किए जा रहे संघर्षों का वर्णन है। इन संघर्षों में मेरी खुद की भागीदारी का वर्णन यहाँ वहाँ उस में ग्रथित है।

मैंने मेरे अन्य काम के बीच तीन साल के श्रम के बाद इस पुस्तक को अंग्रेजी में लिखना 2007 में पूरा किया, पर इसे छापने के लिए कोई प्रकाशक तैयार नहीं हुआ। फिर मैं ने इसे इंटरनेट पर ई-बुक के रूप में स्वप्रकाशित किया। इस ई-बुक को पढ़ने वाले बहुत से लोगों ने इसे पसंद किया, और मेरे लंबे समय के स्कूल मित्र, रामास्वामी ने अपने ब्लॉग (https://cuckooscall.blogspot.com) में इसका उल्लेख किया। रामास्वामी, जो एक बहुआयामी व्यक्तित्व हैं - एक कारखाना का निदेशक, शहरी वंचितों के लिए स्कूल ka संचालक, लोगों के अनुकूल शहरी आवासों की योजनाकार, कवि और लेखक, मुझे अपना खुद का ब्लॉग स्थापित करने के लिए प्रेरित किया (https://anar-kali.blogspot.com)। भूपिंदर सिंह रामस्वमी के ब्लॉगपोस्ट को पढ़ा और उन्होंने मेरे पुस्तक को पढ़ने के बाद उसका एक विस्तृत समीक्षा लिखा, जिसे वे अपने स्वयं (https://readerswords.wordpress.com) के सहित विभिन्न ब्लॉगों में पोस्ट किया। अंततः विकास और सामाजिक मुद्दों में रुचि रखने वाले गणित के सेवानिवृत्त अध्यापक आनंदस्वरुप गडडे (https://gaddeswarup.blogspot.com) ने पुस्तक के मुद्रित प्रकाशन को प्रायोजित करने की इच्छा व्यक्त की। इससे एक नई परियोजना शुरू हुई, क्योंकि मुझे कई पाठकों से प्रतिक्रिया मिल रही थी कि पुस्तक में कहानियां मनोरंजक है लेकिन उनके साथ लिखा गया शास्त्रीय विश्लेषण समझने में बहुत कठिन है। इसलिए, हमने तय किया कि पुस्तक का एक संपादित संस्करण मुद्रण के लिए तैयार किया जाएगा। भूपिंदर, जिनके पास सॉफ्टवेयर कोड लिखने, पुस्तकों की समीक्षा करने और राजनीतिक सिद्धांत के विसलेषण करने जैसे कई हुनर है और जो अब मेरे पक्का दोस्त हैं, ने इस जिम्मेदारी को निभाया और अंत में एक अन्य निपुण ब्लॉगर और लेखिका भास्वती घोष (https://bhaswatighosh.com/) ने अंग्रेजी की शैलीगत पहलुओं में सुधार की। इसलिए यह पुस्तक वर्तमान काल, जिसका सोशल नेटवर्किंग एक महत्वपूर्ण अंग है, का भी प्रतीक है। जिन पाठकों को अंग्रेजी में लिखा हुआ विस्तृत शोधात्मक पुस्तक को पढ़ना है वे इसे मेरे वेबसाईट (https://www.rahulbanerjeeactivist.in/manifesto.html) से डाउनलोड कर सकते है।

समय समय पर काई लोगों ने मुझसे आग्रह किया है की मैं इस पुस्तक का हिन्दी संस्करण भी प्रकाशित करूं। कुछ दिन पहले facebook पर मेरे एक पोस्ट पर चर्चा के दौरान न केवल फिर से यह मांग दोहराई गई बल्कि Percept प्रकाशन संस्था के अध्यक्ष जीतेंद्र राजाराम ने पुस्तक का हिन्दी संस्करण प्रकाशित करने भी तैयार हो गए। सो अब वर्तमान संदर्भ के अनुसार संशोधित यह हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है। अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित होने के बाद के डेड़ दशक के समय में इस पुस्तक में उल्लेखित कई महत्वपूर्ण पात्र अब और नहीं रहे। इनमें से मेरे करीब के लडाकु साथी खेमराज चौधरी, खेमला अजनारिया, पुष्पेंद्र सोलंकी और छोटेलाल बामनिया विशेष रूप से स्मरणीय है।

अध्याय 1: रोते हुए आंसुओं की आरती उतार दो! 6

अप्रैल 2001 के एक तेज़ गर्मी की दोपहर में मध्य प्रदेश के देवास जिले की उदयनगर तहसील में कटुकिया गाँव के भिलाला आदिवासी पटेल मोतीया भाई तपते सूरज के नीचे अपने घर के खंडहरों के बीच बैठा था। वह गुस्से में राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति आयोग के तत्कालीन अध्यक्ष श्री दिलीप सिंह भूरिया से पूछ रहे थे कि क्या भारत के नागरिक के रूप में, उन्हें अपने घर में गरिमा के साथ जीने का अधिकार नहीं है। क्या केवल चूहों की तरह उसे खेत के बीलों में ही उसे रहना होगा। इससे पहले, मध्य प्रदेश सरकार ने एक गुप्त रूप से नियोजित "ऑपरेशन क्लीन" नामक सप्ताह भर चलने वाले अभियान में, आदिवासी मोर्चा संगठन के सदस्य आदिवासियों के घरों में पुलिस और वनकर्मियों द्वारा सामूहिक विनाश और लूटपाट को अंजाम दिया था। विनाश के पैमाने को देखकर अभिभूत श्री भूरिया सांत्वना में कुछ शब्दों के अलावा और कुछ भी कह नहीं पाए थे।

ऐसा क्यों है कि मोतिया पटेल जैसे आदिवासियों को भारत में पूर्ण नागरिकता के अधिकार से लगातार वंचित रखा जाता है? ऐसा क्यों है कि संवैधानिक प्रावधानों और अन्य साकारात्मक कानून के बावजूद, आदिवासी जब भी संगठित तरीके से अपने कानूनी अधिकारों की मांग करते हैं, तो उन्हें राज्य का दमन का सामना करना पड़ता है? आदिवासी स्व-शासन की मांग को आजादी के सात दशक बाद भी क्यों स्वीकृति नहीँ मिल रही है और राज्य द्वारा इस मांग को क्रूरता से क्यों दबा दिया जाता है? मध्य भारतीय क्षेत्र में पिछले चालीस वर्षों में आदिवासियों के वीरतापूर्ण संघर्ष का इतिहास इन सवालों के कुछ दुखदायी उत्तर प्रदान करता है।

"ऑपरेशन क्लीन" 28 मार्च 2001 की अल सुबह कादोरिया गांव में शुरू हुआ जब सैकड़ों सशस्त्र पुलिसकर्मियों और वन कर्मियों ने जिला कलेक्टर, पुलिस अधीक्षक और संभागीय वन अधिकारी के नेतृत्व में बिना कोई पूर्व सूचना दिए ग्रामीणों पर आक्रमण किए। हालांकि इस आक्रमण की चपेट में आने के बावजूद, ग्रामीणों ने इस छापे का कड़ा प्रतिरोध किया। परंतु राज्य बलों की ताकत और संख्या ने जल्द ही उन्हें परास्त कर दिया। छापेमारी दल ने घरों को ध्वस्त कर दिया और आदिवासी ग्रामीणों के लकड़ी और अन्य सामान को जब्त कर लिया। उनके अनाज और पानी में कीटनाशक मिलाकर जहरीला बना दिया गया था। तत्पश्चात, यह दल अन्य गाँवों में गया। पहले पोटला गाँव पर धावा बोल जो संघटन का गढ़ था, जहाँ महिलाओं ने बहादुरी से मोर्चा संभाला। पर फिर भी छापेमारी दल ने घरों को नष्ट कर दिया, ग्रामीणों के सामानों को बिखेर दिया और अनाज और पानी में जहर मिला दिया। इसके बाद वे 1 अप्रैल को मूर्ख दिवस पर कटुकिया गाँव में लूटपाट मचा दी।

उस रात, यह दल उत्पात मचाने के बाद उदयनगर वापस आ गई और लुहार नदी के तट पर डेरा डाल दिया। दूसरे दिन इनको नदी पार कर संगठन के मुख्य क्षेत्र पर हमला करनी थी। संगठन के सदस्यों ने अपने क्षेत्र की ओर जाने वाली सड़क पर एक शांतिपूर्ण धरना शुरू कर दिया था एवं सभी यातायात को रोक दिया था। यह मांग थी कि प्रशासन को 30 मार्च से शुरू अपने अवैध अभियान को रोकना होगा। पर प्रशासन ने उनके विरोध पर कोई ध्यान नहीं दिया, क्योंकि वह संगठन को पूरी तरह से खत्म करने पर तुला हुआ था।

मेहेंद्रिखेड़ा गाँव उदयनगर के दूसरी तरफ लुहार नदी के किनारे पर स्थित है। यह नदी गर्मियों में सूख जाती हैं लेकिन गाँव के पास इसमें कुछ गहरे ताल हैं, जिनमें गर्मियों में भी पानी और मछलियों से भरे होते हैं। । इस क्षेत्र के बच्चे और युवा गर्मी के महीनों में इसमें मछली पकड़ने और तैरने का आनंद लेते हैं। इस कारण यह गाँव संगठन का एक पसंदीदा सभा स्थल था। लेकिन 2 अप्रैल, 2001 को, गांव में कोई भी व्यक्ति नहीं था; हर कोई सड़क पर चल रहा धरना में शामिल होने के लिए गया था। सुबह दस बजे, जब गाँवों में प्रशासनिक कारों, जीपों और वैन की एक लंबी कतार आने लगी, तो वहाँ कोई नहीं मिला। लोगों के साथ बातचीत करने के लिए धरण स्थल पर जाने के बजाय, घुड़सवार दल गाँव में घुसा और तुरंत बिजली से चलने वाली आरी और कुल्हाड़ियों के साथ घरों के लकड़ी के खंभों को काट दिया गया। यहां तक कि मुर्गी पकड़ने और घरों में पड़े अनाज और अन्य संपत्ति को लूटने का काम भी किया गया। जिला कलेक्टर, पुलिस अधीक्षक और संभागीय वनाधिकारी की नेतृत्व में इस अवैध लूट को अंजाम दिया गया।

अधिकारियों के इस घिनौने रवैये से सड़क पर इंतजार कर रहे लोग नाराज हो गए और इस अंधाधुंध विनाश को रोकने के लिए गांव की ओर दौड़ पड़े। पुलिस ने लोगों पर गोलियों की बौछार लगा दी जिससे कि चार लोग मारे गए। एक अमानवीय प्रशासन के खिलाफ प्रदर्शन करने की निरर्थकता को देखते हुए, वे तीन शवों को वापस ले गए, जबकि चौथे को पुलिस ने छीन लिया। आदिवासियों ने ट्रैक्टर ट्रॉली में मृतकों को इंदौर लाया पोस्टमार्टम के लिए और दुनिया को बताने के लिए कि प्रशासन ने अपने अन्यायपूर्ण कामकाज के खिलाफ उभरता संगठित विरोध को किस अमानवीयता से दबाने की कोशिश की थी। संगठन के एक वरिष्ठ नेता, जेरमाभाई, जिनके बेटे बलराम की पुलिस की गोली से मौत हो गई थी, अस्पताल में आए पत्रकारों को पूछा, "यह किस तरह की सरकार है जो हमेशा हम आदिवासियों को लूटना चाहती हैं? अब उन्होंने मेरा बेटा को छीन लिया है।"

प्रशासन से यह टकराव आदिवासी मोर्चा संगठन द्वारा गांव में स्वशासन हेतु ग्राम सभा का सत्ता की स्थापना के लिए तीन साल के लंबे संघर्ष की परिणति था। इस के लिए उन्हें सर्व प्रथम वन विभाग के साथ संघर्ष करना पड़ा। वन विभाग ने परंपरागत रूप से भारतीय वन अधिनियम (भा.व.अ) के प्रावधानों के तहत आरक्षित वनों का एकमात्र नियंत्रक होने का दावा किया है। यह व्यवस्था अंग्रेजों द्वारा स्थापित की गई थी, लेकिन स्वतंत्रता के बाद इसे बरकरार रखा गया था। आदिवासियों ने वन विभाग के इस एकाधिकार को चुनौती देते हुए कहा कि उनके गांव की सीमा के भीतर स्थित जंगलों का प्रबंधन और उपयोग उनके द्वारा किया जाना है। संगठन की ताकत का सामना करने के लिए स्थानीय वन अधिकारियों की अक्षमता को देखते हुए प्रशासन बाहर से पुलिस बलों को लाया और वन अधिकारियों के साथ दौरा करना शुरू किया। उन्होंने संगठन के कुछ सदस्यों को जंगल में गिरफ्तार कर उनकी पिटाई की और फिर उन्हें किसी न किसी कानूनी धारा के उल्लंघन के झूठे आरोप में जेल भेज दिए।

दिन ब दिन और दुस्साहस हासिल करते हुए वन अधिकारियों ने सुबह-सुबह गाँवों में छापेमारी शुरू कर दी और इस तरह उन्हें आसानी से गिरफ्तार किया। 23 सितंबर 1999 को वन अधिकारियों का

एक दल ने सुबह 6 बजे कटुकिया गांव में छापा मारा और रूपसिंह की गोली मारकर हत्या कर दी। वन अधिकारियों ने जंगल से लकड़ी काटने के आरोप में एक बालू को गिरफ्तार करने के लिए वहाँ पहुंचे थे। रूपसिंह की हत्या के विरोध में संगठन के सदस्यों के तत्काल प्रदर्शन किया। हत्या का मामला तत्काल दर्ज करने और दोषी अधिकारियों की गिरफ्तारी की मांग को लेकर, रूप सिंह के शव के साथ उदयनगर में पुलिस थाने के सामने हजारों की तादाद में वे एकत्र हुए। गत कुछ समय से जो मनमानी और गैरकानूनी तरीके से प्रशासन लोगों की अपनी वैध आकांक्षाओं को दबाने की कोशिश कर रहा था उसके खिलाफ क्रोध जबरदस्त था। प्रशासन, जनता के दबाव में उनकी मांगों को मानते हुए, वन अधिकारियों के खिलाफ हत्या का मामला दर्ज किया और उन्हें गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया। इसके बाद, संगठन स्थानीय स्तर पर पहले से कहीं अधिक शक्तिशाली हो गया, और ग्राम सभाओं का वास्तविक स्वशासन स्थापित हो गया।

हालांकि, चूंकि वन अधिकारी प्रशासन के इशारे पर काम करते थे, इसलिए पुलिस ने नब्बे दिन के भीतर मामले में चार्जशीट दाखिल नहीं की। इससे अभियुक्तों को जमानत पर जेल से बाहर निकलने का मौका मिला और उनके निलंबन रद्द कर दिए गए। बाद में यह पूरा प्रकरण ही खत्म कर दिया गया। कानून के प्रावधानों के अनुसार, जब एक आदिवासी की गैर-आदिवासी द्वारा हत्या कर दी जाती है, तो राज्य को मृतक के वारिसों को मौद्रिक मुआवजा प्रदान करना होता है। संगठन ने इस मुआवजे का भुगतान रूपसिंह की विधवा सागरबाई को हो इसलिए आवेदन किया था। सभी आवश्यक औपचारिकताओं को पूरा करने के बावजूद, जिला मजिस्ट्रेट ने मुआवजे का भुगतान नहीं किया। उन्होंने यह कुतर्क दिया कि चूंकि रूपसिंह पर गोली चलाने वाले वन रक्षक एक आदिवासी थे, इसलिए अत्याचार अधिनियम के प्रावधान लागू नहीं होंगें। संगठ न द्वारा दलीले दी गई कि प्रशासन और उसके द्वारा दल, जिनमें गैर-आदिवासी भी शामिल थे और नेतृत्व कर रहे थे, यौथ रूप से गैर आदिवासी है और इसलिए आदिवासियों पर अत्याचार निवारण कानून लागू होना चाहिए पर प्रशासन पर इसका कोई असर नहीँ हुआ।

इसके बाद सितंबर 2000 में, जिलाधिकारी के इस मनमाने फैसले के खिलाफ, संगठन ने इंदौर में उच्च न्यायालय का रुख किया। पर याचिका की सुनवाई के दिन माननीय न्यायाधीश ने एक आश्चर्यजनक घोषणा की कि चूंकि मध्य प्रदेश सरकार द्वारा कानून के नियमों को हिंदी में प्रकाशित किया गया है, इसलिए वह निर्णय नहीं दे सकत है क्योंकि ईसे अंग्रेजी में लिखा जाना था। उसके बाद दो सुनवाई में, न्यायाधीश ने मामले पर अपना अंतिम निर्णय नहीं देने के लिए यह ही बहाना दिया। फिर, उन्होंने मामले को फास्ट-ट्रैक एडमिशन स्टेज से मोशन हियरिंग स्टेज में स्थानांतरित कर दिया, जहां पहले से ही लगी मामलों के कतार में अपनी बारी का इंतजार करना पड़ा। भले ही मामला अंततः संगठन के पक्ष में तय हुआ था पर ऐसे होने में 10 साल लग गए। यह सरकार की आदिवासी विरोधी स्थिति की असलियत है, हालांकि कागज पर, सरकार उनकी देखभाल के लिए कटिबद्ध है।

1999 में, पूरे पश्चिमी मध्य प्रदेश में अपर्याप्त वर्षा हुई थी। जबकि बड़वानी और झाबुआ जिलों की कुछ तहसीलों को आधिकारिक तौर पर सूखा प्रभावित घोषित किया गया था, अन्य जगहों को ऐसा

नहीं किया गया था। यहां तक कि जिन दो जिलों को सूखा प्रभावित घोषित किया गया था, उनके लिए केवल तीन से चार करोड़ रुपये के बीच राशि राहत-कार्य के लिए स्वीकृत की गई थी। क्षेत्र के बाकी हिस्सों को यह भी नहीं मिला। आदिवासी मोर्चा संगठन सहित क्षेत्र के सभी आदिवासी जन संगठनों ने पर्याप्त राहत के लिए सरकार पर दबाव बनाने बड़े पैमाने पर अभियान चलाया। मिट्टी और जल संरक्षण की योजनाओं को लोगों द्वारा तैयार किया गया और ग्राम सभाओं द्वारा अनुमोदित किया गया। इन्हें कार्रवाई के लिए प्रशासन को भेज दिया गया। इसके बाद, जुलूस निकाले गए, धरने दिये गए और सड़कों को अवरुद्ध किया गया।

पर्याप्त राहत देने में सरकार की विफलता के कारण अधिक से अधिक आदिवासियों को काम के लिए दूर स्थानों की ओर पलायन करना पड़ा। पूरा पश्चिमी भारतीय क्षेत्र 1999 में सूखे की मार से कराह रहा था। इसलिए आम तौर पर आदिवासियों को काम मुहैया करने वाले स्थानों, जैसे इंदौर जैसे शहरों और मालवा पठार और गुजरात के सघन रूप से खेती वाले क्षेत्रों में काम कम था। उपलब्ध कार्यों की कमी और प्रवासी श्रमिकों की बढ़ती संख्या ने इस क्षेत्र में कम वेतन को निर्वाह स्तर से कम कर दिया। नतीजतन, साहूकारों के पास जाने के अलावा आदिवासियों के पास और कोई चारा नहीँ था। इस तरह से उन पर ब्याज दरों का बोझ प्रति माह 10% तक बढ़ गया था।

स्थिति की समीक्षा करने वाले आदिवासी जन संगठनों ने पाया कि एकमात्र तरीका था कि सरकार साहूकारों के खिलाफ विभिन्न कानूनों के तहत कार्रवाई करें। चूंकि साहूकारों की राजनीतिक ताकत को देखते हुए यह संभव नहीं था, इसलिए संगठनों ने एक जन आंदोलन शुरू करने के लिए निश्चय किया। इस नया आंदोलन को पहले से प्राकृतिक संसाधनों तक पहुंच और नियंत्रण के लिए चल रहे अन्य अभियानों के साथ चालानया था। लगातार सूखे की स्थिति को देखते हुए, इन संसाधनों पर दबाव कई गुना बढ़ गया था। इसलिए राज्य के साथ उनके उचित उपयोग को लेकर टकराव हो रहा था। उदयनगर क्षेत्र में, ग्राम सभाओं ने वन विभाग द्वारा लकड़ियों की कटाई को रोक दिया, यह कहते हुए कि अगर सरकार के पास इस संकट से निपटने के लिए संसाधन नहीं है, तो क्षेत्र के संसाधनों को बाहर निकालने का भी सरकार को कोई अधिकार नहीं है।

यह स्थिति सरकार के लिए बहुत ज्यादा था और मुख्य सचिव की अध्यक्षता में एक उच्च स्तरीय बैठक 17 फरवरी, 2001 को राज्य की राजधानी भोपाल में आयोजित की गई थी। बैठक में "ऑपरेशन क्लीन" की योजना बनायी गई। इस बैठक में यह स्वीकार किया गया कि विकास की कमी और सरकारी सेवाओं में भ्रष्टाचार के कारण क्षेत्र के आदिवासियों में असंतोष बढ़ गया था, जो बड़े पैमाने पर संगठित विरोध प्रदर्शनों से प्रकट हो रहा था। हालांकि, यह स्पष्ट रूप से कहा गया था कि राज्यतंत्र की ताकत को इस तरह के विरोध प्रदर्शनों से कमजोर होने की अनुमति नहीं दी जा सकती है भले ही वे वैध कारणों से प्रेरित हों। बैठक में निर्णय लिया गया कि संगठन को कुचलने के लिए बल प्रयोग किया जाएगा। सरकार ने प्रशासन को पूर्ण समर्थन का वचन दिया।

प्रशासन अपनी अमानवीय कार्यवाही को ढंकने के प्रयासों में लगा हुआ था। इसने पहले इस दावे के साथ अपने कार्यों की अवैधता को दूर करने की कोशिश की कि आदिवासियों ने राज्य के खिलाफ

युद्ध छेड़ने की योजना बनाई थी और सरकारी बल को विस्फोटकों द्वारा उड़ाने के प्रयास किए थे। जब ये आरोप झूठे साबित हुए तो कहा गया कि आदिवासियों के जंगलों को नष्ट कर दिया है और इसलिए ऑपरेशन को अंजाम देना पड़ा, जब वास्तव में आदिवासियों ने वन विभाग द्वारा पेड़ों की कटाई को रोक दिया था। प्रशासन द्वारा किए गए अत्याचार की कोई आधिकारिक न्यायिक जाँच नहीं की गई। इसके बजाय, एक प्रशासनिक जांच की गई, जिसने जिला प्रशासन को यह कहते हुए दोषमुक्त बताया कि चूंकि इसे क्षेत्र को "साफ" करने का उच्च स्तरीय आदेश दिया गया था, इसलिए इस तरह के कठोर उपायों को अपनाने के अलावा उसके पास कोई विकल्प नहीं था।

आदिवासियों का एक संगठन पर, जो देश के कानूनों द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर काम कर रहा था, पहली बार राज्य के खिलाफ युद्ध छेड़ने का गलत आरोप लगाया गया। इसके बाद अचानक गुप्त सशस्त्र ऑपरेशन के माध्यम से इस संगठन को कुचल दिया गया। संगठन को कभी भी इसके खिलाफ लाए गए झूठे आरोपों का खंडन करने का मौका नहीं दिया गया। बल्कि राज्य के सर्वोच्च स्तर पर इन अवैध कार्यों को मंजूरी दी गई। मानव अधिकारों के सार्वभौम घोषणा की प्रस्तावना, जिसमें भारत सरकार एक हस्ताक्षरकर्ता है, कहता है - "... यह आवश्यक है कि मानवाधिकारों को कानून के शासन द्वारा संरक्षित किया जाना चाहिए ताकि अंतिम उपाय के रूप में मनुष्य को अत्याचार और उत्पीड़न के खिलाफ विद्रोह करने पर मजबूर होना न पड़े"। फिर भी इसके विपरीत सभी राजनेताओं, नौकरशाहों, पुलिस और स्थानीय न्यायपालिका ने मेहेन्दीखेड़ा में कानून के शासन के व्यापक उल्लंघन को सुगम बनाया। कोई आश्चर्य नहीं कि आजाद भारत में पूरे देश में कार्यान्वित किया जा रहा विभिन्न खनन, बांध और औद्योगीकरण परियोजनाओं के खिलाफ आदिवासी लगातार विद्रोह करते रहे हैं चाहे उन्हें कितने भी बल का सामना करना पड़े।

भारत में कानूनी तौर पर नस्लवाद नहीं है जो एक समय रंगभेद के दौर में दक्षिण अफ्रीका में था। पर दुःखद वास्तविकता यह है कि उन गरीब आदिवासियों को, जिन्हें उनके लिए पारित सकारात्मक प्रावधानों, कानूनों और नीतियों का कोई लाभ नहीं मिला है और इसके बजाय उन्हें आधुनिक औद्योगिक विकास की विशाल पर्यावरणीय, आर्थिक और सामाजिक लागतों को वहन करने के लिए मजबूर किया गया है, वे गैर-आदिवासियों द्वारा नस्लवादी शोषण का शिकार है। इस देश के शासन व्यवस्था के बारे में क्या कहा जा सकता है जिसमें उच्चतम स्तर पर भी आदिवासियों की इन दयनीय परिस्थितियों के लिए कोई समझ या सहानुभूति नहीं है? जब आदिवासियों द्वारा अपने सीमांतीकरण के विरोध को राज्य के लिए एक गंभीर खतरा मानकर उसे "ऑपरेशन क्लीन" के माध्यम से साफ कर दिया जाना मुनासिब समझा जाता है, तो केवल यह करूं गीत गाया जा सकता है कि - "रोते हुए आंसुओं की आरती उतार दो"।

मेहेन्दीखेड़ा का नाम मेहेन्दी के पौधों से लिया गया है जिसे शुभ अवसरों पर महिलाओं की हथेलियों को सजाने के लिए उपयोग किया जाता है। इस गाँव के एक खेत में स्थित बड़े आम के पेड़ों ने इस गाँव को संगठन के शुरुआती दिनों में इसे बैठकों और कार्यशालाओं के लिए पसंदीदा स्थान बना दिया था। 2 अप्रैल 2001 के उस घातक दिन, हालांकि, यह मध्य भारतीय आदिवासियों द्वारा दो दशक से

अधिक समय से बड़े पैमाने पर जारी जन आंदोलनों के खूनी और दुखद चरमोत्कर्ष का स्थल बन गया। मैं अब उस संघर्ष का विस्तार से वर्णन करूंगा। लेकिन पहले, लेखक हरमन मेलविल के अलौकिक उपन्यास मोबी डिक का चरित्र इश्माएल की तरह, मैं कहानीकार के रूप में अपनी साख स्थापित करूंगा। हालांकि, इश्माएल की कहानी में प्रकृति के रूपक सफेद व्हेल मोबी डिक आधुनिक मनुष्य के प्रचंड लालच के रूपक क्रूर और भयावह कैप्टन अहाब पर विजयी होता है, मेरी इस कहानी में कई गुना अधिक आधुनिक तकनीकों से लैस अहाबों ने अन्यायपूर्ण और विनाशकारी आधुनिक विकास के ताबूत में कील ठोंकने के हमारे प्रयासों को विफल कर दिया है। फिर भी, इस देश में वंचित लोग अपनी आजीविका और प्रकृति को बचाने के लिए संघर्ष मुस्तैदी से जारी रखे हुए हैं। इन संघर्षों के एक साधारण सैनिक के रूप में मैं इस कहानी को प्रस्तुत कर रहा हूँ।

अध्याय 2 – ज़िंदगी की दिशा की खोज

पश्चिम बंगाल के खड़गपुर में हमारे छात्रावास के तीसरे तल के कमरों के सामने खड़े होकर एक दोस्त और मैं एक गर्मी की शाम हवा के झोंकों का आनंद लेते हुए बतिया रहे थे। हम एक स्वतंत्र कैंपस पत्रिका के अगले अंक के प्रकाशन पर विचार कर रहे थे, जिसे उस समय मेरा मित्र प्रकाशित करता था। वर्ष 1983 था, और मैं भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (भा.प्र.सं.), खड़गपुर में मेरी सिविल इंजीनियरिंग की पढ़ाई का अंतिम वर्ष में था।

उस समय, अंदरूनी ग्रामीण इलाकों से खड़गपुर शहर तक का सड़क भा.प्र.सं. परिसर के अंदर से इसे दो भागों में विभाजित कर गुजरती थी। सड़क के एक तरफ प्रशासनिक भवन और शैक्षणिक विभाग थे जबकि दूसरी तरफ छात्रावास, मनोरंजन केंद्र, बाजार और आवास थे। जिस छात्रावास में मैं रहा करता था, वह इस सड़क के किनारे पहला था और उसके सामने एक बड़ा खुला मैदान था। उस शाम हमने देखा कि चावल के भूसे से लदा बैलगाड़ियों का एक कारवां धीरे-धीरे उस मैदान पर आकार खड़ा हो गया।

इससे पहले भी मैंने देखा था कि ये कारवाँ गुरुवार की शाम को मैदान पर रात बिताने और अगली सुबह निकलने के लिए आते हैं। मैंने थोड़ा उत्सुकता महसूस किया और अपने दोस्त से पूछा कि क्या वह इन गाड़ी चालकों से बात करने के लिए मेरे साथ आने को तैयार है। वह पहले तो अनिच्छुक था, लेकिन जब मैंने उसे बताया कि हमें पत्रिका के लिए कहानी मिल सकती है, तो वह मान गया।

जब हम उनके पास पहुँचे, तब तक गाड़ी चालक अपना खाना खा चुके थे और सोने की तैयारी कर रहे थे। जैसे ही हम उनमें से एक से बात करने लगे वे सब एक साथ आ गए। वे सभी बीस-पच्चीस किलोमीटर दूर सुवर्णरेखा नदी के किनारे बसे गाँवों में रहने वाले आदिवासी थे। वे या तो भूमिहीन थे या सीमांत किसान। वे आजीविका के लिए हर तरह के काम करते थे। इनमें से एक था खड़गपुर शहर में प्रत्येक शुक्रवार को आयोजित होने वाली साप्ताहिक भूसे की नीलामी में बड़े ज़मींदारों के भूसे को लाना। उन्हें इसके लिए प्रति दिन दो रुपये के हिसाब से मजदूरी दिया जाता था।

हमारी बातचीत आगे बढ़ी और हमने चालकों से पूछा कि क्या उन्हें पता है कि उनके सामने की बड़ी इमारतें क्या थीं। उन्होंने नकारात्मक जवाब दिया। मेरे मित्र ने धैर्यपूर्वक उनके सभी प्रश्नों का उत्तर देते हुए उन्हें इन इमारतों की विशेषता बताई।

फिर मैंने उनसे पूछा कि क्या उन्हें लगता है कि उनके बच्चे इन इमारतों में किसी दिन अध्ययन कर सकते हैं। आज भी मैं उस आदिवासी चालक के सूखे चेहरे पर उस दुःख भरी मुस्कुराहट को नहीं भूल सकता हूँ जिसके साथ उसने मुझसे कहा था कि मैं इस प्रकार मजाक न करूं तो अच्छा होगा।

भा.प्र.सं. में मेरी पढ़ाई के चौथे वर्ष से ही मैं भारत के असंख्य गरीब जनता की बेहतरी के लिए उस शिक्षा की उपयोगिकता को लेकर परेशान था। हम में से कुछ छात्रों ने एक विज्ञान शिक्षा समूह का गठन किया था और हम आस-पास के गाँवों में जाते थे और स्कूली बच्चों को विज्ञान और गणित पढ़ाते थे। उनकी ज़िंदगी की दुर्दशा को देखकर मैं सोचने लगा था कि किस प्रकार उनकी आजीविका

में सुधार किया जा सके ताकि वे गरीबी से निजात पा सकें। मुझे उस वक्त यह नहीं समझ आ रहा था कि मुझे जिस तरह की इंजीनियरिंग सिखाई जा रही है उससे मैं इन लोगों के जीवन में कैसे सकारात्मक बदलाव ला सकता हूँ। काफी समय तक मैं इस बात को लेकर असमंजस में रहा कि मुझे भविष्य में क्या करना है।

कलकत्ता में अपनी स्कूली शिक्षा के अंतिम वर्षों में भी मेरी ऐसी ही भावनाएँ थीं। उस समय की कुछ घटनाएं मेरे किशोर मन को हिला दिया था। यह थे 1975 में जयप्रकाश नारायण का सम्पूर्ण क्रांति आंदोलन, जिसने पहली बार संवैधानिक मर्यादाओं में रहते हुए प्रभावी ढंग से देश में क्रियान्वित सीमित संसदीय लोकतंत्र को चुनौती दी थी, उसके बाद इंदिरा गांधी द्वारा नागरिक अधिकारों का हनन करते हुए आंतरिक आपातकाल को लागू करना और फिर 1977 में जनता पार्टी की ऐतिहासिक चुनावी जीत। मैं पैदल स्कूल जाता था और एक दिन सड़क पर भिखारियों ने मेरा ध्यान आकर्षित किया। मैं उनकी असुरक्षित और बेकार जीवन के बारे में सोचने लगा। फिर मैंने हमारे घरेलू नौकरों की ज़िंदगी के बारे में भी सोचने लगा। वे सभी पास के ग्रामीण इलाकों से थे, लेकिन शहर की झुग्गियों में रहने के लिए मजबूर थे। उनका जीवन भी पूरी तरह असुरक्षित था। मैंने इसे अन्यायपूर्ण पाया कि इतने सारे लोगों को इस तरह के दयनीय अस्तित्व को जीना पड़ रहा था। उस समय सेंट पॉल चर्च के पादरी हर शुक्रवार को हमें प्रवचन देने के लिए हमारे स्कूल आते थे और उनके द्वारा किया जा रहा समाज कार्य का विवरण देते थे। मैंने उन के साथ कई बार उनके क्षेत्र में जाकर कुछ काम किया था।

मेरी स्कूली शिक्षा के अंत में भविष्य के बारे में मेरी कोई योजना नहीं थी। चूंकि मेरी कक्षा में सभी बेहतर पढ़ाई करने वाले छात्र भा.प्र.सं. की प्रवेश परीक्षा दे रहे थे तो मैंने भी ऐसा किया। 1978 में, न तो कोई कोचिंग क्लासेस थे और न ही अब के जैसे गलाकाट प्रतिस्पर्धा इसलिए अनायास ही मैं परीक्षा उत्तीर्ण हो गया।

इस प्रकार, एक इंजीनियर या प्रबंधक बनने की कोई इच्छा के कारण नहीं बल्कि ऐसे ही अन्य बच्चों के साथ प्रवाह में मैं भा.प्र.सं. में दाखिल हुआ। संस्थान में शामिल होने के बाद शुरुआती वर्षों में मैं गरीबों की दुर्दशा के बारे में भूल गया। मैंने अपने जीवन में पहली बार छात्रावास का जीवन की स्वतंत्रता और मस्ती का मज़ा लिया।

लेकिन तीन साल बाद आधिकारिक वयस्कता की दहलीज पर (मतदान की न्यूनतम उम्र उस समय इक्कीस थी) मुझे आखिरकार यह तय करना था कि मैं अपने आगे के जीवन में क्या करना चाहता हूं। गरीबों के बारे में मेरी पुरानी चिंताएं और उनकी असुरक्षित आजीविका मुझे फिर से परेशान करने लगा।

उस आदिवासी बैल गाड़ी चालक के जवाब ने मुझे अंदर तक झकझोड़ दिया था। मैंने सोचा इस तरह के उच्च-गुणवत्ता वाले संस्थानों की उपयोगिता क्या है अगर आजादी के छत्तीस साल बाद भी इसके स्नातक एक ऐसा भारत नहीं बना पाए जिसमें गरीब से गरीब व्यक्ति भी बड़ा से बड़ा सपना देखने की हिम्मत कर सके?

भा.प्र.सं. के छात्र राष्ट्र को दूध की तरह कल्पना कर अपने आप को उसकी मलाई समझते थे। उन गाड़ी चालकों को मुक्त आकाश के नीचे छोड़कर जब हम अपने छात्रावास के कमरों में वापस आ गए, तब मैंने अपने दोस्त को मजाक में कहा कि हम राष्ट्र की मलाई जरूर हैं लेकिन मक्खन बनने के बजाय हम सड़ गए है। उस आदिवासी बैल गाड़ी चालक ने मुझे अपनी जीवन की दिशा खोजने में मदद की। मैंने फैसला किया कि मैं अपने जीवन के बाकी समय आदिवासियों की मदद के लिए समर्पित करूँगा।

पर इस दिशा में अग्रसर होना आसान नहीँ था। मैंने अपनी निर्णय को साकार करने के लिए पढ़ने का फैसला किया। भा.प्र.सं. खड़गपुर का पुस्तकालय में उत्कृष्ट मानविकी, दर्शन और सामाजिक विज्ञान की पुस्तकें थी। अपनी तीसरे वर्ष की पढ़ाई में मुझे समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र के कुछ अच्छे शिक्षक मिलें और उनके प्रोत्साहन से मैं दर्शनशास्त्र और सामाजिक परिवर्तन की किताबें पढ़ना शुरू कर दिया। मैंने अपने दिमाग में उत्पन्न सवालों के जवाब को खोजने के लिए वामपंथ से दक्षिणपंथ तक की पुस्तकों को पढ़ी।

क्योंकि मैं बंगाल का था, जो स्वतंत्रता-पूर्व के दिनों से साम्यवादी गतिविधियों का गढ़ रहा है, इसलिए मैं मार्क्सवाद से प्रभावित था। 1970 के दशक की शुरुआत से, जब मैं अपनी किशोरावस्था में स्वतंत्र राजनीतिक सोच रखने में सक्षम हो गया था, तब मैं क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन के विचार से आकर्षित हुआ था। यानि गरीब जनता को संगठित कर सशस्त्र संघर्ष के माध्यम से राज्य सत्ता पर कब्ज़ा करने का मार्क्सवादी सिद्धांत और व्यवहार।

यह विचार विशेष रूप से आकर्षक है क्योंकि यह कहता है कि क्रांति अनिवार्य है। मानव जाति का इतिहास, मार्क्स के अनुसार, वर्ग संघर्षों का रहा है। मानव विकास में उत्पादन के साधनों में सुधार के कारण उत्पादकता में वृद्धि होती है और नए वर्गों का निर्माण होता है। इस विकास में एक समय ऐसा आता है जब ने वर्ग अपनी ताकत के बारे में सचेत होकर सत्ता छीन लेता है और एक नई समाज व्यवस्था बनाते है। मार्क्स के अनुसार, इतिहास का इस नियम के परिणाम स्वरूप अंततः आधुनिक श्रमिक वर्ग, जिसे सर्वहारा वर्ग कहा जाता है, पूंजीवाद को सशस्त्र क्रांति के माध्यम से उखाड़ फेंकेगा और एक नई समाजवादी व्यवस्था को लाएगा। सभी को बस इतना करना है कि सर्वहारा वर्ग को अपनी शक्ति के प्रति जागरूक करें ताकि वे क्रांति ला सके। 1970 के दशक में बंगाल का राजनीतिक माहौल बहुत क्रांतिकारी था। हालांकि माओवादी झुकाव वाले कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (मार्क्सवादी लेनिनवादी) या सीपीआई(एमएल) के तत्वावधान में घटित 1960 के दशक के उत्तरार्ध का नक्सली विद्रोह को कुचल दिया गया था, फिर भी इसका प्रभाव बरकरार था।

मेरे नाना के सबसे छोटे भाई, जो मेरे पिता से थोड़े बड़े थे, नक्सलियों में शामिल होकर भूमिगत हो गए थे। बाद में उसे पुलिस द्वारा पकड़ लिया गया और उसे यातनाएं दी गईं। कोलकाता में मैं जिस गली में रहता था वहां नक्सली संघर्ष के गहमागहमी में एक युवक गायब हो गया था। 1978 में पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चा सरकार बनने के बाद ही वह वापस आया।

पर जब तक मैं स्कूली शिक्षा पूरी कर युवा बना तब तक भारी राज्य दमन ने यह सुनिश्चित कर दिया था कि नक्सली आंदोलन अप्रभावी हो गया था। इसके बदले, पश्चिम बंगाल के विधान सभा चुनावों में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) या सीपीआई (एम) के नेतृत्व वाले संसदीय वामपंथी दलों के चुनावी मोर्चे की जबरदस्त जीत के बाद "ऑपरेशन बर्गा" की शुरुआत हुई थी। भाग कृषकों को उनके द्वारा जोती जा रही जमींदारों की जमीन या बर्गा पर हक देने का कार्यक्रम प्रारंभ किया गया था। नतीजतन, 1980 के दशक के शुरुआती दौर में जब मैं तरह तरह के राजनीतिक सवालों से परेशान था तब मार्गदर्शन के लिए मुझे कोई भी क्रांतिकारी पार्टी नहीं मिली।

इसलिए मैंने अहिंसक प्रतिरोध और ग्रामीण पुनर्निर्माण के माध्यम से मोहनदास करमचंद गांधी के विचारों को पढ़ने का फैसला किया, जो कि वे अपनी पुस्तक "हिंद स्वराज" में वर्णित किए थे। साथ ही मैंने उपनिषद के दर्शन को भी पढ़ा जो गांधीवादी विचार और कार्रवाई का आधार हैं।

इस समय मैंने आदिवासियों के उत्पीड़न पर गोविंद निहलानी की दिल को छूने वाली फिल्म 'आक्रोश' देखी। फिल्म में एक आदर्शवादी युवा वकील है, जिसने एक गरीब आदिवासी आदमी, जिस पर अपनी पत्नी की हत्या का झूठा आरोप लगाया गया था, को यह सच बताने के लिए प्रेरित कर रहा था कि उसकी पत्नी वास्तव में एक रुतबेदार आदमी द्वारा बलात्कार और हत्या कर दी गई थी। कुर्ता और पायजामा की पारंपरिक गांधीवादी पोशाक में एक कार्यकर्ता चरित्र इस वकील को कहता है कि वह गरीबों के उत्पीड़न की वास्तविकता को समझ नहीं सकता जो अन्याय के खिलाफ उनके होंठों को सी कर रखा है। पर फिर भी इस कार्यकर्ता ने उस आदिवासी आदमी को सच बोलने के लिए पूरी कोशिश की और ऐसा करने पर कुछ गुंडों द्वारा उसे मार दिया गया।

यह फिल्म ने मुझ पर गहरी छाप छोड़ी और मैं सिनेमा हॉल से बाहर निकल कर उस कार्यकर्ता का अनुकरण करने की सोच बनाया। इस फिल्म को देखने के कुछ ही समय बाद, मैंने अर्नेस्ट हेमिंग्वे की उत्कृष्ट कृति, “फॉर हूम द बेल टोल्स”, को पढ़ी। उस उपन्यास का मुख्य चरित्र अमेरिकी योद्धा रॉबर्ट जॉर्डन ने मुझे बहुत प्रभावित किया। जॉर्डन 1930 के दशक के उत्तरार्ध के स्पेनिश गृह युद्ध में फासीवादी लाइनों के पीछे एक खतरनाक सैन्य कार्यवाही में लगा हुआ था। इस चरित्र के लिए मेरा बहुत सम्मान इसलिए है कि वह विचारधारा और युद्ध के परिणाम के बारे में अस्पष्ट होने के बावजूद न्याय के लिए लढाई में अपनी जान दे दी। इस समय तक मेरी पढ़ाई ने मेरी समझ को काफी हद तक परिपक्व कर दिया था कि चाहे मार्क्सवादी हो या गांधीवादी, प्रगतिशील सामाजिक परिवर्तन का काम बहुत कठिन है और इसमें सफलता हासिल करना दुरूह है। फिर भी मैं विद्रोही बनने के लिए तरसने लगा। उर्दू भाषा में गाये जाने वाले एक प्रसिद्ध ग़ज़ल या गीत के शब्दों में -

ऐ मेरी जान-ए-ग़ज़ल
चल मेरे साथ ही चल
इन समाजों के बनाए हुए बंधन से निकल
कब बदल है ज़माना तू यह जमाने को बदल

इसलिए जब मेरे अन्य सहपाठी भारतीय प्रबंधन संस्थान और अमेरिकी विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने या नौकरी जुटाने की कोशिश में व्यस्त थे तब मैं क्रांति की संभावनाओं की तलाश में इधर-उधर भटक रहा था! मेरे पिता को इस समय तक मेरी सोच का आभास हो गया था और उन्होंने मुझ पर दबाव बनाना शुरू कर दिया था कि मैं इस सब नया करूं। बंगाली में एक कहावत है कि घर का खाना खाकर जंगल में शेर को मारने जाना यानि स्वैच्छिक सामाजिक परिवर्तन का प्रयास निरर्थक है! मेरे पिता अक्सर इसे दोहराते थे और मुझे इस देश छोड़ने और अमेरिका में जाने के लिए प्रेरित करते थे।

मेरे पिता के विरोध का परिणाम यह था कि मैंने प्रशिक्षु इंजीनियर के रूप में राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड में नौकरी करने का फैसला किया। गुजरात में खेड़ा जिला दुग्ध विपणन संघ द्वारा लाए गए सहकारी डेयरी के माध्यम से दूध के उत्पादन में "श्वेत क्रांति" और किसानों के जीवन में बेहतरी पर मैंने जो साहित्य पढ़ा था उससे प्रभावित होकर मैंने यह फैसला लिया।

1983 में एक दिन जब मैं नौकरी शुरू करने के लिए कोलकाता के राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड कार्यालय गया तब मैं कुर्ता, पायजामा और चप्पल पहने हुए गांधीवादी पोशाक में था। वहां के अधिकारी ने मुझे देखकर पहली बात यह कही कि मैं ठीक कपड़े नहीं पहना हूँ। इससे मुझे गुस्सा आया और मैंने कहा कि मैं अपनी राष्ट्रीय पोशाक में हूँ और अधिकारी इसके बारे में अपमानजनक टिप्पणी कैसे कर सकते है। इससे झगड़ा हो गया और मुझे अधिकारी ने उसके कार्यालय से निकल जाने को कहा। अधिकारी के कार्यालय के बाहर, सभी बाबू एक बड़े हॉल में फाइलों के साथ भरी हुई अपनी मेज के सामने बैठे थे। मुझे लगा कि मैं भी ऐसे जंजाल में फंस जाऊंगा और इसलिए अपने पिता को एक पत्र लिखते हुए कि मैं अपने सपनों को पूरा करने के लिए निकल रहा हूं, मैंने बिहार के संथाल परगना में चला गया, जहाँ सीपीआई(एमएल) के एक धरे के मेरे कुछ परिचित युवा आदिवासियों के बीच काम कर रहे थे।

जल्द ही, हालांकि, मुझे अपने सहकर्मियों के कट्टरपन के कारण असहज महसूस हुआ और वे मेरे उनके तौर तरीकों पर प्रश्न करने पर चिड़ने लगे। वे इस पुराने पद गए माओवादी विसलेषण को त्यागने को तैयार नहीं थे कि भारतीय राज्य अर्द्ध-सामंती और अर्ध-औपनिवेशिक है। माओ ज़ी डोंग ने 1920 के दशक के अंत में चीनी राज्य का चरित्र इस प्रकार विसलेशित किया था। न केवल इस तरह के अव्यावहारिक विसलेषण के कारण नक्सली आंदोलन का विघटन हुआ था बल्कि यह हमारे आसपास के गरीब संथालों के ज्वलंत समस्याओं को दूर करने में मदद नहीं कर रहा था। मैंने महसूस किया कि मार्क्सवाद एक जीवंत विचारधारा है और स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल इसे ढाल कर ही आगे राज्य व्यवस्था को चुनौती देने के लिए एक बड़ा कार्यक्रम बनाया जा सकता है।

मैंने जितना अध्ययन किया उतनी ही मेरी असंतुष्टी बढ़ती गई। सामाजिक परिवर्तन पर बहुत कुछ लिखा जा चुका था लेकिन अंततः बहुत कम हासिल हुआ था। मार्क्स और एंगेल्स की प्रेरणादायक भविष्यवाणियों में से एक यह था कि भले ही आधुनिक राज्य एक आवश्यक बुराई थी, जो सर्वहारा क्रांति के बाद भी अंतरिम रूप से जारी रहेगी क्रांतिकारी पार्टी के नियंत्रण में, पर अंत में यह खत्म हो जाएगा। जैसे-जैसे समाज की उत्पादक शक्तियाँ बढ़ेगी और पूँजीपति वर्ग पूरी तरह से खत्म हो

जाएगा, वैसे वैसे राज्य व्यवस्था खत्म हो जाएगी। क्योंकि एक आदर्श स्थिति अस्तित्व में आ जाएगी जिसमें "प्रत्येक व्यक्ति से उनकी क्षमता के अनुसार काम लिया जाएगा और प्रत्येक व्यक्ति को उनकी आवश्यकता के अनुसार मानधन दिया जाएगा।" ऐसी स्थिति में राज्य के अनुशासनात्मक बल की कोई आवश्यकता नहीं होगी क्योंकि लोग स्वार्थी व्यक्तिवादी लक्ष्यों से परे एक दूसरे के प्रति अच्छी तरह से व्यवहार कारेंगें। वास्तव में, हालांकि, परिवर्तन के सभी व्यावहारिक प्रयासों के बावजूद, राज्य व्यवस्था खत्म नहीँ हुआ है और इसके विपरीत समय के साथ मजबूत और मजबूत हो गया है!

मैं खुद काम करने के लिए जमीन पर उतरना चाहता था लेकिन कोई मौका नहीं मिल रहा था। मैंने महसूस किया कि अधिक अध्ययन और लेखन का कोई मतलब नहीं था, क्योंकि लगभग हर संभव विचार पहले ही लिखी जा चुकी थी। सामाजिक बदलाव के लिए मुख्य समस्या पर्याप्त अभ्यास की कमी थी। विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत अधिक सघन काम की आवश्यकता थी।

मुझे यह भी लगा की अपनी सीमाओं के बावजूद भारतीय संविधान, विशेष रूप से उसमें आदिवासियों के लिए दिए गए सुरक्षात्मक प्रावधानों के साथ, संगठनात्मक काम के लिए एक कानूनी आधार प्रदान करता है जिसका पर्याप्त उपयोग नहीं किया गया था। मार्क्सवाद की चुनौती की प्रतिक्रिया में पूँजीवादी उदारवादी लोकतंत्र कुछ हद तक जन-उन्मुख हो गया है। भले ही संविधान में ब्रिटिश काल से विरासत में प्राप्त शासन के औपनिवेशिक दमनकारी चरित्र को बनाए रखा है फिर भी इसके कुछ जन पक्षीय पहलू है जिनका फायदा उठाया जा सकता है।

सोवियत संघ और चीन में जिस तरह मार्क्सवादी लोकतांत्रिक आदर्शों से दूर क्रांति के पश्चात राज्यों को जनविरोधी बना दिया गया था, उससे मेरा मोहभंग हो गया था। इसलिए मैं राज्य के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष में उतरने के बजाय उदारवादी लोकतांत्रिक तरीकों से न्याय और समानता लाने में अधिक विश्वास रखने लगा।

इसी बीच एक अप्रत्याशित स्रोत से मुझे जमीनी काम करने का मौका मिला।

अध्याय 3 – संघर्ष के साथी

एक दिन मैं एक दोस्त के यहाँ गया पर वह कहीं बाहर गया हुआ था। उसकी प्रतीक्षा करते हुए मैं रीडर्स डाइजेस्ट पत्रिका के एक अंक को पढ़ने लगा। इसमें राजस्थान के तिलोनिया गाँव में सोशल वर्क एंड रिसर्च सेंटर, जिसका आजकल बेयरफुट कॉलेज (https://www.barefootcollege.org/) नाम हो गया है, द्वारा किए जा रहे ग्रामीण विकास के काम पर एक लेख पढ़ने में आया।

यह पहली बार था जब मैं एक गैर-सरकारी सामाजिक सेवा संगठन के बारे में पढ़ा था, जिसके द्वारा सामूहिक भागीदारी के साथ ग्रामीण विकास के लिए काम किया जा रहा था। मैंने उन को लिखा कि मैं अपनी सेवाएं प्रदान करना चाहता हूँ। उनसे एक सकारात्मक प्रतिक्रिया जल्द ही आई और मैं तिलोनिया के लिए रवाना हो गया।

1985 की गर्मियों में जब मैं तिलोनिया पहुँचा, तो खेमराज चौधरी पहला व्यक्ति था जिससे मैं वहाँ मिला। उन्होंने मुझे बताया कि वह चित्तौड़ जिले के एक जाट किसान परिवार से हैं और पहली पीढ़ी के है जो पढ़ा लिखा है। कॉलेज में पढ़ने के दौरान वे छात्र राजनीति में शामिल हो गए और एक प्रगतिशील छात्र संघ के सदस्य बन गए। एक मित्र ने उन्हें तिलोनिया के बारे में बताया, जिसे सुनकर वह वहाँ काम करने आ गए। उन्होंने महसूस किया कि ग्रामीण विकास कार्य की एक सीमा है, चाहे कोई भी इसे सहभागी बनाने का कितना भी प्रयास करे। इसलिए उसका कहना था कि गरीबों को सत्ता से वंचित रखने वाले दमनकारी सामाजिक-आर्थिक ढाँचों पर सीधा हमला आवश्यक है।

यह मुझे पहले से ही पता था। लेकिन, मुझे यह दिलचस्प लगा कि खेमराज करीब ढाई साल पहले तिलोनिया छोड़कर मध्य प्रदेश के अलीराजपुर जिले चले गए थे। वहाँ उन्होंने अपने अधिकारों के लिए लड़ने भील आदिवासियों को संगठित करने का प्रयास किया और कुछ जमीनी स्तर पर सफलतायें भी हासिल की। मैंने खेमराज से पूछा कि क्या मैं उससे जुड़ सकता हूं। उन्होंने गर्मजोशी से हाँ में जवाब दिया जिसकी याद मुझे इतने सालों बाद भी उत्साहित करती है।

मैंने अपना सामान समेटा और अलीराजपुर में खेमराज और भील आदिवासियों के साथ काम करने के लिए रवाना हुआ। मुझे लगा कि आखिरकार मैंने अपने जीवन की दिशा तय कर पाया हूँ। लगभग एक दशक तक मैं अलीराजपुर में भीलों के बीच रहा। ये मेरे जीवन के सबसे अच्छे समय हैं। इसकी शुरूआत तब हुई जब मैं मेरे सहयोगी और गहरे दोस्त खेमला, जो दुर्भाग्य से अब और इस दुनिया में नहीं है, से पहली बार मिला। उस समय वह अपने गाँव बड़ी वैगलगाँव गाँव में अपनी छोटी सी झोपड़ी में रहता था। खेमला, जो पांच भाइयों में से केवल अकेला था जो स्कूल गया था, एक पैदाइशी विद्रोही थे।

परंपरागत रूप से भील आदिवासी अपने बच्चों को मवेशियों को चराने में लगाते हैं। एक बार जब वे किशोरावस्था में पहुंच जाते हैं तो उनकी शादी हो जाती है और खेत के काम के लिए वह तैयार हो जाते हैं। आश्चर्य की बात नहीं कि वे अत्यधिक प्रजनन करते हैं। ऊपर से औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक राज्यों और गैर-आदिवासियों के शोषण के कारण भूमि, जल स्रोतों और जंगलों की

उपलब्धता आदिवासियों के लिए काम होती गई। 1970 के दशक की शुरुआत में जब वे स्कूल जाने की उम्र में थे तब खेमला का परिवार विकट गरीबी की परिस्थितियों में जी रहा था। यह देखते हुए कि उनके सभी बेटों को पालने के लिए उनकी पुश्तैनी जमीन पर्याप्त नहीं थी, उनके पिता ने खेमला स्कूल भेजने का फैसला किया।

सरकार ने आदिवासी बच्चों के लिए एक आवासीय स्कूल प्रणाली शुरू की थी क्योंकि बच्चे स्कूल से भाग जाते थे। खेमला पास के साप्ताहिक बाजार का गांव उमराली में स्थित एक ऐसे छात्रावासी स्कूल में कक्षा छह में पढ़ने के लिए गया था। दुर्भाग्य से, भ्रष्टाचार के कारण अधीक्षक द्वारा छात्रावास में बच्चों को घटिया भोजन खिलाया जाता था। खेमला ने इसका विरोध किया। जब छात्रावास के अधीक्षक ने उसे पीटा, तो खेमला ने भी उसे पीटा और बुरी तरह जखमी कर दिया। वह ही खेमला के लिए स्कूली शिक्षा का अंत था।

एक बार जब वह घर लौट आया, तो उसने शादी कर ली। लेकिन उसमें सुलग रही विद्रोह की आग नहीं बुझी। वह भीलों की पारंपरिक चिकित्सा में भी दक्षता हासिल की थी और इसके कारण वे दूर-दूर के ग्रामीणों में अत्यधिक सम्माननीय था। वे विविध व्याधियों के लिए जड़ी बूटी का प्रभावी इलाज करता था। उस समय सरकार ने जन स्वास्थ्य रक्षक योजना के नाम से लोगों को प्राथमिक चिकित्सा उपलब्ध कराने के लिए एक नई परियोजना शुरू की थी। शिक्षित होने के साथ-साथ एक "बुड़वा" या पारंपरिक भील चिकित्सक होने के नाते इस परियोजना के लिए खेमला को चुना गया था। उन्हें एक लघु प्रशिक्षण के बाद इस काम में नियुक्त किया गया था। इसने समुदाय के भीतर उनकी प्रतिष्ठा को और अधिक बढ़ा दिया, क्योंकि अब वह सरकारी आदमी थे।

खेमला को गैर आदिवासियों और सरकारी कर्मचारियों द्वारा भीलों का जबरदस्त दमन और उनसे जबरन वसूली से सबसे ज्यादा परेशानी होती थी। उसने पुलिस के व्यवहार को सबसे अधिक दमनकारी पाया। भीलों के पास एक पारंपरिक पंच प्रणाली थी विवादों के समाधान के लिए, जिसमें पीड़ित पक्ष और पूरी पंचायत, जो कि अंतर-ग्राम विवादों के मामले में दस से बारह गांवों के लोगों के रूप में बड़े हो सकते थे, एक साथ बैठते थे और मामलों को सुलझाते थे। हालाँकि, यह पुलिस को पसंद नहीं था क्योंकि इससे उनकी कमाई का जरिया रुक जाता था। इसलिए, उन्होंने इस पारंपरिक व्यवस्था को खत्म करने के लिए गाँव के प्रधानों को धमकाया और लोगों को विवादों को थानों में रिपोर्ट करने के लिए प्रोत्साहित किया। समय के साथ, एक उत्कृष्ट सामुदायिक विवाद निपटारा की व्यवस्था नष्ट हो गई और पुलिस का कुशासन स्थापित हो गया। इस के बाद थानों में पिटाई कर अनपढ़ आदिवासियों से पैसे निकालने का दस्तूर चलन में आया।

खेमला ने इस अत्याचार के खिलाफ एक तरफ से युद्ध शुरू किया। हर बार जब उसने पुलिस को मनमाने ढंग से किसी आदिवासी को गिरफ्तार करते हुए पाया तो वह पुलिस स्टेशन जाकर उसे रिहा करवाता था। यहां तक कि उन्होंने कुछ मौकों पर जिले का मुख्यालय अलीराजपुर में जाकर उप-विभागीय पुलिस अधिकारी को लिखित शिकायतें भी दीं।

उनकी सक्रियता की खबर मध्य प्रदेश विधानसभा के स्थानीय विधायक तक पहुंची, जो खुद एक पटेल थे और पारंपरिक आदिवासी व्यवस्था को तोड़ने के लिए गैर-आदिवासियों द्वारा लालच देकर खरीदे जाने वाले लोगों में से एक थे।

उन्होंने खेमला को अलीराजपुर बुलाया और उससे कहा कि वह अपने मूर्खतापूर्ण तरीकों को छोड़ दे और इसके बजाय उसकी राजनीतिक पार्टी में शामिल हो जाए। विधायक ने खेमला को बताया कि वह पुलिस और अन्य सरकारी कर्मचारियों के साथ सहयोग करके और उनके एजेंट और मुखबिर के रूप में काम करके बहुत कुछ हासिल कर सकता है। अपने आक्रामक शैली में खेमला ने उसे अपने लोगों के साथ गद्दारी करने के लिए कोसा। वह अपने अभियान को जारी रखने के लिए पहले से अधिक दृढ़ होकर लौटा।

जैसे ही वह अपने घर जाने के लिए उमराली में बस से उतरा वैसे ही उसे पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया और थाना ले गया। वहां उसके अंडरवियर को छोड़ बाकी सारे कपड़े उतारकर उसे बुरी तरह से पीटा गया। उसे धमकी दी गई कि वह अपने पुलिस विरोधी मुहिम को त्याग दे। रात को हवालात में बिताने के बाद उन्हें अगले दिन रिहाई मिली। घर जाने के बजाय वह अलीराजपुर वापस चला गया और सीधे जिला कलेक्टर के पास गया और उसे एक लिखित शिकायत दी कि उमरली में पुलिस ने उसके साथ क्या किया था। परिणामस्वरूप खेमल को अत्याचार करनेवाले सहायक उप-निरीक्षक को स्थानांतरित कर दिया गया और उनके खिलाफ एक जांच शुरू की गई। इन घटनाओं ने खेमला को एक किंवदंती बना दिया और वह अकेला ही एक भारी भरकम सेना बन गया।

खेमला बहुत जुगाड़ू था। उन्होंने सरकार की एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम का निरंतर लाभ उठाता था। इस योजना के तहत कुछ आय सृजन गतिविधि शुरू करने के लिए गरीब लोगों को अनुदान युक्त ऋण दिए जाते थे। एक अवसर पर खेमला को दस बकरे और 2,000 रुपये ऋण के रूप में मिले। उसने सोच कि बकरियों को पालने लिए पैसे की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि वे जंगल में चरके आ जाते थे। इसलिए उन्होंने तुरंत तीन तीन सौ रुपये में दो बकरियों को बेच दिया और 2,000 रुपये के ऋण के पैसे के साथ इसे जोड़कर 2,500 रुपये वापस भुगतान कर ऋण मुक्त हो गया।

चूँकि उन्होंने तुरंत अपना ऋण वापस कर दिया, इसलिए वे दूसरे अनुदान के पात्र बन गए। इस बार, उन्होंने इंदिरा आवास योजना के तहत एक झोपड़ी के निर्माण के लिए 6,000 रुपये प्राप्त किए और अपना खुद का घर बनाया। उस समय इस योजना को इस प्रकार बनायी गई थी कि अनुदान केवल उन लोगों के समूह को दिया जाता था जो एक नया बसेरा स्थापित करें। इसलिए खेमला अपने गाँव के छह अन्य लोगों को तैयार किया, एक बंजर पहाड़ी को नया बसेर के लिए मंजूर करवाया और उन सभी के लिए एक साथ पैसा जारी करवाया।

खेमला को मुझे गेंद्रा गाँव ले जाना था जहां खेमराज रहता था। 1985 में एक गर्मी के दिन मैं उमराली में बस से उतर कर खुद को बंजर पहाड़ियों के बीच में पाया और इस लाल परिदृश्य का आनंद लिया। मुझे एक पान बेचने वाले गुमटी पर खेमल के घर तक पहुँचने के दिशा-निर्देश मांगने की सलाह दी गई थी। गुमटी के मालिक ने सलामी दागने के लिए मुट्ठी उठाई और मुझे "जिंदाबाद"

का अभिवादन किया। उसने एक युवा लड़के को बुलाया और उससे कहा कि मुझे खेमला की झोपड़ी में ले जाए।

अपने रास्ते में, मैंने अंखर नदी का रेतीला बिस्तर पार किया और खेतों की सीमाओं पर कंटीले झाड़ियों के बीच अपने युवा मार्गदर्शक के पीछे चलता गया। अंत में, हम उस पहाड़ी के नीचे पहुँचे, जिस पर खेमला की झोपड़ी थी। मेरे युवा गाइड ने उसे चिल्लाया, और हम आखिरी कुछ चट्टानों पर चढ़ गए। हटते कट्टे बदन और गोल चेहरे वाला एक काले रंग का छोटा आदमी उभरा और अभिवादन में अपनी मुट्ठी उठाकर बोला - "ज़िंदाबाद"। मैंने भी वैसे ही जवाब दिया और मेरे अंदर एक रोमांच का सिहरन फाइल गया। आखिरकार मुझे अपना क्रांतिकारी कोना मिल गया था!

झोपड़ी के अंदर, खेमला की पत्नी थी, एक तेज-तर्रार महिला, जो खेमला से पतली और लंबी थी। जैसा कि मैंने बाद में जाना, वह बहुत तेज जुबान की थी! उनकी तीन बेटियाँ थीं, उनमें से एक तो बहुत छोटी थी। वे सभी एक अंधेरी बिना खिड़की वाली झोपड़ी में रहते थे, जिसके दीवारों की उचाई मेरे कंधे तक ही थी।

इन नए परिवेशों में मैंने एक रात बितायी जिसमें मेरे लिए सब से अजूबे कि बात यह थी कि खेमला की दूसरी बेटी एक लोरी गाते हुए अपनी छोटी बहन को एक रस्सी और एक बेड शीट से बनाया हुआ पालने में सुलाने के लिए झुला रही थी। खेमल और मैं अगली सुबह गेंदरा के लिए निकल पड़े।

उमराली से बखतगढ़ तक धूल भरी भूरी कच्ची सड़क थी। स्थानीय लोग मजाक में कहते थे कि मथवार तक की सड़क केवल कागजों पर पक्की थी क्योंकि सड़क के लिए आवंटित धन सरकारी कर्मचारियों, ठेकेदारों और राजनीतिक नेताओं के जीवन को पक्का करने के लिए इस्तेमाल किया गया था।

खेमला और मैं पलवी नामक एक गाँव तक एक टूटीफूटी बस में थोड़ी देर सफर किए। वहाँ से हम नौ किलोमीटर पैदल कुछ पहाड़ियों को चढ़ते उतरते हुए गेंदरा पहुँचे। "जिंदाबाद" के नारों से रास्ते में लोग हमें बीच बीच में अभिवादन करते रहे। आखिरकार हमें गेंदरा के सुरम्य देसी कवेलु वाले प्राथमिक विद्यालय में पहुंचे जिसके एक छोटा कमरा में खेमराज रहता था। खेमराज बाहर आया और मुझे गर्मजोशी से गले लगा लिया। उन्होंने कहा कि वह मुझे देखकर बहुत खुश थे क्योंकि अब वह दावा कर सकते थे कि संगठन में एक व्यक्ति ऐसा है जो वास्तव में मार्क्स के मूल ग्रंथों को पढ़ा है! उन्होंने मुझे एक आदिवासी लड़का शंकर तडवाल से मिलवाया, जिन्होंने अपनी उच्च माध्यमिक परीक्षाएँ हाल ही में उत्तीर्ण की थीं। शंकर ने संगठन के बारे में सुना था और खेमराज से मिलने के लिए गेंदरा आया था। संगठन का काम उन्हें पसंद आया और उन्होंने उससे जुड़ने का फैसला किया। एक अन्य गैर-आदिवासी कार्यकर्ता, अमित भटनागर, उस समय छुट्टी मनाने दिल्ली गए थे।

हमने तुरंत लगभग तीन किलोमीटर दूर के कोसरिया गाँव में एक बड़े तालाब में तैरने के लिए गए। खेमला ने पानी में डुबकी लगाई और खुद के हाथों से छह मछलियों को पकड़ा। वापस लौटकर हमने मछली को धीमी लकड़ी की आग पर पकाया और उन्हें मक्के के आटे से बनी रोटियों के साथ खाया

- ऐसा अनोखा खाना जो मैंने पहले कभी नहीं खाया था। बिजली के अभाव में हमने एक टिमटिमाती लालटेन की रोशनी में रात का भोजन किया। मेरे लिए यह न केवल अनोखा बल्कि बहुत रोमांचक भी था।

रात के खाने के बाद, खेमराज ने एक ट्रांजिस्टर रेडियो चालू किया और इसे बीबीसी हिंदी सर्विस पर लगा दिया। एक शिक्षक जो स्कूल में पढ़ाते थे और दूसरे कमरे में रहते थे, खबर सुनने के लिए हमारे कमरे में आ गए। शाकाहारी होने के नाते उन्होंने हमारे साथ भोजन साझा नहीं किया था। खेमराज ने मुझे बताया कि कैसे, पहले, वे रेडियो को एक अनावश्यक विलासिता मानते थे। लेकिन जब 1984 में प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के सिख अंगरक्षकों द्वारा हत्या कर दी गई थी तब खेमराज को इस घटना के लगभग एक हफ्ते बाद ही इसका पता चला। यही कारण है कि उसने देश से अपना अलगाव को खत्म करने के लिए कम से कम एक रेडियो रखने का फैसला किया।

गेंदरा एक प्यारा सा गाँव है, जो पहाड़ियों की बीच बसा हुआ है। यहां रहने वाले भील आदिवासी अपने खेतों पर अपने घर बनाते हैं। सभी घरों के आसपास जंगल हैं। इन पहाड़ियों के बीच में छोटे-छोटे नाले हैं जो गाँव से होकर बहती हुई मुख्य नदी करा में मिलते हैं।

निजी खेत की पहाड़ियों के आगे बड़ी पहाड़ियों का विस्तार है जिन्हें वन और खेतों के बीच सीमांकन रेखा द्वारा वन विभाग अलग कर रखा है। बहुत पेड़ होने के कारण उमराली के वीरान पहाड़ों के विपरीत यहां घने जंगल के अंदर होने का एहसास होता है। अट्ठा गाँव से कच्ची सड़क गेंदरा होते हुए मथवार गाँव तक जाती है और स्कूल का भवन इस सड़क के किनारे स्थित है।

अगली सुबह खेमला वापस चला गया और खेमराज, शंकर और मैं स्नान करने के लिए नदी में उतर गए। कुछ दिनों से सफर के दौरान नहाने से चूकने के बाद मैं नहाने के लिए उतावला हो रहा था। खेमराज ने कहा कि वह सप्ताह में एक बार नहाते हैं। मैंने मुंह बनाया और कहा कि मुझे हर दिन स्नान करने की आदत है। खेमराज ने मुस्कुराते हुए कहा कि जल्द ही मेरी आदत बदल जाएगी। पानी की अनुपलब्धता और पानी के स्रोत तक पहुँचने के लिए पहाड़ी चढ़ने और उतरने की बाध्यता ने जल्द ही मुझे साप्ताहिक नहीं तो एक सप्ताह में दो बार नहाने पर बाध्य कर दिया।

लेकिन इस तरह की छोटी-मोटी दिक्कतें मुझे परेशान नहीं कर पायी क्योंकि मुझे संगठानात्मक काम करने वाले साथियों और माहौल मिल गए थे। इससे पहले कि हम भीलों के अपनी सीमानतिकरण के विरुद्ध वर्तमान के संगठित संघर्षों के बारे में जाने हमें इतिहास में भीलों के संघर्षों के बारे में जानकारी होनी चाहिए। इसके लिए उनके लड़ाकू इतिहास का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है जिसका इतिहास की प्रचलित पुस्तकों में बहुत कम उल्लेख है।

अध्याय 4 - प्रकृति के अनाथ संतान

भील, भिलाला, बारेला, मानकर, नाइक और पटेलिया अनुसूचित जनजातियाँ एक साथ भीलों के नाम से जाने जाते हैं। गोंड और संथालों के बाद वे भारत में तीसरे सबसे अधिक आबादी वाले आदिवासी समूह हैं। भील राजस्थान, गुजरात, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र राज्यों के एक बड़े क्षेत्र में रहते हैं। उनका उल्लेख ईस्वी तीसरी शताब्दी के प्राचीन हिंदू ग्रंथों में किया गया हैं। मूल रूप से यह लोग सिंध, दक्षिणी राजस्थान और उत्तर-पश्चिमी मध्य प्रदेश में केंद्रित थे। परंपरागत रूप से भील आदिवासी घने जंगलों में खेती, शिकार और फल मूल इकट्ठा करके जीते थे। महामारियों और उनके खेतों की उर्वरता में कमी उन्हें हर कुछ वर्षों में नए स्थानों पर जाने के लिए मजबूर कर देती थी।

पारंपरिक रूप से शारीरिक श्रम पर सम्पूर्ण निर्भरता ने उन्हें अपनी आजीविका और सांस्कृतिक जीवन के अधिकांश पहलुओं में साझा श्रम से विशिष्ट घनिष्ट समुदायों में न्यूनतम स्तर के अस्तित्व जीने के लिए प्रोत्साहित किया। भीलों के समतायुक्त समाज को ऐसे रीति-रिवाजों द्वारा सुनिश्चित किया गया था कि एक निश्चित सीमा से अधिक संचयित अधिशेष को सामुदायिक भोज पर खर्च किया जाना चाहिए। इससे इन अधिशेषों से कृषि और कारीगरी को विकसित करने, व्यापार में निवेश करने और आगे के लिए संचय करने की संभावनाएं समाप्त हो गई। इस प्रकार, इन रिवाजों ने पर्यावरण को अत्यधिक दोहन से बचाने का भी कार्य किया। इसके अलावा व्यापार नहीं करने का मतलब यह था कि भीलों ने पढ़ाई लिखाई और गणित से भी दूर रहे और धरति के करीब बने रहे। उन्होंने एक प्रकृति पूजक संस्कृति विकसित की।

प्रकृति अपने अस्तित्व के लिए महत्वपूर्ण होने के कारण भीलों ने दूसरों के द्वारा उनके क्षेत्र में अतिक्रमण करने के प्रयासों की दृढ़ता से विरोधिता की। ऐतिहासिक साक्ष्यों से पता चलता है कि कैसे भीलों ने अपने शानदार तीरंदाजी कौशल से गुप्त सम्राटों की ताकत को चुनौती देकर अपनी स्वतंत्रता को बनाए रखा। हालांकि, पश्चिम से आक्रमण करने वाले मुसलमानों के साथ भारतीय उपमहाद्वीप में आग्नेयास्त्रों का इस्तेमाल प्रारंभ होने के बाद उनकी स्वतंत्रता खत्म हो गई।

प्रारंभ में, भारत के उत्तरी और मध्य भागों में राजपूतों ने मुस्लिम आक्रमणकारियों के खिलाफ लड़ाई में भीलों को शामिल किया था। मेवाड़ के राजपूत राजा राणा प्रताप का प्रसिद्ध उदाहरण है जो मुस्लिमों के विरुद्ध अपने संघर्षों में भीलों की मदद ली थी। लेकिन बाद में जब मुसलमानों ने इस क्षेत्र पर अपने शासन को मजबूत किया तब राजपूतों को भीलों के क्षेत्र में जाना पड़ा।

इस प्रकार सिंध और पश्चिमी राजस्थान से भीलों का पलायन शुरू हुआ। मुस्लिम आक्रमण के बाद के सदियों में भीलों ने पश्चिम और मध्य भारत के उन सभी क्षेत्रों में फैल गए जहां वे आज निवास करते है। यह प्रक्रिया को उनके लोकगीतों में वर्णित किया गया है। भले ही राजपूतों ने उन पर शासन किया, लेकिन बेगार या मुफ्त श्रम करने और कुछ नाममात्र करों का भुगतान करने के अलावा, भील अपनी प्रकृति-अनुकूल जीवन निर्वाह करने के लिए काफी हद तक स्वतंत्र रहे। वे अक्सर भारत के उत्तर से पश्चिम की ओर जाने वाले मार्ग पर व्यापारिक कारवां को इसलिए लूटते थे कि वे उन्हें अपने क्षेत्रों में अतिक्रमण मानते थे।

17 वीं शताब्दी के मध्य से पश्चिमी मध्य प्रदेश क्षेत्र में मराठों का आक्रमण हुआ और पहली बार भीलों के निवास क्षेत्रों में व्यापक अतिक्रमण हुआ। व्यापार और कृषि को विकसित करने, ताकि उससे राजस्व की वसूली में इजाफा हो, भीलों के खिलाफ निरंतर सैनिक अभियान चलाया गया। गुजरात और महाराष्ट्र के किसानों और व्यापारियों को भील क्षेत्रों में बसने के लिए प्रोत्साहित किया गया और जंगलों को काटकर और जलाकर कृषि का विस्तार किया गया। इसके खिलाफ जब विद्रोह हुआ तब हजारों की संख्या में भीलों का नरसंहार किया गया। इस प्रकार, एक प्रक्रिया शुरू की गई जिसके तहत व्यवस्थित रूप से मालवा पठार और नर्मदा नदी के तट के पास निमाड़ के मैदानों की उपजाऊ भूमि से आदिवासियों को खदेड़ा गया और उन्हें विंध्य और सतपुड़ा पर्वतमाला की पहाड़ियों में धकेल दिया गया।

19 वीं शताब्दी के शुरुआती वर्षों में अंग्रेजों ने पश्चिमी और मध्य भारतीय क्षेत्र में मराठों को परास्त करने के बाद सत्ता में आए। अंग्रेज सेनाओं ने भीलों के खिलाफ़ अभियान को और भी अधिक आक्रामकता के साथ आगे बढ़ाया। औद्योगिक विकास और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने के लिए अपने स्वयं के जंगलों को नष्ट करने के बाद अंग्रेजों ने भारत के जंगलों का दोहन करना शुरू कर दिया।

1850 के दशक में पश्चिमी भारत में शुरू हुई रेल यातायात के साथ यह शोषण बढ़ता गया। पूरे देश में रेल पटरी बिछाने के लिए लकड़ी आदिवासी इलाकों के घने जंगलों से निकाली गई। अंग्रेजों ने औद्योगिक और शहरी विकास की लागत और उसके साथ के प्रशासनिक लागत को कृषि के व्यावसायीकरण व भूमि राजस्व संग्रह के माध्यम से जुटाने का फैसला किया। पूरे भारत में, अंग्रेजों ने आदिवासियों को विस्थापित करने का काम शुरू किया जिसमें अधिक व्यवस्थित कृषि करने वाली जातियों को आदिवासी क्षेत्रों में जंगल काटकर खेती का विस्तार करने के लिए बसाया गया। भू-राजस्व का दर भी बहुत बढ़ गया।

पश्चिमी मध्य प्रदेश क्षेत्र में, अंग्रेजों ने मराठों की नीति का अनुसरण किया। वे कनबी पाटीदार और जाट किसानों को क्रमशः गुजरात और राजस्थान से लाए और उन्हें मैदानी इलाकों में भीलों की भूमि पर बसाया। यह भू-राजस्व और वाणिज्यिक कृषि से आय बढ़ाने के साथ-साथ लड़ाकू भीलों को वश में करने के उद्देश्य से किया गया था। कुछ भील पहाड़ियों में रहने के लिए चले गए पर अधिकांश इन गैर-आदिवासी किसानों के बंधुआ मजदूरों में परिवर्तित हो गए।

अंग्रेजों ने एक नई भूमि बंदोबस्त व्यवस्था शुरू की जिसके तहत ग्राम प्रधानों द्वारा राजस्व गणना की पहले की ढीली व्यवस्था को खत्म कर दिया गया। मालगुजार या राजस्व एकत्र करने वाले दलालों की नियुक्ति की गई जो किसानों से भू राजस्व एकत्रित करते थे और इसके लिए वे शुल्क के रूप में अधिक शुल्क निकालने के लिए स्वतंत्र थे।

मध्य और पश्चिमी भारतीय क्षेत्रों में कर के दरों में मराठों के समय के प्रचलित 25% से लगभग 65% तक वृद्धि हुई। इस प्रकार अंग्रेजों पुरानी सामंती व्यवस्था को समाप्त कर दिया जिसमें

आदिवासी क्षेत्रों में ग्राम सभाओं को कुछ स्वतंत्रता थी। इसके स्थान पर एक नई व्यवस्था लागू की गई जो सामंती तो थी ही पर जिसमें किसानों का शोषण और अधिक होता था।

यह सब से पश्चिमी भारतीय क्षेत्र में रहने वाले आदिवासियों की पारंपरिक आजीविका में गंभीर बाधा उत्पन्न हो गया। रेल लाइन ने इन क्षेत्रों को देश के बाकी हिस्सों से जोड़ा। अनाज और मामूली वन उपज का निर्यात किया जाने लगा। अंग्रेजों ने आबकारी राजस्व इकट्ठा करने के लिए बनिया जातियों के व्यापारियों को एजेंट के रूप में नियुक्त किया। इससे इन व्यापारियों की भीलों के निवास के अंदरूनी क्षेत्रों में बढ़ती घुसपैठ हुई। वे अक्सर आदिवासियों को ठग कर उनसे उनका कृषि और वन उपज को सस्ते दामों पर कांटा मारकर खरीद लेते थे।

इस प्रकार बढ़ी हुई राजस्व वसूली और व्यापारियों की ठगी के कारण आदिवासियों को खराब बारिश के वर्षों में पहले जैसे अधिशेष बचता नहीँ था और अकाल पड़ जाता था। फसल की स्थिति पर ध्यान दिए बिना अंग्रेजों की करों की अदायगी पर जिद के परिणामस्वरूप आदिवासी सदा के लिए साहूकारों के ऋणी हो गए। ऊपर से उनकी भूमि से विस्थापन और जंगलों का नाश ने आदिवासियों की स्थिति और दयनीय बना दिया। अफसोस की बात है कि अंगेज़ों की नीतियों के कारण हुई आदिवासियों की यह ऋणग्रस्तता आज भी जारी है।

* * *

भीलों की दिलचस्प कहानियाँ हैं जिसमें उनकी इस लाचारी का वर्णन है।

एक बार एक बाज़ारीया, आदिवासी लोग इसी नाम से गैर-आदिवासियों को पुकारते है जो बाज़ार में रहते है, भील राजा से कुछ ज़मीन मांगी, जिस पर उसे व्यापार करना था। उन्होंने कहा कि वह केवल उतनी ही जमीन चाहते है जितनी एक भैंस की खाल में समय सकती है। राजा ने तत्परता से उनकी यह मांग को मंजूरी दे दी। बाज़ारीया ने तुरंत भैंस के चमड़े को बहुत पतले सुतलियों में काट दिया और उन्हें एक साथ बांधकर एक बहुत लंबी रस्सी बनाई। इसके बाद उन्होंने इस रस्सी से पूरे राज्य की जमीन को घेर लिया और सभी भीलों की भूमि हड़प लिया।

एक अन्य कहानी के अनुसार मथवाड़ का भील राजा मोतिया को कुछ ठाकुरों या राजपूत राजाओं द्वारा भोज के लिए आमंत्रित किया गया था, जो उसके राज्य का दौरा करने आए थे। किंवदंती यह थी कि मोतिया को तब तक नहीं मारा जा सकता था जब तक कि वह अपनी पगड़ी अपने सर पर पहन रखी है। इसलिए ठाकुरों ने भोजन के साथ राज्य को बहुत दारू पिलाया जिससे कि राज्य को नींद आ गई। जब वह सो गया तब ठाकुरों ने उसकी पगड़ी उतार दी और उसका सिर काट दिया। कहानी में यह भी कहा गया है कि अगर मोतिया का सिर काट भी दिया जाता तो भी वह अपना शरीर ढूंढ लेता और एक बार फिर उससे जुड़ जाता है। इसलिए ठाकुरों ने उसका सिर काट kar उसे तुरंत दफनाया और बाकी शव को नर्मदा नदी के पार ले जाकर उसे सतपुड़ा पर्वत श्रृंखला में फेंक दिया। आज तक, जिस स्थान पर मोतिया का सिर दफनाया गया है ऐसा माना जाता है उसे मथवाड़

या सिर का स्थान कहा जाता है और जिस स्थान पर उनका शव या धड़ को दफनाया गया था उसे धड़गांव के रूप में जाना जाता है।

* * *

आजादी के बाद स्थिति और भी खराब हो गई क्योंकि स्वतंत्र भारतीय राज्य ने अंग्रेजों से विरासत में मिली शासन की औपनिवेशिक संरचना को बरकरार रखा। वृहत्तर भीली क्षेत्र की विभिन्न रियासतों को पश्चिमी भारत के चार राज्यों के बीच मनमाने ढंग से बाँट दिया गया। इससे भील मातृभूमि टुकड़ों में विभाजित हो गया।

1949 से झूम खेती को रोकने के उद्देश्य से भूमि बंदोबस्त की एक प्रक्रिया शुरू की गई थी। 1956 में मध्य प्रदेश के गठन के साथ भारतीय वन अधिनियम 1927 को रियासतों के आदिवासी क्षेत्रों में लागू कर दिया गया था। अधिनियम का सख्ती से प्रवर्तन किया गया और वनों में खेती को पूरी तरह से बंद कर दिया गया। पश्चिमी भारत में औद्योगिक और शहरी केंद्रों के विकास के लिए ईंधन और लकड़ी के लिए जंगलों को काटना शुरू किया गया। इमारती लकड़ी के ठेकेदार, भ्रष्ट वन विभाग के कर्मचारियों की मिलीभगत से, जंगलों की अंधाधुंध कटाई करने लगे। यह आदिवासियों को मुश्किल में डाल दिया। वे नए स्थानों पर जाकर खेती नहीं कर सके व मिट्टी की उर्वरता कम हो गई और साथ ही वन उपज से पूरक आय और पोषण मिलते थे वह भी कम हो गये।

मध्य प्रदेश में आदिवासियों के उत्थान के लिए सरकार की सामाजिक और आर्थिक विकास नीतियों का उद्देश्य उन्हें आधुनिक बाजार अर्थव्यवस्था और संस्कृति में शामिल करना है। इससे भीलों की जीवनशैली और बदतर हो गई। शिक्षा प्रणाली के पाठ्यक्रम और शिक्षण विधियाँ उनकी संस्कृति से बिलकुल अलग थे और शिक्षक भी ठीक से पढ़ाते नहीं थे। अधिकांश भीलों को इसलिए शिक्षित होने में दिक्कत आई। जो गिने चुने लोग शिक्षित हुए वे ज्यादातर अपनी संस्कृति को आदिम और उप-मानवीय समझकर मानकर उसे त्याग दिया। इन शिक्षित भीलों ने अपने समुदाय से खुद को दूर कर लिया। इसमें खेमला जैसे कुछ ही अपवाद थे।

इस प्रकार भीलों का एक विशाल तबका आधुनिक अर्थव्यवस्था में, जिसमें राज्य की नीतियां लगातार उन्हें धकेल रही थीं, प्रभावी रूप से भाग लेने में असफल रहा। आधुनिक शिक्षा के इस अभाव का अर्थ है कि उन्हें अपने संविधान प्रदत्त अधिकारों और कानूनों का बहुत कम ज्ञान था। नतीजतन, वे न केवल उन्हें प्रदान की जाने वाली कल्याणकारी सेवाओं का लाभ उठाने में असमर्थ रहे बल्कि राज्य की अन्यायपूर्ण विकास नीतियों के खिलाफ विरोध करने में भी असफल रहे और साहूकारों का सामंतवादी शोषण का शिकार बने रहे।

समय के साथ पूरा क्षेत्र सूखा-ग्रस्त बन गया है और भीलों के पास अकुशल मजदूरों के रूप में रोजगार की तलाश में पलायन करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं है। इसलिए वे सदा ऋण के बोझ तले दबे रहते हैं। भीलों की स्वायत्त अर्थव्यवस्था का विनाश और उनका सर्वहाराकरण उसी सिक्के का एक

पहलू है जिसका अन्य पहलू है पश्चिमी भारत में महानगरीय केंद्रों के आसपास उद्योग और कृषि का आधुनिक पूंजीवादी विकास।

* * *

भीलों की इस दुर्दशा का अंदाज़ा इस से बखूबी लगाया जा सकता है कि उनमें से अनपढ़ लोग आदिवासी शब्द को “आधावासी” कहते औरे समझते हैं। वे खुद को हीन और केवल आधे इंसान के रूप में और शिक्षित गैर आदिवासियों को "पूरावासी" या पूर्ण लोगों के रूप में देखते हैं। गैर आदिवासी लोग आदिवासियों को "मामा" के रूप में अपमानजनक लहजे में पुकारते है। मध्य प्रदेश में अलीराजपुर, झाबुआ और रतलाम जिलों के भीलों द्वारा इतना व्यापक पलायन किया जाता है कि वडोदरा-कोटा यात्री ट्रेन में हमेशा इन लोगों की भीड़ रहती है। नतीजतन, इस ट्रेन को "मामा गारी" कहा जाने लगा है!

यह अध:पतन इसलिए आया है क्योंकि इस अन्यायपूर्ण प्रक्रिया के खिलाफ आदिवासी जन विरोध को बेरहमी से कुचल दिया गया है। 18 वीं और 19 वीं शताब्दी में मराठों और अंग्रेजों के खिलाफ भीलों ने कड़े संगठित प्रतिरोध किए थे। 19 वीं शताब्दी के आरंभिक समय के युद्धों के बाद अंग्रेजों ने भीलों को शांत करने की नीति अपनाई थी उनका लड़ाकू विरोध को कम करने के लिए। उन्होंने आदिवासी सैनिकों के साथ एक “भील कोर” नामक सेना की स्थापना की। इसके अलावा, सेंधवा क्षेत्र से गुजरने वाली आगरा-मुंबई सड़क पर सुरक्षा प्रदान करने के लिए एक अलग भील सैनिक बल स्थापित किया गया था उन भीलों को काबू करने के लिए जो नियमित रूप से व्यापार काफिले पर छापा मारते थे। हालांकि, 1857 में स्वतंत्रता के पहले युद्ध के समय अंग्रेजों की कमजोरी को भाँपते हुए भीलों ने, जो अंग्रेजों द्वारा उनकी भूमि के अधिग्रहण से नाराज थे, एक बार फिर से विद्रोह कर दिया जिसे 1857-60 का महान भील विद्रोह कहा जाता है। खाज्या नाइक 1831 से 1851 तक अंग्रेजों की सेवा में आगरा-मुंबई मार्ग पर सतपुड़ा पहाड़ियों में पलासनेर घाट की चौकीदारी करता था। एक डाकू की हत्या करने के लिए उन्हें हिरासत में लेने के बाद 1851 में सजा सुनाई गई और जेल भेज दिया गया। लेकिन उनके पिछले काम का रिकॉर्ड को देखते हुए 1855 में उनकी रिहाई हो गई। पर इस सजा ने खाज्या को नाराज कर दिया और अपनी रिहाई के तुरंत बाद उन्होंने अंग्रेजों के खिलाफ साजिश रचनी शुरू कर दी। उन्होंने उन भीलों में काफी गुस्सा देखी जिन्हें अंग्रेजों ने निमाड़ घाटी में अपनी जमीन से विस्थापित कर पहाड़ियों में धकेल दिया था। वे अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह करने के लिए तैयार थे।

खाज्या ने भीमा और मेवाश्या नाइक के साथ एक सेना बनाकर 1857 में तात्या टोपे को मदद प्रदान की। अंग्रेजों ने भील कोर समेत अपनी सेना को राजपुर में और बाद में बड़वानी जिले के ढाबा बावड़ी में विद्रोही भीलों को हराने के लिए अपनी ताकत जुटाई। खाज्या और भीमा को पकड़ने के लिए मुखबिरों की सेवाओं का उपयोग किया। 1858 में खाज्या को क्षमा कर दिया गया जिसके बाद उन्होंने विद्रोह को खत्म करने के लिए एक मुखबिर के रूप में काम किया।

लेकिन 1860 में, खाज्या ने एक बार फिर विद्रोह किया यह दावा करते हुए कि अंग्रेजों ने उन्हें उनकी सेवाओं के लिए पर्याप्त रूप से पुरस्कृत नहीं दिया है। इसके तुरंत बाद, विद्रोह में तेजी आई और

खाज्या के नेतृत्व में, भीलों ने एक बार फिर सतपुड़ा पहाड़ियों में आगरा-मुंबई मार्ग पर कारवांओं को लूटना शुरू कर दिया। अंत में अंग्रेजों ने भील कोर के अलावा अन्य क्षेत्रों से सेना को बुलवाया। आगरा-मुंबई मार्ग के पास अंबापानी में भीषण युद्ध हुआ। भले ही अंग्रेज इस लड़ाई में विजयी हुए, लेकिन खाज्या और भीमा नाइक भागने में सफल रहे। हालांकि, भील सेना के भीतर कुछ गद्दारों ने अंग्रेजों के इशारे पर बाद में उन दोनों को मार डाला। इस विद्रोह को वश में करने के लिए अंग्रेजों ने बल और छल दोनों का इस्तेमाल किया।

इस तरह का एक और विद्रोह महान टंटिया भील ने लड़ा था। टंटिया का जन्म वर्तमान समय के खंडवा जिले में 1842 में हुआ था। इसके बाद यह क्षेत्र ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के अंतर्गत आ गया। 1857 के युद्ध के परिणामस्वरूप जुए पुनर्गठन में इसे केंद्रीय प्रांत का हिस्सा बनाया गया। अन्य जगहों की तरह, अंग्रेजों ने इस क्षेत्र में भी भू-राजस्व के संग्रह के लिए जमींदारी प्रणाली की शुरुआत की थी। टंटिया के पिता एक छोटे से किसान थे जो एक जमींदार के लिए काम करते थे। 1860 में उनका निधन हो गया, और टंटिया को अपने बूते जीने के लिए छोड़ दिया। 1860 के दशक में तीन साल तक लगातार बारिश कम हुई। अंग्रेजों ने भूमि के राजस्व के संग्रह को त्यागने से इनकार कर दिया जिससे किसानों की स्थिति गंभीर हो गई। अधिकांश किसानों को जमींदारों को लगान का भुगतान करने के लिए साहुकारों से ऋण लेना पड़ता था। टंटिया ने ऐसा करने से इनकार कर दिया और इसके बजाय जमींदार और उसके आदमियों के साथ मारपीट की जब उन्होंने लगान वसूली के लिए जोर जबरदस्ती की। इसे अनुशासनहीनता का एक गंभीर अपराध माना गया और पुलिस ने टंटिया को तुरंत गिरफ्तार कर लिया। उसे एक वर्ष के कारावास की सजा सुनाई गई। अपनी रिहाई के बाद भी, उन्हें लगातार जमींदारों, साहूकारों और पुलिस द्वारा परेशान किया गया उनके खिलाफ झूठे आपराधिक मामले दर्ज कर।

अंत में, इस अंतहीन उत्पीड़न से तंग आकर, टंटिया ने जमींदारों को एक बार फिर से पीटा और जंगलों में भाग गया वर्ष 1872 में। जंगल में, उन्होंने धीरे-धीरे सशस्त्र लोगों की एक सेना बनाई और जमींदारों को लूटना और पुलिस स्टेशनों पर हमला करना शुरू कर दिया। वह और उसके लोग कई मौकों पर पकड़े गए लेकिन वे जेल से भागने में सफल रहे। डेढ़ दशक तक टंटिया और उनके लोगों ने अंग्रेजों और उनके जमींदारों और साहूकारों की ताकत को चुनौती दी। वास्तव में, टंटिया और उनकी सेना एक समानांतर सरकार स्थापित करने के करीब पहुंच गई। टंटिया रॉबिन हुड जैसे कार्यशैली के लिए प्रसिद्ध हो गया - वे अमीर जमींदारों को लूटने के बाद गरीब लोगों के बीच लूट का एक बड़ा हिस्सा वितरित करते थे। भील महिलाएं उन्हें अपना उद्धारकर्ता और भाई मानती थीं और अपने बच्चों को अपने टंटिया मामा के कारनामों के बारे में बताती थीं। हालांकि, उन्हें एक बार फिर 1888 में गद्दारों की मदद से पकड़ा गया और एक संक्षिप्त मुकद्दमा के बाद जबलपुर में फांसी की सजा सुनाई गई।

लगभग उसी समय, 1881 में अलीराजपुर के भीलों ने छीतू किरार के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। यह किसानों के लिए बुरा साल था क्योंकि अकाल पड़ गया था। जो थोड़ा बहुत उत्पादन हुआ था उसे भी

राजस्व अधिकारियों ने करों के रूप में वसूल रहे थे। पर हाटों और बाजारों में साहूकारों के पास अनाज की जमाखोरी के बड़े भंडार थे। छीतू किरार ने एक सेना बनाई और हाटों पर हमला किया। उन्होंने साहूकारों के अनाज भंडार को लूटा और लोगों के बीच अनाज वितरित किया।

इसके बाद छितु ने एक असंतुष्ट सैन्य अधिकारी और अलीराजपुर के राज परिवार से संबंधित कुछ लोगों के के साथ गठबंधन किया। दोनों ने मिलकर राज्य के लिए खतरा पैदा कर दिया। अंग्रेजों ने तेजी से विद्रोह को समाप्त करने के लिए सशस्त्र बलों और घुड़सवार सेना को लाया। सोरवा गांव में लड़ी गई लड़ाई में छितु और उसके लोगों ने ब्रिटिश कमांडर को मारकर उसकी सेनाओं को तितर बितर कर दिया। इसके बाद अंग्रेजों ने और अधिक सेना भेजे और अलीराजपुर में अगली लड़ाई में छीतू की सेनाएं हार गईं और उसे गुजरात भागना पड़ा। बाद में, मुखबिरों की मदद से उसे पकड़ लिया गया और मार दिया गया। छितु की ऐसी लोकप्रियता थी कि आज भी उन्हें एक महान व्यक्ति माना जाता है और लोगों का कहना है कि छितू के बल में ईतने सारे लोग थे जितने फूल चने के खेत में होते है।

* * *

1930 के दशक में, महान स्वतंत्रता सेनानी बालेश्वर दयाल दीक्षित से प्रेरित होकर, राजस्थान के बांसवाड़ा जिले और मध्य प्रदेश के रतलाम, अलीराजपुर और झाबुआ जिलों के आदिवासियों ने राजाओं और साहूकारों की सामंती शोषण के खिलाफ आंदोलन शुरू किया। गंभीर दमन के बावजूद, यह आंदोलन भीलों को अपने प्रभाव के क्षेत्रों में सामंती राजाओं और साहूकारों के बंधन से मुक्त करने में बहुत सफल रहा। दीक्षित ने स्वतंत्रता के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया और जयप्रकाश नारायण और अन्य लोगों के साथ 1950 में समाजवादी दल का गठन किया।

तत्पश्चात यह आंदोलन एक स्पष्ट वामपंथी चरित्र ले लिया, जिसमें किसान को भूमि प्रदान, साहूकारों से लिए गए सभी ऋणों की माफी और प्रशासन द्वारा उनकी गतिविधियों का सख्त नियमन और वनों पर आदिवासियों का हक प्रमुख मांग थे। इस आंदोलन के सदस्यों ने एक अलग पहचान बनाने के लिए लाल टोपी पहनते थे जिसके कारण इसे लाल टोपी आंदोलन का नाम दिया गया।

इसके इतने व्यापक प्रभाव था कि उसके उम्मीदवारों ने लोकसभा और विधानसभा सभा चुनावों में 1950 और 1960 के दशक में एक तरफ जीत हासिल की। प्रशासन के भ्रष्टाचार और साहूकारों और सामंतों की गतिविधियों पर स्थानीय स्तर पर काफी अंकुश लगाया गया। दुर्भाग्य से, मध्य प्रदेश और भारत में, अन्य जगहों पर समाजवादी पार्टी बुरी तरह से विफल रही। इस प्रकार, उच्च स्तर पर आंदोलन की प्रगतिशील मांगों को आगे नहीं बढ़ाया जा सका। जल्द ही कांग्रेस पार्टी के स्थानीय गैर-आदिवासी नेताओं द्वारा आंदोलन के उन आदिवासी नेताओं को खरीद लिया गया जिन्हें सांसद और विधायक चुना गया था।

1970 के दशक की शुरुआत में, इन नेताओं ने अपने अनुयायियों के साथ आंदोलन छोड़ दिया और कांग्रेस में शामिल हो गए। यह इसलिए भी संभव हुआ क्योंकि इस समय आदिवासी क्षेत्रों में आने

वाली केंद्र सरकार की विकास राशी में बहुत वृद्धि हुई। इस राशि से लालच देकर इन नेताओं और उनके अनुयायियों को लुभाया गया। एक बार जब आंदोलन की एकता को तोड़ दिया गया तब उन कार्यकर्ताओं पर गंभीर दमन बरपा गया जिन्होंने कांग्रेस में शामिल होने से इनकार कर दिया था। अनेकों झूठे मामलों में फँसाकर और पुलिस द्वारा हिरासत में गंभीर यातना देकर यह सुनिश्चित किया गया कि इन कार्यकर्ताओं और उनके अनुयायी आंदोलन का काम करना छोड़ दे। आंदोलन पूरी तरह से कुचल दिया गया।

खेमला के पिता चेना इस आंदोलन के सक्रिय सदस्य थे। उन्होंने एक बार मुझे जेल जाने और पुलिस की पिटाई के बारे में बताया था। उन्होंने कहा कि पुलिस ने लाल टोपी अंदोलन को तोड़े जाने के बाद ही इस क्षेत्र में अपना दबदबा बनाना शुरू कर दिया। उन्हें एक मुस्कान के साथ याद आया कि कैसे उनके बचपन और जवानी में पूरा क्षेत्र शांत था और सभी के पास पर्याप्त जमीन थी और खाने की कोई कमी नहीं थी। एकमात्र समस्या थी बेगार या मुफ्त श्रम जो उन्हें राजा के खेतों में करना पड़ता था।

लोगों ने आपस में लड़ना, लूटपाट करना और एक दूसरे की हत्या करना शुरू कर दिया। पुलिस ने इस आपसी लड़ाई को प्रोत्साहित किया ताकि दलालों की मदद से इसका लाभ उठाया जा सके। चेना के पास इन दलालों के लिए एक दिलचस्प शब्द था, "तपलो चाटो" या तपेली को चाटने वाला। जब भी कोई पुलिसकर्मी या वन रक्षक किसी गाँव में आता था, तो वह मुखिया के घर जाता था और उसे मुर्गी और रोटियों का भोजन तैयार करने के लिए कहता था। मुखिया गाँव में किसी गरीब आदिवासी से एक मुर्गी लाता और फिर उसे पका कर अपने मेहमानों को एक तपेली में परोसता। भोजन के अंत में, सरकारी कर्मचारी तपेली में छोड़ते थे उसको मुखिया चाट लेते थे। इस तरह उन्हें तपलो चाटो कहा जाने लगा!

अलीराजपुर में एक पत्रकार मित्र पुष्पेंद्र जो अब और नहीं रहे ने मुझे पुलिस द्वारा हत्या जैसे गंभीर अपराध को दफा रफा करने के लिए अपनाए गए एक अनोखे तरीके के बारे में बताया। जब भी कोई हत्या होती थी, तो हत्या की प्राथमिकी दर्ज करने के बजाय पुलिस सिर्फ थाने की रोज़ नामचा या दैनिक रिकॉर्ड में एक शव मिलने की सूचना दर्ज करती थी। वे कुछ खाली जगह छोड़ देते जिसे बाद में भरा जाता था। पोस्टमार्टम रिपोर्ट को भी डॉक्टर द्वारा अंतिम रूप नहीं दिया जाता था। विपक्षी दलों को एक समझौते पर पहुंचने के लिए समय दिया जाता था और इसमें एक दलाल द्वारा मध्यस्तता की जाती थी। यदि कोई समझौता होती थी और उचित मात्रा में पैसा आरोपी पक्ष द्वारा पुलिस और मृतक के पक्ष को दिए जाते थे तो पुलिस मामले को हत्या के बजाय आत्महत्या के रूप में दर्ज कर देती थी। पोस्टमार्टम रिपोर्ट भी उसी के अनुसार तैयार की जाती थी। उसके बाद आपराध प्रक्रिया संहिता के प्रावधानों के अनुसार आत्महत्या के रूप में मामले को निपटाने के लिए अनुविभागीय दंडाधिकारी को कागजात प्रस्तुत किए जाते थे।

सभी संबंधित अधिकारियों को इस तरह के विस्तृत कारनामा को सम्पन्न करने के लिए रिश्वत देनी होती थी। हम बाद में और विस्तार से जानेंगे कि पुलिस नियमित रूप से रोज़ नामचा के साथ किस

प्रकार छेड़छाड़ करती है ताकि पुलिस के कार्यों की वैधता पर कोई सवाल नहीं उठाया जा सके। केवल अगर शिकायतकर्ता समझौते के लिए सहमत नहीं होता है तो हत्या की प्राथमिकी दर्ज की जाती थी। फिर भी सजा बहुत कम होती थी क्योंकि हत्यारे के परिजन पुलिस को कमजोर आरोप पत्र दायर करने के लिए रिश्वत देते थे। आरोपी जेल से बाहर आने के बाद मृतक पक्ष का कोई व्यक्ति को एक दिन हत्या कर देता था। इस प्रकार प्रतिशोध अनिश्चितकाल के लिए जारी रहता और पुलिस की उ 0 ऊपरी कमाई भी जारी रहती थी।

जब खेमराज अलीराजपुर पहुंचकर खेमला से पहली बार मुलाकात की तब एक समय के बहादुर भीलों को पूरी तरह से दबा दिया गया था और क्षेत्र के घने जंगलों का सफाया कर दिया गया था जिसके कारण यह प्रकृति के बच्चे अनाथ हो गए थे।

अध्याय 5 - प्रकृति के संतानों का पुनरुत्थान

खेमराज 1982 में तिलोनिया से अलीराजपुर आए, एक ऐसे परिदृश्य की खोज की जहां वह अपने सपनों को साकार कर सके। उन्होंने एक होटल में रुका और क्षेत्र के शिक्षित आदिवासियों से उनकी ग्रामीण परिस्थितियों के बारे में बात करना शुरू कर दिया । यह जल्द ही उसे समझ आ गया कि आदिवासियों की हालत खराब है।

स्थानीय पत्रकार पुष्पेन्द्र सोलंकी ने खेमराज से पूछा कि क्या वह खेमला से संपर्क करना चाहते हैं जो आदिवासियों के लिए ठोस काम कर रहा हैं। खेमराज ने उमराली के लिए एक बस में बैठा और बडी वैगालगाँव में खेमला की कुटिया पहुँच गया और इस प्रकार एक संघर्ष गाथा शुरू हुई जो आज भी जारी है।

खेमराज ने खेमला को बताया कि वह जिस तरह के व्यक्तिगत संघर्ष कर रहे थे, एक सीमा थी और आदिवासियों को स्थायी लाभ दिलाने के लिए एक संगठन की जरूरत थी। खेमला ने खेमराज की बात मानी और दोनों ने बैठकें आयोजित करने के लिए गांवों में घूमना शुरू किया। उन्होंने ग्रामीणों को अपने अधिकारों के लिए संघर्ष हेतु एकजुट करने का प्रयास किया। पर उन्हें सफलता नहीं मिली।

लोग खुद को आगे करने से डरते थे क्योंकि उन्हें पुलिस से प्रताड़ित होने का डर था। गाँव के पटवारी भी इन कार्यकर्ताओं के खिलाफ प्रचार करते थे क्योंकि उन्हें भी लगता था कि वे उनकी सत्ता को चुनौती देंगें। इसके अलावा, लाल टोपी आंदोलन को कुचलने के लिए प्रशासन के दमन की यादें लोगों के मन में थे।

काफी समय तक, दोनों ने कोई प्रगति नहीं की। मुख्यधारा के समाज से एक और भगोड़ा, अमित, ने 1983 की शुरुआत में उनके साथ हो लिया। अमित ने दिल्ली के स्कूल ऑफ प्लानिंग एंड आर्किटेक्चर के छात्र के रूप में अपनी पढ़ाई छोड़ दी थी तिलोनिया आने के लिए, जहाँ वे खेमराज से मिले थे और फिर अलीराजपुर आ गए। कार्यकरताओं की तिकड़ी नियमित रूप से गाँवों का दौरा करने लगी, ताकि उन मुद्दों को खोजा जा सके जिनको लेकर आंदोलन किया जा सके।

इसी समय अट्ठावा गाँव में एक बड़े मिट्टी के बांध के निर्माण की घोषणा की गई। यह गाँव बडी वैगलगाँव के ऊपर था।

सिंचाई विभाग ने अलीराजपुर में एक गैर-आदिवासी ठेकेदार को बांध के निर्माण के लिए ठेका दिया। कार्यकर्ताओं ने मजदूरों के रूप में अन्य श्रमिकों के साथ काम में शामिल हुए और पता चला कि ठेकेदार मजदूरों को तीन रुपये का दैनिक वेतन दे रहा था, जब कि उस समय वैधानिक न्यूनतम मजदूरी साढ़े सात रुपये थी। कार्यकर्ता धीरे-धीरे इसके बारे में कुछ करने की आवश्यकता को लेकर लोगों से बात करने लगे। उनकी मेहनत ने रंग लायी और एक दिन सभी मजदूरों, इन तीनों के नेतृत्व में, न्यूनतम मजदूरी के भुगतान की मांग करते हुए, हड़ताल कर दिया।

इसने सनसनी मचा दी क्योंकि अलीराजपुर में पहली बार हड़ताल हुई थी। अलीराजपुर का तत्कालीन अनुविभागीय दंडाधिकारी भारतीय प्रशासनिक सेवा का था जो आदिवासियों की समस्याओं के प्रति सहानुभूति रखता था। उन्होंने तुरंत कार्रवाई की और ठेकेदार को वैधानिक न्यूनतम मजदूरी देने का आदेश दिया। इस कार्रवाई की सफलता ने संगठन प्रक्रिया में बहुत तेजी ला दी।

कार्रवाई की खबर दूर-दूर तक फैल गई। बड़ी वैगलगाँव के निवासी गुलाब, जो पास के मथवाड़ आरक्षित वन परिक्षेत्र के अट्ठा में अपनी पत्नी के गाँव में रहने और खेती करने के लिए गए थे, को इसके बारे में पता चला। उन्होंने खेमला को बताया कि वन विभाग के कर्मचारी मथवाड़ वन परिक्षेत्र में आदिवासियों का उत्पीड़न कर रहे थे। उनकी पिटाई कर रहे थे और उनसे नकदी और मुर्गी, घी आदि वसूल रहे थे। उन्होंने खेमला को अपने दो बजारिया दोस्तों के साथ वहाँ आने और वन विभाग की ज्यादतियों का मुकाबला करने के लिए कहा।

खेमराज और अमित ने वहां की स्थितियों के प्रारंभिक सर्वेक्षण के लिए अट्ठा में गुलाब के साथ उसके घर में रहने गए जबकि खेमला संगठनात्मक कार्य जारी रखने के लिए उमराली में रहा। अमित और खेमराज को मथवाड़ वन परिक्षेत्र में आदिवासियों के दमन की एक भयानक स्थिति देखने को मिली। आजादी के बाद अपनाई गई दोषपूर्ण विकास नीतियों के कारण पूरे भारत में आदिवासियों की जो बदहाली आई थी वह मथवाड़ क्षेत्र में चरम पर थी।

हालांकि, स्थितिया और अच्छी हो सकती थीं। भारतीय संविधान की पांचवीं अनुसूची में प्रावधान है कि आदिवासियों के लिए अधिसूचित क्षेत्रों में, जैसे अलीराजपुर जिला, राज्यपाल, आदिवासी सलाहकार परिषद (आ.स.प.) की सलाह पर, आदिवासियों के संरक्षण और विकास के लिए विशेष कानून और नीतियाँ बना सकते थे। संविधान राज्यपाल को यह निर्देश देने का अधिकार देता है कि संसद या राज्य विधानसभा द्वारा बनाए गए कानून अनुसूचित क्षेत्रों पर लागू नहीं हो। इसी तरह उत्तर पूर्व के आदिवासी क्षेत्रों के लिए भी आदिवासी रीति-रिवाजों के अनुसार स्वशासन के लिए विशेष छठी अनुसूची बनायी गई है। लेकिन अंग्रेजों ने जिस प्रकार 1935 के भारत सरकार अधिनियम में बनाए गए इस प्रकार के प्रावधानों को नजर अंदाज किए थे, वैसे ही स्वतंत्र भारत के शासकों ने भी कागजों पर किए गए इन अच्छे प्रावधानों की अवहेलना करते रहे है। वास्तव में, 1858 में स्वतंत्रता के पहले युद्ध की समाप्ति के बाद अंग्रेजों द्वारा पारित पहला भारत सरकार अधिनियम में अंग्रेजों ने भारत के लोगों को यह आश्वासन दिया था कि भारत के पारंपरिक अधिकारों, उपयोगों और रीति-रिवाजों पर उचित ध्यान दिया जाएगा और लोगों के लाभ के लिए इन कानूनों को समान और निष्पक्ष रूप से लागू किया जाएगा। परंतु लगभग तुरंत अंग्रेजों द्वारा इन सिद्धांतों का उल्लंघन किया गया था।

भारतीय दंड संहिता (भा.द.स.) को 1860 में और 1861 में अपराध प्रक्रिया संहिता (अ.प्र.स.) को लागू किया गया था। इन कानूनों को इस तरह से संहिताबद्ध किया गया है कि प्रशासन को सार्वजनिक असंतोष को दबाने का आसान तरीका उपलब्ध कराया जा सके। आदिवासियों के दृष्टिकोण से एक और अधिक हानिकारक कानून 1864 में भारतीय वन अधिनियम (भा.व.अ.) को पारित किया गया था। Res nullius के सिद्धांत को लागू कर, जिसका अर्थ है कि दस्तावेजी सबूत न हों तो यह माना

जाएगा कि संपत्ति का कोई मालिक नहीं है, अंग्रेजों ने उन जंगलों पर आदिवासियों के प्रथागत सामुदायिक अधिकारों को मान्यता देने से इनकार कर दिया जिनका वे सदियों से उपयोग करते आ रहे थे। इस उद्देश्य के लिए बनाए गए वन विभाग को जंगलों को सौंप दिया गया। यह स्पष्ट है कि आदिवासियों के दृष्टिकोण से यह अधिनियम कितना विनाशकारी है।

भूमि अधिग्रहण अधिनियम (भू.अ.अ.) जिसे 1894 में अधिनियमित किया गया था ऐसा ही एक और कानून था जिसने आदिवासियों को बड़े पैमाने पर उनकी भूमि से वंचित कर दिया था। इसमें eminent domain के सिद्धांत का उपयोग किया गया था। यह सरकार को सार्वजनिक उपयोग के लिए मामूली मौद्रिक क्षतिपूर्ति के बदले निजी भूमि को अधिग्रहण करने का अधिकार दिया। ये सभी कानून वर्तमान में भी लागू हैं कुछ मामूली संशोधनों के साथ।

संगठित आदिवासी विरोध, जो मुख्यधारा के भारतीय समाज द्वारा हो रहा विरोध की तुलना में बहुत अधिक उग्र था, को दबाने के बाद, अंग्रेजों ने आदिवासियों के लिए कुछ संरक्षणात्मक प्रावधानों को लागू किया था जिन्हें बाद में भारतीय संविधान के पांचवीं और छठी अनुसूची में शामिल किया गया था। । ये आदिवासियों को कुछ तोहफे देकर शांत कर आजादी के आंदोलन से अलग-थलग करने के उद्देश्य से अंग्रेजों द्वारा बनाए गए थे न कि सही में उनके हित में काम करने के लिए।

कुछ अच्छे यूरोपीय समाजशास्त्री जैसे वी. एल्विन, सी. वी. एफ. हैमन डॉर्फ और डब्ल्यू. वी. ग्रिग्सन ने आदिवासियों के पक्ष में नीतियाँ बनाने के लिए अंग्रेजों को प्रोत्साहित किया। दूसरी ओर, कुछ राष्ट्रवादी स्वतंत्रता सेनानियों, विशेष रूप से भारतीय समाजशास्त्री जी. एस. घुरिये, ने इस कदम का विरोध किया। अंग्रेजों ने इस दिशा में कुछ कदम लिए क्योंकि दूसरे विश्व युद्ध के दौरान उन्होंने आदिवासियों को स्वतंत्रता आंदोलन से अलग करने के लिए यह उपाय ढूंढा था।

जयपाल सिंह जैसे मुखर आदिवासी नेताओं की मौजूदगी के कारण संविधान सभा में आदिवासियों के लिए विशेष प्रावधानों के बारे में विस्तृत बहस हुई। इन चर्चाओं ने आदिवासी समुदायों के स्वाभाविक लोकतांत्रिक और गैर-शोषक प्रकृति को बरकरार रखते हुए उनके विकास के लिए आधुनिक अर्थव्यवस्था में सही तरीके से एकीकरण हेतु उन्हें सक्षम बनाने की चुनौती पर ध्यान दिया। फिर भी, पांचवें और छठे अनुसूचियों के प्रावधानों का कड़ा विरोध हुआ। आखिरकार इन प्रावधानों को इसलिए संविधान में शामिल किया गया क्योंकि इन्हें भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू का समर्थन प्राप्त हुआ। इनका उपयोग आसानी से आदिवासी क्षेत्रों में भा.द.स., अ.प्र.स., भा.व.अ. और भू.अ.अ. जैसे हानीकारक कानूनों को लागू होने से रोकने के लिए किया जा सकता है। यह प्रावधान आदिवासियों को आधुनिक विकास के हमले से अलग करने की सुविधा प्रदान की और उन्हें धीरे-धीरे एक आधुनिक अर्थव्यवस्था और राजव्यवस्था में शामिल होने की अनुमति दी ताकि उन्हें मुख्यधारा के समाज में समानता के आधार पर एकीकृत होने में मदद मिलें।

नेहरू के आधुनिक औद्योगिक विकास के लिए आकर्षण के परिणामस्वरूप इन प्रावधानों को वास्तव में अनदेखा किया गया। मध्य प्रदेश में, आ.स.प. का गठन नहीं किया गया था और यह केवल काफी समय तक कागज पर ही था। राज्यपालों ने आदिवासियों की ओर से हस्तक्षेप करने के लिए अपनी

विशेष शक्तियों का इस्तेमाल कभी नहीं किया। इसके कारण विकास परियोजनाओं, वनों की कटाई और ऋण बोझ के कारण बड़े पैमाने पर आदिवासियों का भूमि से विस्थापन हुआ। ये प्रावधान राज्यपाल के लिए बाध्यकारी नहीं हैं वे केवल यह कहते हैं कि वह उनका "उपयोग" कर सकता है। इसलिए यदि सरकार इन प्रावधानों को लागू नहीं करती है, तो राज्यपाल को इसके लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है। नतीजतन, मथवाड़ के आदिवासी सकारात्मक शासन के अभाव के कारण काफी परेशानी में थे।

आजादी से पहले, मथवाड़ एक छोटी रियासत थी। राजा का रुतबा बरकरार था और वह बखतगढ़ में अपने महल में रहता था, जो परिक्षेत्र का मुख्यालय भी था। जब खेमराज और अमित क्षेत्र में अपनी प्रारंभिक यात्रा के दौरान उनसे मिलने गए, तो उन्होंने एक मजे हुए लहजे में और राजकीय शैली में दावा किया कि वह मथवाड़ का सर्वेसर्वा था। वास्तव में, हालांकि, वन और पुलिस विभाग के कर्मचारियों का ही बोलबाला था। भारत में वामपंथी हलकों में, भारतीय राज्य के चरित्र को lekar काफी मात्रा में बहसाबहसी हुई है। माओवादियों को लगता है कि राज्य का चरित्र अर्ध-सामंती और अर्ध-औपनिवेशिक है जबकि अन्य वामपंथियों का कहना है कि यह पूंजीवादी है। हालाँकि, जहाँ तक 1980 के दशक की शुरुआत में मथवाड़ के भील आदिवासियों का सवाल था, राज्य पूरी तरह से सामंती और औपनिवेशिक था। उनकी कोई अवधारणा ही नहीं थी कि भारत एक संप्रभु लोकतांत्रिक गणराज्य है जिसमें आदिवासियों को न केवल कुछ बुनियादी अधिकार है बल्कि गैर-आदिवासियों द्वारा सदियों से किए जा रहे उनका शोषण को खत्म करने के लिए उनके लिए विशेष साकारात्मक प्रावधान और कानून भी है। उस समय बहुत कम आदिवासी विधानसभा और संसदीय चुनावों के दौरान मतदान किया करते थे।

भारतीय वन अधिनियम, 1927 के प्रावधान इस प्रकार हैं कि आरक्षित वन क्षेत्र में निवास करने वाले आदिवासी जन्म लेते ही चोर कहलाता हैं। जिस क्षण वे अपने खेतों से बाहर निकलते हैं, वे उस जंगल में अवैध घुसपैठिए हो जाते हैं जिसमें वे पीढ़ियों से रहते आए हैं। यहां तक कि छोटी आवश्यकताओं जैसे कि ईंधन के लिए लकड़ी या अपने पशुओं के लिए चारे के लिए भी वे वन रक्षक की दया पर निर्भर हो जाते हैं। मथवाड़ परिक्षेत्र में, वन विभाग के कर्मचारियों ने इस अधिनियम का उपयोग लोगों पर आतंक फैलाने के लिए किया था। आदिवासियों को नियमित रूप से वन रक्षकों को चिकन, अंडे, घी, अनाज और दालें उपलब्ध करानी पड़ती थीं और घर बनाने या मरम्मत के लिए लकड़ी की जरूरत पड़ने पर रिश्वत भी देनी पड़ती थी। हालाँकि, मुख्य समस्या "नेवाड़" या अतिक्रमित वनभूमि की खेती को लेकर थी। यह स्पष्ट रूप से कानून के खिलाफ था लेकिन बड़ी रिश्वत के बदले में वन विभाग के कर्मचारियों द्वारा वन भूमी में खेती करने की अनुमति दी गई थी। इस प्रकार, लोग वर्षों से वनभूमि की खेती कर रहे थे, जिसका कोई भी आधिकारिक रिकॉर्ड नहीं था। इस भूमि में से कुछ पर से 1949 में बंदोबस्त सर्वेक्षण के समय आदिवासियों को बेदखल कर दिया गया था। कुछ पर खेती तब शुरू की गई थी जब ठेकेदारों ने पेड़ों को काटकर भूमि को साफ कर दिया था। अधिकांश नेवाड़ की खेती 1970 के दशक के उत्तरार्ध में शुरू की गई थी। जनसंख्या वृद्धि के कारण भूमि पर बढ़ता दबाव को देखते हुए, आदिवासियों के पास इस भूमि पर खेती करने के अलावा कोई विकल्प नहीं था। वन

विभाग के कर्मचारियों ने रिश्वत लेकर उन्हें अनौपचारिक और अवैध रूप से ऐसा करने की अनुमति दी। लेकिन एक समय के बाद यह रिश्वत और पिटाई आदिवासियों के लिए बहुत असहनीय बन गई।

उमराली क्षेत्र जैसे ही यह समस्या और जटिल इसलिए बन गई क्योंकि गाँव के मुखियाओं ने वन विभाग के कर्मचारियों से हाथ मिलाया था अपने गाँव वालों के शोषण और अत्याचार में। उन्होंने वन विभाग से प्राप्त शक्ति का उपयोग शेष ग्रामीणों को बंधन में रखने के लिए किया और उनके आकाओं को दिए गए रिश्वत से एक छोटा हिस्सा कमाया। वन कर्मचारियों की शक्ति ऐसी थी कि ग्रामीणों को झुकना पड़ता था और जब भी वे वहां से गुजरते थे, "राम राम" से सम्बोधन करना पड़ता था। ऐसा करने में विफलता का मतलब था मार खाना। आदिवासियों को अछूत माना जाता था और वन कर्मचारियों के लिए अलग बर्तन मुखिया पटेल के घर पर रखा जाता था, जहाँ वन विभाग के कर्मचारियों के लिए विशेष रूप से भोजन पकाया जाता था। जब वे पहुंचे तो वे चारपाई या लकड़ी के तख्तों पर शाही अंदाज में बैठते थे।

इसका मतलब था कि ग्रामीणों को अपने अधिकारों के लिए संगठित करना एक कठिन काम था। खेमराज और अमित खुद को तब भाग्यशाली मानते थे जब उन्हें एक या दो ग्रामीण मिलते जो उनसे बात करने के लिए भी तैयार थे। हालाँकि, उनमें से कोई भी बड़ी बैठकों में भाग लेने के लिए तैयार नहीं था। जल्द ही यह बात फैल गई कि भीली भाषा बोलने वाले दो अजीब बजारिया, जो ग्रामीणों के बर्तनों में खाते थे और यहां तक कि जमीन पर उनके साथ बैठते थे, एक गांव से दूसरे गांव घूम रहे थे। ऐसी भी अफवाहें थीं कि ये लोग वास्तव में बुरी आत्माएं थे, जो आदिवासियों की झोपड़ियों की कवेलु को हटाकर रात में घरों में घुसकर तमाम तरह के नुकसान कर रहे थे!

चूंकि अट्ठा गुलाब का गाँव था, इसलिए वहाँ कुछ लोग संगठन में रुचि दिखायी। छोटी गेंदरा और मनखड़ा के आसपास के गाँवों के कुछ लोगों ने भी कुछ दिलचस्पी दिखाई। छोटी गेंद्रा का पटेल सामान्य मुखियाओं की तुलना में एक अपवाद साबित हुआ। कुछ शुरुआती हिचकिचाहट के बाद, उन्होंने तय किया कि दोनों कार्यकर्ताओं के इरादे अच्छे है और वन विभाग के दबाव को अमान्य कर खेमराज और अमित को सरकारी प्राथमिक विद्यालय के दो कमरों में से एक में रहने के लिए आमंत्रित किया। स्कूल के शिक्षक दूसरे कमरे में रह रहा था। बच्चे बरामदे में बैठकर पढ़ाई करते थे। भले ही शिक्षक कुछ दस वर्षों से वहाँ रह रहा था लेकिन वह प्राथमिक स्तर के बोर्ड परीक्षाओं में एक भी छात्र को उत्तीर्ण नहीं करा पाया था। कार्यकर्ताओं ने जिस तरह का काम किया था, उसके बारे में वे पहले ही सुना था और इसलिए उनके साथ रहने के बारे में आशंकित था। ऐसा न हो कि और मुसीबत खड़ी हो जाए। हालाँकि, इस दूर जंगल में हिंदी भाषी शहरी संगत के लिए उसकी चाहत के कारण वे खेमराज और अमित को स्कूल में शरण दे दिया।

तीनों गांवों में साप्ताहिक बैठकें शुरू हुईं और उच्च अधिकारियों के साथ वनभूमि की खेती का मामला उठाने के लिए एक आम सहमति बनी। तीन आदिवासियों के एक प्रतिनिधिमंडल ने कार्यकर्ताओं के साथ झाबुआ में वनमंडलाधिकारी से मिलने का फैसला किया।

हालाँकि, जिस दिन प्रतिनिधिमंडल को झाबुआ के लिए रवाना होना था, तीनों आदिवासियों ने मुकर गए और कार्यक्रम रद्द हो गया। समय बीत रहा था। 1984 के बारिश के मौसम निकट आ रहा था और वन रक्षकों ने पहले ही चेतावनी दी थी कि जब तक उन्हें मोटी रिश्वत नहीं दी जाती, किसी को भी अपनी नेवाड़ पर खेती करने की अनुमति नहीं दी जाएगी। अट्ठा का लालिया, जिसे एक साल पहले इतना पीटा गया था कि गुदा से आंतरिक रक्तस्राव हुआ था और वन रक्षक की रिश्वत और डॉक्टर की फीस, दोनों का भुगतान करने के लिए अत्यधिक ब्याज पर पैसा उधार लेना पड़ा था, बैठक में बताया की अगर लोग कुछ नहीं करेंगे तो वो आत्म हत्या कर लेगा क्योंकि न तो उसके पास पैसा था और न ही वह फिर से मार कहा सकता था। उनकी हताश स्थिति को देखते हुए एक और प्रतिनिधिमंडल झाबुआ जाने के लिए तैयार हुआ। वे झाबुआ पहुँचकर वनमंडलाधिकारी से मिले। अधिकारी ने यह मानने से इनकार कर दिया कि माथवाड़ में वन भूमि पर बहुत सारे अतिक्रमण हैं, क्योंकि रिकॉर्ड में मथवाड़ वन परिक्षेत्र में केवल दो अतिक्रमणकर्ता दर्ज थे। उन्होंने यह मानने से भी इनकार कर दिया कि उनके कर्मचारी आदिवासियों के साथ अमानवीय और गैरकानूनी व्यवहार कर रहे थे। खेमराज ने आगाह किया कि अगर वह खुद अट्ठा आकर परिस्थिति का जायज़ा नहीं लिया तो वे प्रदर्शन शुरू करेंगें और उच्च अधिकारियों से संपर्क करने के लिए मजबूर होंगे।

यह एक झांसा था; लोगों को इतना संगठित या बहादुर नहीं बनाया गया था की वह आंदोलन शुरू कर सके। पर खेमराज की प्रतिष्ठा, जो पहले अट्ठावा बांध में मजदूरों की हड़ताल से स्थापित हुई थी, काम आ गई और स्थिति की जांच के लिए वनमंडलाधिकारी मथवाड़ आने के लिए राजी हो गया। यह निर्णायक मोड़ साबित हुआ। जो आदिवासी वनमदलाधिकारी को मिलने गए थे, वे वापस आए और लोगों को बताए कि कैसे वे वनमंडलाधिकारी के साथ आमने-सामने कुर्सी पर बैठे थे और उन्होंने उनके साथ बहुत ही सहजता से बात की थी और उन्हें चाय और बिस्किट भी दिए थे। उन्होंने कहा कि उच्च अधिकारी बहुत बेहतर थे और केवल मथवाड़ में कर्मचारी जानवर जैसे थे। यह बात फैल गई कि लोगों की समस्याओं को सुनने के उद्देश्य से वनमंडलाधिकारी परिक्षेत्र मुख्यालय बखतगढ़ में आ रहा था। गुलाब ने एक कदम आगे बढ़ते हुए घोषणा की कि उस दिन खेती करने वाले उन सभी लोगों के नाम दर्ज किए जाएंगे और जो इस बैठक में अनुपस्थित रहेंगे वे भविष्य में खेती के लिए पंजीकृत नहीँ होंगे।

नियत दिन पर, सैकड़ों लोग नेवाड़ के बारे में अपने दावों को पेश करने के लिए और स्थानीय वन विभाग के कर्मचारियों के दमनकारी व्यवहार के बारे में शिकायत करने के लिए बखतगढ़ में एकत्र हुए। कुछ पटेल इस लामबंदी के खिलाफ थे और वे स्थानीय विधायक को सूचित किया था जो जल्द ही पहुंचे और लोगों से कहा कि बजारिया कार्यकर्ताओं को सुनने और उनसे संपर्क नहीं करने के लिए लोगों को डांटना शुरू कर दिया। लोग जवाब में उससे पूछा कि क्या वह इतने दिन सो रहा था और क्या यह उसकी ज़िम्मेदारी नहीं थी कि वह आए और देखे कि उसका मतदाता ठीक है या नहीं। यह बहसाबहसी लोगों के मन से सभी हिचकिचाहट और भय को दूर कर दिया। दशकों के कष्टों और अपमानों से जमा हुआ सभी क्रोध एक साथ फूट पड़े। एक के बाद एक आदिवासी लोग वन विभाग के कर्मचारियों पिछले कई दशकों से किया गया दमन के घिनौने इतिहास का वर्णन किया। लोग विशेष

रूप से वन रक्षकों के बदले हुए तेवर को देखकर बड़े खुश हुए। जिन्हें वे जंगल के स्वामी के रूप में देखते थे वे उच्च अधिकारी के सामने अपने हाथों को अपनी पीठ के पीछे मुड़े हुए खड़े थे और एक शब्द भी कहने में असमर्थ थे।

बैठक से कुछ भी ठोस नहीं निकला। वनमंडलाधिकारी ने घोषणा की कि वह वन भूमी का अतिक्रमण को जारी रखने की अनुमति नहीं दे सकता क्योंकि यह कानून के खिलाफ है। पर उन्होंने स्वीकार किया कि वन रक्षकों की दुर्व्यवहार को रोका जाएगा और किसी को पीटा नहीं जाएगा या रिश्वत देने के लिए मजबूर नहीँ किया जाएगा। तब लोगों ने विधायक पर दबाव बनाया कि वे नेवाड़ की खेती को वैध कर दें, क्योंकि उनके बिना वे जीवित नहीं रह सकते थे। विधायक ने एक कमजोर आश्वासन दिया कि वह समस्या के बारे में वन मंत्री से बात करेंगे।

बैठक की सफलता ने चुप्पी की संस्कृति को तोड़ दी और पहले की तुलना में मथवाड़ क्षेत्र में आदिवासियों की जुबान को खोल दी। इससे जमीनी स्तर की लोकतांत्रिक प्रक्रिया शुरू हो गई। चूंकि कई गांवों के लोग बैठक के लिए आए थे, इसलिए उन्होंने भी संगठन की शक्ति को देखा और महसूस किया कि खेमराज और अमित फालतू की बातें नहीं कर रहे थे। दोनों कार्यकर्ताओं को जल्द ही दूसरे गाँवों में सभाएँ करने के लिए निमंत्रण मिलने लगे।

हालाँकि परिस्थितियाँ अच्छी नहीं थी। जैसा कि उम्मीद की जा रही थी वन विभाग के कर्मचारियों ने इन घटनाओं को अच्छी नजर से नहीं देखा। उन्होंने गांवों का दौरा करना शुरू कर दिया और धमकी दी कि लोग नेवाड़ की खेती करने के बारेमें बैठक में भाग लेने गए तो गंभीर परिणाम भुगतने पड़ेंगें। इन धमकियों के बावजूद, बारिश आने पर अट्टा, गेंड्रा, मनखरा और मथवाड़ जैसे गाँवों में लोगों ने अपनी नेवाड़ के खेती की बुवाई की। उन्होंने यह भी सुनिश्चित करने के लिए दल गठन किया कि वन रक्षक उन्हें भयभीत न करें। खेमराज केंद्र में रहे, जबकि अमित पूरे क्षेत्र की देखरेख के लिए मथवाड़ गए।

एक दिन गोंदवानी गाँव से खबर आई कि वन अधिकारियों के एक दल ने कुछ लोगों को गिरफ्तार किया है और उन्हें अट्ठा के परिक्षेत्र कार्यालय लाया गया है। खेमराज और कुछ अट्ठा के ग्रामीण जानकारी के लिए परिक्षेत्र कार्यालय गए।

जैसे ही खेमराज दफ्तर में दाखिल हुआ दरवाजा बंद कर दिया गया और वन अधिकारी खेमराज को लाठियों से पीटने लगे। उन्हें बुरी तरह से पीटा गया और सिगरेट से जलाया गया। उससे कहा गया की वह "नेतागिरी" बंद कर वहाँ से चले जाए। उसे बताया गया की अभी तो कम ही पीटा गया है बाद में जान से ही मार दिया जाएगा। उन्होंने बाहर इंतजार कर रहे आदिवासियों को बुलाया जिन्होंने डरते हुए खेमराज की चीखें सुनी थीं। आदिवासियों से कहा गया कि वह उसे ले जाएं। तुरंत, अमित और खेमला को खबर भेजी गयी।

शाम को अमित पहुंचे, और अगली सुबह, लोगों का एक दल घायल खेमराज को झोली में डाल कर अलीराजपुर के लिए निकाल पड़ा। वन अधिकारियों ने अट्ठा में उन्हें रोका पर इस समय खेमला धनुष

और तीर से लैस अपने आदमियों के साथ उमराली से पहुँच और अधिकारियों को सड़क से दूर धकेल दिया। वहां से चीजें तेजी से आगे बढ़ीं। अलीराजपुर में वन अधिकारियों के खिलाफ एक पुलिस शिकायत दर्ज की गई और खेमराज पर उनके हमले की खबर ने प्रचार माध्यमों में सुर्खियां बटोरी। सरकार के भीतर और बाहर समर्थन नेटवर्क सक्रिय हुए। लाल टोपी अंदोलन के पतन के लगभग एक दशक बाद, अलीराजपुर में आदिवासियों द्वारा एक रैली निकाली गई। वन अधिकारियों को निलंबित कर दिया गया और सरकार ने मथवाड़ वन परिक्षेत्र के आदिवासियों की समस्याओं की जांच करने का आदेश दिया।

इस घटना ने दो महत्वपूर्ण तरीकों से संगठन प्रक्रिया को बढ़ावा दिया। इसने भारतीय संविधान का उदार लोकतांत्रिक अधिकार ढांचे को मथवाड़ क्षेत्र तक बढ़ा दिया, जो इसके पहले इसके बाहर रखा गया था। इस प्रकार यह वन और पुलिस अधिकारियों की मनमानी पर एक प्रभावी रोक लगाया। इससे भी महत्वपूर्ण बात, इसने आदिवासियों को यह महसूस कराई कि कार्यकर्ता भरोसेमंद और शक्तिशाली लोग थे जो उनके अधिकारों की लड़ाई में जंगल और पुलिस अधिकारियों की ताकत का मुकाबला कर सकते थे।

एक बार जब उन्हें लगा कि कार्यकर्ताओं का नेतृत्व विश्वसनीय और प्रभावी है, तो अलीराजपुर के प्रकृति के संतान फिर से अपने अधिकारों के लिए लड़ने के लिए संगठित होने लगे। 1960 के दशक के उत्तरार्ध और 1970 के दशक की शुरुआत में पश्चिमी भारत में आदिवासी जन आंदोलनों का उदय हुआ था, जिसमें भीलों ने अपने संसाधन आधार से वंचित होने और आधुनिक अर्थव्यवस्था में सीमानतिकृत होने का विरोध किया था। महाराष्ट्र के ठाणे जिले में भूमि सेना और उसी राज्य के नंदुरबार जिले में श्रमिक संगठन इस मामले में उल्लेखनीय हैं। श्रमिक संगठन का कार्यक्षेत्र मथवाड़ के पास नर्मदा नदी के पार था। इसलिए खेमराज, अमित और खेमला ने कुछ अन्य आदिवासियों के साथ, शहादा में श्रमिक संगठन के कार्यालय में उनसे मिलने नदी पार करके जाने का फैसला किया।

शाहादा पहुंचने पर, वे महान आदिवासी नेता और कवि वाहरु सोनवणे से मिलने में भाग्यशाली थे। उन्होंने गर्मजोशी के साथ उनका स्वागत किया और उन्हें एक उठाई हुई मुट्ठी के साथ "जिंदाबाद" कहते हुए अभिवादन किया। "राम राम बहुसंख्यक हिंदू आबादी का पारंपरिक अभिवादन है जो उनके भगवान राम के नाम का आह्वान करता है," वाहरु ने बताया। क्योंकि यह बाजारीयों और शोषकों का अभिवादन था इसलिए इसे त्यागकर आदिवासियों की संगठित शक्ति का प्रतीक के रूप में नमस्कार में हाथ-जोड़ने के विपरीत मुट्ठी उठाकर ज़िन्दाबाद कहना है। अभिवादन का अर्थ है कि आदिवासी एक सम्मानजनक जीवन के लिए लड़ रहे है। इतिहास के उन महान संघर्षों को याद करते हुए, जिसमें गैर-आदिवासियों के खिलाफ लड़ाई लड़ी गई थी बंधुआ मजदूरी को खत्म करने और अपनी ज़मीनों को मुक्त कराने, वाहरु ने अपनी अनोखी शैली में नृत्य किया और गाया:

नाकेदार आवे कुकरी मांगे रे (वन रक्षक मुर्गे की माँग करते हुए आते हैं)
वाघ न वासरा आमु आदिवासी रा (हम आदिवासी बाघ के बच्चे हैं)
हाईं जुनी आपता रा, हाईं जुनी आपता रा (अब और रिश्वत मत देना)

अध्याय 6 - खोया हुआ स्वर्ग

शाहादा की यात्रा कार्यकर्ताओं के लिए उत्साहवर्धक साबित हुई और वे अलीराजपुर में न्याय के लिए अपनी लड़ाई को आगे बढ़ाने हेतु नए जोश के साथ लौटे। लौटने पर उन्होंने एक सामूहिक बैठक बुलायी और घोषणा की कि अब से वे एक दूसरे को "जिंदाबाद" कहकर अभिवादन करेंगें। कई साल बाद मैंने वाहरु से पूछा था कि उन्होंने अधिक लोकप्रिय "इंकलाब जिंदाबाद", जिसे स्वतंत्रता सेनानी और क्रांतिकारी भगत सिंह द्वारा सर्व प्रथम इस्तेमाल किया गया था और बाद में साम्यवादियों द्वारा लोकप्रिय बनाया गया था, के बजाय सिर्फ जिंदाबाद क्यों चुना। वाहरु ने कहा कि भूमि सेना और श्रमिक संगठन दोनों ने ही भारतीय साम्यवादी पार्टी के नेतृत्व वाले किसान मोर्चों के काम करने के तरीके, जो आदिवासी जीवन शैली और संस्कृति की विशिष्टता का सम्मान नहीं करती थीं, को नकार कर अलग प्रक्रिया विकसित किए थे। ये आदिवासी संगठन के कार्यकर्ताओं के मन में अपनी स्वयं की स्थिति के विसलेषण में मार्क्सवादी सिद्धांत और व्यवहार की प्रासंगिकता के बारे प्रश्न थे। खासकर आधुनिक भारतीय परिस्थितियों में सशस्त्र क्रांति संभव है या नहीँ इस को लेकर शंकाएं थी। परिणामस्वरूप, इंकलाब को अभिवादन से हटा दिया गया।

जब मैं 1985 में गेंदरा पहुंचा, तब तक भी वहाँ कोई औपचारिक संगठन नहीं था। न ही कोई ढांचा था। गाँवों में कार्यकर्ताओं की एक ढीला समूह था जिसे "संगठ" कहा जाता था। लोग बीच बीच में कुछ राशि जमा करते थे काम को आगे बढ़ाने के लिए, लेकिन इसके लिए कोई व्यवस्थित प्रक्रिया नहीं थी। जब कार्यकर्ता गांवों का दौरा करते बैठकें आयोजित करने के लिए तो ग्रामीणों ने उन्हें खाना खिलाया करते थे। क्योंकि कार्यकर्ता बेयरफूट कॉलेज से संबद्ध थे उन्हें कुछ राशि वहाँ से मिलता था। कोई भी वेतन नहीं लेते थे। स्थानीय यात्रा और भोजन के खर्चों को समूह द्वारा पूरा किया जाता था और गैर-आदिवासी कार्यकर्ताओं को सलाह दी जाती थी कि वे घर जाते समय किराए की व्यवस्था खुद करें और कहीं से भीख माँगकर अपने कपड़े प्राप्त करें! आदिवासी कार्यकर्ताओं को, विशेष रूप से खेमला को जिसका एक परिवार था, कुछ मानदेय प्रदान किया जाता था। नियम यह था कि कार्यकर्ताओं को गांवों का दौरा करने में अधिक से अधिक समय बिताना चाहिए। इससे भोजन पर खर्च कम होने के साथ लोगों से संपर्क बढ़ी और उन्हें बेहतर प्रशिक्षित करने में मदद मिली। यह निश्चय किया गया कि भीली संस्कृति को समझ पाने और उनकी भाषा को तेजी से सीखने के लिए मैं अट्ठा में एक आदिवासी परिवार के साथ रहूंगा।

मैं अवलसिंह के साथ अट्ठा में रहने चला गया। मैं दिन में खेत में उसके परिवार के साथ काम करता था और शाम को संगठन के सदस्यों के लिए एक शिक्षा सत्र का संचालन करता था। अवलसिंघ एक भूमिहीन किसान था और वह पूरी तरह से उस वनभूमि पर निर्भर था जिस पर उसने अतिक्रमण कर खेती कर रहा था। उनका परिवार में पत्नी खेतली और दो छोटे बच्चे थे। शाम को मैं जब उनके घर पहुँचा, वे सूखे अमारी के फूलों को ज्वार के आटे में पकाकर कढ़ी के रूप में खा रहे थे। ईसे 'फूलन खाटा' कहा जाता था। अगले दिन, दोपहर के भोजन के लिए हमें मक्की के कूटे हुए दानों का सूप पीना पड़ा। ईसे "रबड़ी" कहा जाता था लेकिन यह उसी नाम के अमीर गैर-आदिवासी मीठे

पकवान के बिल्कुल विपरीत थी। रोटी की तुलना में, खाटा या रबड़ी में बहुत कम अनाज की जरूरत होती थी इसलिए गरीबी के कारण उस समय आदिवासी लोग इसे खाते थे। मानसून के महीनों में आदिवासियों को इस तरह का खाना खाने की आदत पड़ गई थी क्योंकि इस समय उनके पास अनाज और नकदी की कमी होती थी और उन्हें साहूकारों से उधार लेना पड़ता था जब तक कि खरीफ की फसल नहीं आ जाती।

मेरे लिए यह बहुत पीड़ादायक था क्योंकि मैंने कभी ऐसा खाना खाया नहीं था। खेती में निंदाई का श्रम भी मेरे लिए नया और थकाने वाला था। मैंने खुद को सांत्वना दी कि यह ही मार्कसिय अवर्गीकरण की प्रक्रिया है जिसके तहत मेरा उच्च माध्यम वर्ग से सर्वहारा वर्ग में परिवर्तन होगा। इससे भी बुरी बात यह थी कि खेतली सुबह चार बजे उठ जाती थी और हाथ चक्की में आटा पीसना शुरू कर देती थी, जो मेरे कानों के ठीक पास रूदाली की तरह सुनाई देती थी। मैं जाग जाता था और बकरियों के मूत्र की बदबू को सूँघते हुए सुबह का इंतज़ार करता था। मेरे देहाती दीक्षा को पूरा करने के लिए मुझे सोने के लिए जो चारपाई दी गई थी उसमें खटमल थे।

गेंदरा में रह रहे कार्यकर्ताओं के लिए भी जीवन कठिन था। कोई बिजली नहीं थी और इसलिए अट्ठा में आटा-पिसाई चक्की नहीं थी। उमराली में गेहूं खरीदकर उसे साफ कर पिसाना पड़ता था और पलवी तक बस द्वारा लाकर फिर पैदल गेंदरा तक लाना पड़ता था। पंद्रह किलोग्राम आटा एक चादर में बांधकर पीठ के पीछे लादकर लाना होता था। कभी-कभी आटा खत्म हो जाता था। ऐसी स्थितियों में एकमात्र विकल्प होता था आदिवासियों के घर में जाकर मक्का या ज्वार के आटे को खुद हाथ चक्की से पीसना। यद्यपि अट्ठा और गेंद्रा में कुछ छोटी दुकानें थीं, पर उनमें अच्छे सामान नहीँ मिलते थे और इसके लिए तेरह किलोमीटर दूर छकतला के साप्ताहिक बाजार पैदल जाना पड़ता था। भोजन को लकड़ी की आग पर पकाया जाता था। लकड़ी के चूल्हे को जलाना किसी भी समय एक चुनौती है, लेकिन बारिश के दौरान जब लकड़ी गीली होती है तब यह एक युद्ध बन जाता है। बाद में, जब मेरी माँ को पता चला कि मैं लकड़ी के चुल्हे पर मक्के के आटे की रोटियाँ बना सकता हूँ और यह मैं नियमित रूप से करता हूँ, तो उन्होंने कहा कि पहली बार मुझ में उन्हें कुछ ऐसा दिखा जिसके लिए वह मेरा सम्मान कर सकती है!

इन रोटियों के साथ खाने के लिए सब्जी तवला नामक एक गोल मिट्टी के कड़ाही में पकाया जाता था, जिसमें अंदर की तरफ लाख की चिकनाई होती थी। इसके बावजूद यह पकाने के लिए उपयोग में लिए गए कुछ तेल को अवशोषित करता था। पानी को सिर पर एक घड़ा में आधा किलोमीटर दूर एक नदी से पहाड़ी चढ़कर लाना पड़ता था और इसलिए यह एक कीमती वस्तु थी। इसलिए हम भोजन के बाद इस तवले को पानी से धोते नहीं थे। इसके बजाय, हम रोटियों से सब्जी के आखिरी भाग को पोंछकर खा लेते थे और फिर से सब्जी पकाने के लिए उसे तैयार कर लेते थे। अगली बार जब हम तवले को आग पर चढ़ाते थे, तो आग की गर्मी के कारण सोखे हुए तेल को यह छोड़ देता था और हम प्याज के कटे हुए टुकड़ों को इसमें डाल कर भून लेते और फिर थोड़ा स तेल में बाकी के मसाले को तलकर तेल की बचत करते थे। आखिरकार, खाना पकाने का तेल भी छकतला से लादकर

लाना पड़ता था। तो जहां रईस लोग पुरानी शराब का लुत्फ लेते थे वहीं हम लोग पुराने खाना पकाने के तेल में तैयार भोजन पर संतोष करते थे!

अट्ठा में अवलसिंघ के यहाँ रहने की मेरी दुर्दशा से मेरा उद्धार तब हुआ जब अमित और मुझे बखतगढ़ के वन विभाग के डाक बंगले पर छापेमारी और तोड़फोड़ करने के झूठे आरोपों में गिरफ्तार किया गया । कुछ वन रक्षकों ने पच्चीस ग्रामीणों को पीटा और गिरफ्तार किया था। यह हमेशा बारिश की शुरुआत में नेवाड़ की खेती के समय होता था। हम इसके विरोध में बखतगढ़ स्थित वन परिक्षेत्र कार्यालय गए थे। वन अधिकारियों ने हमें गंदी गालियां देकर हमारे साथ दुर्व्यवहार किया और हमने ग्रामीणों की पिटाई और हमारे साथ की गई दुर्व्यवहार के विरुद्ध पुलिस ठाणे में शिकायत दर्ज कराई। हमारी शिकायत पर कार्रवाई करने के बजाय, पुलिस ने हमारे खिलाफ झूठी शिकायत दर्ज की कि हमने डाक बंगले में तोडफोड की है।

खेमराज और खेमला को हमारी गिरफ्तारी की खबर मिली और उन्होंने इसके खिलाफ तुरंत एक जुलूस निकाली और बाद में अलीराजपुर में एक धरना प्रदर्शन किया। जिला कलेक्टर ने गिरफ्तार लोगों को मुचलके पर रिहा कर दिया और अतिक्रमित वन भूमि पर लोगों द्वारा की जा रही खेती को जारी रखने का आश्वासन दिया।

जल्द ही हमने अन्य मुद्दों जैसे साहूकारों द्वारा अत्यधिक ब्याज की वसूली, ग्रामीण विकास में भ्रष्टाचार, पुलिस द्वारा मानवाधिकारों के उल्लंघन और नर्मदा नदी पर बनाए जा रहे सरदार सरोवर बांध के निर्माण के खिलाफ संघर्ष किया। हमने केवल संघर्ष ही नहीं बल्कि निर्माण या रचनात्मक विकास में भी काम किया। संयुक्त वन प्रबंधन, जलग्रहणक्षेत्र विकास, भीली भाषा में प्राथमिक शिक्षा, होम्योपैथी के माध्यम से प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा, स्वयं सहायता समूहों का गठन, सहकारी समितियों का संचालन और स्वदेशी कृषि बीज और प्रथाओं के संरक्षण में प्रयोग किया। एक लंबी और विस्तृत प्रक्रिया के बाद, 1991 में, संगठन को एक औपचारिक ढांचा दिया गया और इसे 'खेड़त मजदूर चेतना संगठ' (खे.म.चे.स.) नामक व्यावसायिक संघ के रूप में पंजीकृत किया गया। खेमचेस की प्रसिद्धि दूर दूर तक बढ़ गई और इसलिए इसमें काम करने वाले गैर-आदिवासी कार्यकर्ताओं की संख्या बढ़ गई। 1993 में एक समय आठ ऐसे कार्यकर्ता अलीराजपुर में काम कर रहे थे। 1983 से एक दशक के भीतर खेमचेस ने राष्ट्रीय स्तर पर अपने काम से प्रभाव डाला।

जब मैं पहली बार अलीराजपुर आया था तब मेरे अंदर काफी मात्रा में आधुनिकतावादी घमंड था कि मैं आदिवासियों को वह कौशल सिखाऊँगा जिससे कि वह आधुनिक आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं में अपनी जगह बना सकेंगें। बाद में मैं उन्हें दिखाऊंगा कि कैसे व्यवस्था उनके खिलाफ है और कैसे वह इसमें बदलाव ला सकते है। मैंने अपने अंतिम लक्ष्य यह बनाया था कि आदिवासियों के अपने जमीनी स्तर के सशक्त जन संगठन बन जाए जो राज्य व्यवस्था को चुनौती दे सके। पर जल्द ही आदिवासियों की प्रकृति प्रेमी सुकून से जीने की विश्वदृष्टि ने मेरी प्रवृत्तियों को बदल दिया। मैंने अपने आधुनिकतावादी अधीरता को त्याग दिया और ज़िंदगी और संगठन को अपनी गति से चलने के लिए छोड़ दिया। अलीराजपुर में बिताए हुए दस साल मेरे जीवन के सर्वश्रेष्ठ थे।

भीलों की ज़िंदगी में एक तरफ कड़ी मेहनत है तो दूसरी तरफ मज़ा है। इसके अलावा, वे छोटे तुलनात्मक रूप से समतावादी (महिलाओं से संबंधित मामलों को छोड़कर) सामाजिक इकाइयों में रहने के लिए संसाधनों और श्रम को मिल बांटकर जीते है। इस प्रकार वे पारंपरिक रूप से अराजकतावादी यानि राज्य व्यवस्था से मुक्त छोटे समूहों में रहने वाले लोग हैं।

नर्मदा नदी के तट पर स्थित जलसिंधी गाँव में एक सुन्दर स्थान हुआ करता था जिसे सरदार सरोवर बाँध का जलाशय स्थायी रूप से डूबा दिया है। सर्दियों के दौरान, जब नदी के तट पर चट्टानें निकल आती थी तो एक जगह में विशाल पैरों के निशान देखने को मिलते थे जिन्हें "दबालिया" कहा जाता था। इन के पास एक गहरा गड्ढा था और उसके बगल में एक लंबी पतली चट्टान खड़ी थी। आदिवासियों का कहना था कि यह वह स्थान था जहाँ देवताओं ने एक बार उत्सव मनाया था। उन्होंने गड्ढे को ऊखल बनाकर उसमें मक्के को लंबी पत्थर का मूसल से कूटा था। फिर वे महुआ के शराब पीकर नाचते थे और इसलिए चट्टानों में उनके पैरों के निशान थे। नर्मदा यहाँ एक झील की तरह बन जाती थी क्योंकि नदी में बहुत गहराई थी। इसलिए सर्दियों और वसंत में आदिवासी अक्सर इस बड़ी झील में मछली पकड़ने के लिए जाते थे। वे लकड़ी से बनी अपनी नावों में मछली पकड़ते थे और देवताओं को पूजने के लिए भी आते थे। गाँवों में अपनी यात्राओं के दौरान, मैं ठंड के मौसम में हर वर्ष इस जगह पर जरूर जाता था और इस झील में तैरता था। मैं आदिवासियों के साथ मछली के लिए चारा के रूप में टिडडें और केंचुओं को पकड़ता था, फिर नदी में मछली पकड़ने के लिए रस्सी में इन्हें गूथ कर बिछाता था और शाम को पकड़ी हुई मछली को लकड़ी की आग पर पकाकर खाता था। रातें विशेष रूप से सुंदर होंती थी, क्योंकि आदिवासी लोग रांथा या एक प्रकार के वायलिन की संगत के साथ खुले आकाश के नीचे अलाव के आसपास गीत गाकर नाचते थे।

टिड्डे से जुड़ी एक घटना मेरे दिमाग में आज भी ताजी है। संगठ की केंद्रीय समिति की मासिक बैठक एक बार इस स्वर्ग जैसे स्थान पर आयोजित की गई थी। दिन में तैराकी और मछली पकड़ने और सुंदर रात्रिभोज के बाद, हम रात में संगठ के संजीदा काम में व्यस्त हुए। बांध-विरोधी संघर्ष उस समय अपने चरम पर था, और हम भविष्य की रणनीति पर गंभीर चर्चा कर रहे थे। खेमला, हमेशा की तरह, बैठक के बीच में जोश में उठे और कहा कि यदि सरकार गरीब आदिवासियों के लिए उचित पुनर्वास प्रदान नहीं कर सकती है, तो उनके पास बांध को उड़ाने के अलावा कोई विकल्प नहीं होगा। इससे पहले कि हम बाकी लोग इस बमबारी की घोषणा पर प्रतिक्रिया दे पाते, खेमला का स्वागत मेंढकों के चिल्लाचोट से हुआ जो लगातार जारी रहा। जब हमने इस के कारण ढूंढा तो हमने पाया कि मेंढकों ने उस बांस की टोकरी को पलट दिया था जिसमें मछली पकड़ने के टिड्डें रस्सी में गुथकर रखे गए थे और टिड्डों को निगल गए थे! हालांकि, टिड्डें मेंढकों के गले में फंस गए थे और इसलिए उन्हें खेमला के समर्थन में बिगुल बजाने के लिए मजबूर किया था! बैठक को समाप्त करना पड़ा क्योंकि हम सभी लोग हँसने लगे। हमारे आदिवासी साथी जो लंबे समय तक गंभीर चर्चा करने से कतराते है, अपने पारंपरिक गीत गाकर अलाव के आसपास नृत्य करने लगे। वह एक स्वर्ग था जो हमेशा के लिए हम ने खो दिया है।

वह समय मेरे जीवन का सबसे अच्छा होने का एक और कारण हमारे समूह की मजेदार कार्य प्रणाली थी। हमें जल्द ही एहसास हुआ कि राज्य की नीतियों में किसी भी महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने के लिए बहुत कम गुंजाइश थी। ज्यादा से ज्यादा हम राज्य व्यवस्था में आदिवासियों की भागीदारी को सुगम बना सकते थे और एक हद तक भ्रष्टाचार को कम कर सकते थे। जैसा कि हमारे एक शुभचिंतक ने एक बार हमें बांध-विरोधी संघर्ष के शुरुआती चरणों में बताया था, "आप लोग कुल ढाई लोग हो और फिर भी एक साथ भारतीय राज्य और विश्व बैंक को चुनौती देने के दम भर रहे हो"! वास्तव में, शुरुआती चरणों में नौकरशाहों के समर्थन के बिना, हम संगठन को बना नहीं पाते। मेरे लिए, शुरू में यह एक निराशाजनक परिस्थिति थी क्योंकि मैं सोचता था कि जन-विरोधी राज्य व्यवस्था को उखाड़ फेंकना आवश्यक है। पर यह वास्तविकता कि हम ऐसे लोगों के साथ काम कर रहे थे जो आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से पूर्व-पूंजीवादी स्थिति में थे और जिनहें बुनियादी उदार लोकतांत्रिक अधिकार ही हासिल नहीं हुए थे, मुझे संविधान के दायरे के भीतर काम करने के लिए बाध्य किया।

1990 के दशक की शुरुआती वर्षों तक हमने अपने कार्यों में ज्यादातर सफलता हासिल की क्योंकि हम ऐसे लोगों के बीच काम कर रहे थे, जो बुनियादी आर्थिक और सामाजिक अधिकारों से बुरी तरह वंचित थे। एक काम को मैं हमेशा याद रखूंगा जिसके तहत हम भाग पर खेती कर रहे किसानों को जमीन का हक दिलाया था। मथवाड़ के पूर्व राजा, जिन्होंने शुरू में यह दावा किया था कि वह अभी भी इलाके का राजा है, अपने ज़मीनों को आदिवासी किसानों को भाग पर दिया था। ये गरीब भूमिहीन आदिवासी उससे बहुत डरे हुए थे और न केवल उपज के हिस्से के दसवें हिस्से के लिए काम करते थे बल्कि बखतगढ़ में राजा के महल में भी बेगार करते थे। मैंने उनके साथ नियमित बैठकें की और उन्हें समझाने की कोशिश की कि समय बदल गया है और वे आसानी से उनके द्वारा जोती जा रही भूमी के स्वामी बन सकते हैं। एक दिन मैंने उन सभी को अलीराजपुर ले गया और मध्य प्रदेश भू राजस्व संहिता के प्रावधानों के तहत भूमी पर अधिकार पाने के लिए आवेदन दायर किया। एक सक्रिय दलित भा.प्र.से. अधिकारी की मदद से, जो अलीराजपुर के तत्कालीन अनुविभागीय दंडाधिकारी थे, बखतगढ़ के राजा की ज़मीनों को आदिवासियों के नाम कर दिया।

जीवन समस्याओं से भरा है और अच्छी स्थितियाँ लंबे समय नहीं टिकती हैं, खासकर गरीबों के लिए लड़ने वालों के लिए। खेमराज शादीशुदा थे और उनकी पत्नी अनीता तब गर्भवती थीं जब मैं पहली बार उनसे तिलोनिया में मिला था। अनीता ने अस्थायी रूप से तिलोनिया में महिलाओं के विभाग में काम लिया था, क्योंकि उनके लिए अपनी गर्भावस्था के दौरान गेंदरा में रहना संभव नहीं था। लेकिन एक बार जब उनका बेटा घुटने के बाल चलने लगा, तो वह 1986 में अलीराजपुर आई। तब तक, हमने अट्ठा में एक बड़ा घर बना लिया था, जो हमारा कार्यालय-सह-निवास था। लेकिन खेमराज और अनीता को उनकी ज़रूरत की निजता देने के लिए यह काफी नहीं था। खर्चों की समस्या भी थी। हमारी वित्तीय स्थिति ऐसी नहीं थी की खेमराज और अनीता एक साधारण मध्यमवर्गीय जीवन जी सके। इसलिए खेमराज और अनीता के लिए अट्ठा में रहना मुश्किल हो गया। अनीता ने नेहरू युवा केंद्र के समन्वयक के रूप में नौकरी ली और खेमराज ने बच्चे की देखभाल करने के लिए उसके साथ चला गया। खेमराज जाने के समय दुखी था, लेकिन उसे जीवन की वास्तविकताओं से उसी तरह

समझौता करना पड़ा जैसे बाद में अमित और मुझे करना पड़ा। 1989 में, अमित ने जयश्री से शादी की, जो महाराष्ट्र से नर्मदा बचाओ आंदोलन में भाग लेने के लिए घाटी में आए थे। उन्हें भी खेमराज और अनीता की तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ा और काफी समय तक अलीराजपुर और दिल्ली के बीच आते जाते रहे। वे दिल्ली में महीनों पैसा कमाते थे और फिर अलीराजपुर आ जाते थे और वहां कुछ समय तक काम करते थे। फिर 1995 में उनके बच्चे भी हुए और उन्हें अलीराजपुर से हमेशा के लिए जाना पड़ा। अन्य गैर-आदिवासी कार्यकर्ताओं में से कुछ ने इसी तरह के कारणों और कुछ और बेहतर मानधन देने वाले काम करने के लिए अलीराजपुर से चले गए।

शंकर ने भी 1989 में शादी की और जल्द ही उनके बच्चे हो गए। गैर-आदिवासी कार्यकर्ता अगर चाहें तो अलीराजपुर से बाहर निकल सकते थे लेकिन यह विकल्प आदिवासी कार्यकर्ताओं के लिए उपलब्ध नहीं था। इसलिए हमें एक साथ बैठकर उनके लिए कुछ प्रावधान करना पड़ा। यह निर्णय लिया गया कि आदिवासी कार्यकर्ता अपने परिवारों की जरूरतों को पूरी करने के लिए पर्याप्त रूप से मानधान लेंगे और गैर-आदिवासी कार्यकर्ता पहले की तरह बिना वेतन के काम करना जारी रखेंगे। यदि बड़े पैमाने पर समाज में नहीं, तो कम से कम हमारे समूह के भीतर, हम "अपनी क्षमता के अनुसार प्रत्येक से काम और उसकी आवश्यकताओं के अनुसार प्रत्येक को मानदेय" के साम्यवादी आदर्श को लागू करने में सफल हुए थे। इसका मतलब था की अलीराजपुर में संगठन को चलाने के लिए पैसों की जरूरत थी। चूंकि बेयरफूट कॉलेज इसका पूरा वित्तीय भार वहन करने के लिए तैयार नहीं था, इसलिए हमें धन के अन्य स्रोतों की तलाश करनी पड़ी। 1990 में इस महत्वपूर्ण मोड़ पर, बाबा आमटे ने नर्मदा बचाओ आंदोलन में शामिल हुए और बड़वानी शहर के पास नर्मदा नदी के तट पर अपना निवास स्थापित किया। वह एक बहुत ही संवेदनशील व्यक्ति थे और लंबे समय से सामाजिक कार्यकर्ता होने के नाते, वह जानते थे कि उनकी मुख्य समस्या हमेशा धन की कमी होती है। उनहोंने एक दिन खबर भेजी कि मैं उनसे जाकर मिलूँ। जब मैं कसरावद गांव में उनकी नदी के किनारे की झोपड़ी में गया, तो उन्होंने मुझसे कहा कि वे समय-समय पर हमारी कुछ वित्तीय मदद करना चाहते हैं। मैंने खुशी से इस प्रस्ताव को सहमति दे दी।

फिर बेयरफूट कॉलेज ने 1993 में हमारे वित्तीय समर्थन पूरी तरह बंद कर दी। इससे स्थिति बहुत खराब हो गई। किसी तरह हमने इधर उधर से पैसे जुटाकर कुछ समय के लिए काम चलाया। श्रुति नामक संस्था ने हमारी मदद की। श्रुति पहले ही 1987 से खेमला को मानदेय प्रदान कर रहा था, लेकिन अब उन्होंने संगठन को पूरी तरह से वित्तीय अनुदान देने का प्रस्ताव रखा ताकि संगठन व्यवस्थित काम कर सके। श्रुति ने पश्चिमी मध्य प्रदेश के कई आदिवासी जन संगठनों को वित्त पोषण करके एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ईससे आदिवासी अधिकारों की रक्षा में एक व्यापक और निरंतर चुनौती राज्य की दमनकारी नीतियों को दी गई।

अंत में, मुझे 1994 में अलीराजपुर छोड़ना पड़ा। मैंने 1993 में अपने सहयोगी सुभद्रा खापड़े से शादी की, जो पड़ोस में धार जिला में सामूहिक संगठन एकता परिषद के साथ काम करने वाले कार्यकर्ता थे। सुभद्रा ने जोर देकर कहा कि मैं पारंपरिक पितृसत्तात्मक रीति-रिवाज को तोड़कर अलीराजपुर में अपना

काम छोड़ कर उसके साथ काम करूं। लेकिन, उनके सहयोगियों ने मेरे उनके साथ जुड़ने के प्रस्ताव को पसंद नहीं किया और उनके कार्य क्षेत्र में हमारे रहने पर आपत्ति जताई। इसलिए हमें अपने भावी जीवन और कार्य योजनाओं को पूरा करने के लिए 1994 में इंदौर जाना पड़ा। इससे भी समस्या खड़ी हो गई थीं कि मैं मलेरिया से बार बार आक्रांत हो रहा था, जो हर दो महीने में मुझे बीमार कर रहा था। इंदौर में डॉक्टरों ने मुझे बताया कि अलीराजपुर एक मलेरिया ग्रस्त क्षेत्र है और मैं उससे बहुत संक्रमित हो गया था। उनके अनुसार, कम से कम एक साल के लिए एकमात्र उपाय मलेरिया-रोधी उपचार और फील्डवर्क से दूर रहना ही था।

इसके अलावा एक और कारण भी था। आदिवासी एकता परिषद (आ.ए.प) नामक संगठन का गठन राजस्थान, गुजरात, मध्य प्रदेश, और महाराष्ट्र के चार पश्चिमी भारतीय राज्यों में फैले आदिवासियों द्वारा किया गया था। आ.ए.प का मुख्य जोर यह था कि आदिवासियों के संघर्षों में गैर-आदिवासी कार्यकर्ताओं की अगुवाई की हद हो गई थी और उसे समाप्त करना चाहिए। इस नए आंदोलन के सह-संयोजक रहे वाहरु सोनोवने के कविता के शब्दों में:

हम मंच पर कभी नहीं बैठे
हमें मंच पर नहीं बुलाया गया था
हमें जमीन पर हमारी जगह बताई गई
हमें नीचे बैठने के लिए कहा गया था
लेकिन वे मंच पर बैठे रहे
और हमारे दुःखों के बारे में बातें की
हमारे दुःख हमारे ही रहे
वे कभी उनके नहीं बने।

इस आंदोलन से शंकर प्रभावित हुए और मांग करने लगे कि हम गैर-आदिवासी उनका नेतृत्व को माने या क्षेत्र को छोड़ दें ताकि वह और खेमचेस के अन्य आदिवासी कार्यकर्ता अपनी सोच के अनुसार काम कर सकें। हम इस विचार से सहमति जताते हुए अलीराजपुर से अन्यत्र काम करने चले गए। इससे मेरे अपने जीवन में काम का एक नया दौर शुरू हुआ। मैंने अपनी पत्नी सुभद्रा के साथ भील महिलाओं के बीच एक नए क्षेत्र में काम करना प्रारंभ किया जिसका परिणाम स्वरूप 2001 में महेन्डीखेड़ा में भील विद्रोह हुआ।

अध्याय 7 - पुराने मंदिरों के बदले नए मंदिर

छह साल की एक लड़की, सुभद्रा, अपने पिता के कंधे पर बैठी अमरूद खाने का आनंद ले रही थी और उसके आसपास का हलचल का मज़ा ले रही थी। उसे लग रहा था कि जिस तरह अपने पिता के कंधे पर बैठकर धमतरी के साप्ताहिक बाजार जाती थी वैसी ही यात्रा है यह। पर इस बार कुछ अलग था, क्योंकि उसके गाँव दरगाहान के सभी लोग उनके घर के सामानों से लदी बैलगाड़ियों के कारवां में उनके साथ चल रहे थे। कुछ समय पहले, जीपों और ट्रकों के एक बेड़े में सरकारी अधिकारियों का दल गांव में आया था और घोषणा की थी कि महानदी नदी पर नव निर्मित गंगरेल बांध के द्वार बंद किए जा रहे हैं। अधिकारियों ने कहा कि उन्हें गाँव खाली करना पड़ेगा और पुलिस बाल को इस आदेश का अनुपालन सुनिश्चित करने के लिए पीछे छोड़ गए।

कई अन्य लोगों की तुलना में सुभद्रा का परिवार भाग्यशाली था। उनके पिता, हालांकि दरगाहान में एक "हाली" (बंधुआ मजदूर) थे, पर उनके पास उनके खुद के गाँव जेपरा में कुछ जमीन थी जो डूब क्षेत्र के बाहर था। संयोग से, सुभद्रा का परिवार महार जाति से था, जो महान दलित नेता भीमराव अंबेडकर की भी जाती थी। इस स्थान पर महारों के पहुंचने के पीछे एक दिलचस्प इतिहास है।

अंग्रेजों ने कृषि से राजस्व जुटाने के लिए उनके महार पूर्वजों को जंगल काटकर खेती करने के लिए छत्तीसगढ़ के जंगलों में पहुँचाया था। बस्तर जिले के स्थानीय गोंड आदिवासी, पश्चिमी भारत के भीलों की तरह, चलती फिरती झूम कृषि से जुड़े थे और इस घुसपैठ का विरोध करते थे। 1910 में, गोंडों ने भूमकाल विद्रोह किया जिसे भारी दमन से दबा दिया गया था क्योंकि उनके कुछ भाइयों ने गोंडों के साथ विश्वासघात किया था। उसके बाद से अंग्रेजों ने बड़े पैमाने पर महारों को बस्तर में बसाना प्रारंभ किया।

अंग्रेजों ने मालगुज़ारी नामक एक राजस्व प्रणाली की स्थापना की और इसे बस्तर क्षेत्र में लागू किया। इस प्रणाली के तहत, मालगुज़ारों द्वारा राजस्व एजेंटों के रूप में कृषकों से लगान वसूलते थे। सुभद्रा के दादा के समय तक केवल खेती करके कर का भुगतान करना असंभव हो गया था। इसके परिणामस्वरूप, उनके छोटे बेटे देवनाथ, सुभद्रा के पिता, अपने बहनोई, जो एक मालगुजार थे, के साथ बंधुआ मजदूर के रूप में कार्यरत थे। स्वतंत्रता के बाद मालगुज़ारी प्रणाली को समाप्त कर दिया गया था, लेकिन देवनाथ को पिछले समय में लिए गए ऋणों का भुगतान करने के लिए बंधुआ मजदूर के रूप में काम जारी रखना पड़ा। हालाँकि वे खुद अनपढ़ थे पर वे अपने बच्चों को शिक्षित करने में दूरदर्शिता दिखायी और सरकारी शालाओं में उन्हें दाखिल किया। उनके सबसे बड़े बेटे ने कम उम्र में पढ़ाई छोड़ दिया और एक मजदूर के रूप में काम करना शुरू कर दिया। जबकि अगला बीटा हाई स्कूल उत्तीर्ण हुआ और 1971 में दरगाहान से विस्थापन के समय वन रक्षक के रूप में काम कर रहा था। देवनाथ ने उसके डूबे हुए घर के मुआवजे के रूप में मिलें तीन हजार रुपये इस बेटे की शादी में खर्च किए पर यह एक बुरा निवेश निकला क्योंकि बेटे ने अपने ससुराल वालों के साथ रहना चुना और देवनाथ को मदद करना बंद कर दिया।

सुभद्रा के बचपन के खुशी के दिनों का अंत हो गया क्योंकि विस्थापन के कारण हुआ विनाश की क्रुड़ वास्तविकता सामने आ गई। कई वर्षों में जैपरा में उनकी खेत पड़त पड़ी थी। चावल के खेती के लिए पानी को खेत में रखने के लिए मेड़ों को बनाने के लिए उनको दोबारा काम करना पड़ा। पैसे के अभाव में बच्चों ने स्कूल के बाद खेत में काम करते थे। यह विषम परिस्थितियाँ पूरे क्षेत्र में दिखाई दे रही थी क्योंकि अधिकांश अन्य विस्थापित परिवारों की आजीविका भी संकट में आ गए और ग्रामीण छत्तीसगढ़ की खुशहाली खत्म हो गई।

पहली मनोहारी दृश्य जो छत्तीसगढ़ के किसी भी गांव में किसी बाहरी व्यक्ति की आंख को सुहाती है वह है बड़ी संख्या में पानी से लबालब तालाब। बस्तर गाँव में, जो इसी नाम के राजघराने का मुख्यालय था, 147 ऐसी छोटे बड़े तालाब थी। यह तालाब आर्थिक और पारिस्थितिक दोनों दृष्टि से आश्चर्यजनक रूप से टिकाऊ एक सामाजिक-आर्थिक प्रणाली के केंद्र थे। इन तालाबों से गाँव की विभिन्न पानी से संबंधित ज़रूरतों को पूरी की जाती थी - पीने और नहाने धोने से लेकर सिंचाई तक। मुख्य उद्देश्य धान की फसल की सुरक्षात्मक सिंचाई थी, जिसकी 17,000 से अधिक किस्में उगाई जाती थीं, जिसके परिणामस्वरूप छत्तीसगढ़ को "धान का कटोरा" कहा जाता था।

इन तालाबों और उन पर आधारित कृषि प्रणाली को एक विस्तृत सामूदायिक संस्कृति के माध्यम से बनाए रखा गया था। प्रकृति के साथ सदियों से बनायी गई इस तालमेल को हर साल अप्रैल में अगती त्योहार मनाकर और पुख्ता किया जाता है। त्यौहार शुरू होते ही, पूरा गाँव हर दिन सभी तालाबों को साफ और गहरा करने निकलता था। इस त्योहार का एक और अनुष्ठान बीज का आदान-प्रदान था। सभी किसान अपने बीजों को एक स्थान पर रखते थे और इसके बाद विभिन्न किस्मों के बीजों का आदान-प्रदान किया जाता था। अन्य गाँवों के किसानों को भी इस बीज विनिमय में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जाता था। खेतों में किया जा रहा बीजों का चयन और संवर्धन का निरंतर अभ्यास को इस त्योहार से और बाल मिलता था। इस तरह फसलों की आनुवंशिक विविधता को बनाए रखा जाता था और फसल का कुछ हिस्सा को हमेशा बाढ़ या सूखा के बावजूद बच लिया जाता था। छत्तीसगढ़ के अनोखा मध्ययुगीन राजनीतिक इतिहास के कारण इस प्रकृति के अनुकूल यह सामुदायिक जागरूकता आधारित संस्कृति संभव हुआ था।

ऐतिहासिक रूप से छत्तीसगढ़, "चातर राज", जैसा कि इसे लोगों द्वारा पुकार जाता है, ऊपरी महानदी घाटी का क्षेत्र को माना जाता था। एक ही राजवंश, हैहय, ने रतनपुर में लगभग आठ शताब्दियों के लिए इस क्षेत्र पर शासन किया 1000 ईस्वी से 1757 तक जब मराठों ने उन्हें बेदखल किया। हैहय राजाओं ने छत्तीस गढ़ों से शासन करते थे, जिससे इस क्षेत्र को अपना नाम मिला। प्रत्येक गढ़ चौरासी गांवों के एक प्रशासनिक इकाई का केंद्र था जिसे चौरासी कहा जाता था। ये चौरासी सात बारावा या बारह गाँवों की इकाइयों से बने हुए थे। प्रत्येक गाँव में एक “गौनटिया” नामक मुखिया होता था जो राजस्व संग्रह और सामान्य प्रशासन के लिए जिम्मेदार था। हालाँकि गौनटिया की शक्तियाँ निरंकुश नहीं थी क्योंकि उसे ग्राम पंचायत या ग्राम सभा के फैसलों का सम्मान करना होता था।

हैहय न तो दूसरे राज्यों पर कभी आक्रमण किए और न ही उन्हें दूसरे राजाओं द्वारा काबू किया गया। इससे उनके सैन्य खर्च कम हो गया। वे राजपूतों और मुगलों की तरह महलों, स्मारकों और मंदिरों के निर्माणकर्ता भी नहीं थे। नतीजतन, उन्होंने किसानों से जो राजस्व वसूलते थे वह अपेक्षाकृत कम था। इस प्रकार सामंती व्यवस्था के सबसे निचले पायदान पर होने के बावजूद ग्राम पंचायतों में काफी स्वायत्तता थी और वे अपने अधिकार क्षेत्र के भीतर व्यापार को नियंत्रित कर सकते थे। इसने स्वाभाविक रूप से किसानों को समृद्ध कृषि प्रणाली विकसित करने के लिए बहुत प्रोत्साहित किया। किसी भी युद्ध से रहित शांतिपूर्ण शासन की यह लंबी अवधि में एक काफी समतामूलक प्रणाली का विकास हुआ जो आर्थिक और पारिस्थितिक दोनों रूप से टिकाऊ थी। इस प्रणाली का पतन और ग्रामीण छत्तीसगढ़ के स्वनिर्भरता पर ग्रहण की शुरुआत हैहय सूर्य के अस्त जाने के साथ हुई।

मराठों ने करों में भारी बढ़ोतरी करके पहला आघात किया। उन्होंने पास के विदर्भ क्षेत्र में नागपुर से शासन किया और प्रशासन के लिए आवश्यक न्यूनतम खर्च के अलावा इस क्षेत्र के सभी राजस्व को विदर्भ ले गए। 19 वीं शताब्दी की शुरुआत में अंग्रेजों ने मराठों को हराकर जीत हासिल की और इस क्षेत्र पर काबिज हो गए। अंग्रेजों ने तुरंत भू राजस्व को बढ़ाने की अपनी दमनकारी नीती को लागू करना शुरू कर दिया। उनके द्वारा शुरू किए गए भू-राजस्व संग्रह की मालगुज़ारी प्रणाली ने छोटे किसान की स्वतंत्रता को समाप्त कर सदियों से चली आ रही जीवंत सामुदायिक भागीदारी की जड़ों पर प्रहार किया। उनके द्वारा नियुक्त किए गए अधिकांश मालगुज़ार उत्तर और मध्य भारत से लाए गए उच्च-जातियों के लोग थे जिनकी टिकाऊ खेती के विकास में कोई दिलचस्पी नहीं थी। वे केवल अंग्रेजों की तरह राजस्व के संग्रह में लगे रहते थे। इसके अलावा, कलकत्ता से इस क्षेत्र को जोड़ने के लिए एक नया व्यापार मार्ग खोला गया था। इससे क्षेत्र के समृद्ध प्राकृतिक संसाधनों के दोहन और तेज हो गया। नई व्यवस्था के तहत व्यापारियों और साहूकारों ने किसानों को लूट कर समृद्धि हासिल की। इतना ही नहीं राजधानी रायपुर के व्यापारियों ने 1857 में भारतीय स्वतंत्रता के पहले युद्ध को दबाने के लिए अंग्रेजों की आर्थिक मदद की। मालगुजार वर्ग भी अंग्रेज साम्राज्यवादियों को नैतिक और व्यवस्था संबंधी समर्थन प्रदान किया।

1947 में स्वतंत्रता के बाद गरीब किसानों की हालत खराब और खराब हो गई। मालगुज़ारी प्रणाली का औपचारिक उन्मूलन अवश्य हुआ पर वास्तव में किसी भी दूरगामी भूमि सुधार नहीं हुआ। पूर्व मालगुजार नए शासक बन गए और अधिकांश भूमि पर नियंत्रण बनाए रखने के लिए कई प्रकार के हथकंडे अपनाए। 1960 के दशक में, भारत में हरित क्रांति की शुरुआत की गई थी, जिसमें चावल की अधिक उपज देने वाली किस्मों की बुआई भारी सिंचाई, रासायनिक उर्वरक और कीटनाशक का उपयोग कर की जाती थी। सिंचाई सुविधाओं में वृद्धि के लिए कई बड़े और मध्यम बांध बनाए गए। कुछ वर्षों के भीतर एक आत्मनिर्भर कृषि प्रणाली को तहस नहस कर बाहरी तत्त्व आधारित राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय बाजारों के लिए उत्पादन में बदल दिया गया। व्यापारियों और राइस मिल संचालकों को लाभ मिला। इसका एक कुख्यात उदाहरण व्यापारी भाइयों की एक जोड़ी का है, जिन्होंने शुरुआत में चावल का निर्यात करके करोड़ों रुपये कमाया था लेकिन बाद में विदेशी मुद्रा की तस्करी और काले धन को वैध बनाने में लग गए। फिर वे कई प्रमुख राजनीतिक नेताओं के लिए काले धन को सफेद

करने के अपराध में पकड़े गए। यह एक बड़ा घोटाला था जिसने 1990 के दशक में राजनीतिक हल्का को हिला दिया। हालांकि, जैसा कि इस तरह के अधिकांश मामलों में होता है, यह भी अंततः पर्याप्त सबूतों की कमी के कारण फिसड्डी साबित हुई।

शेष भारत और विशेष रूप से पंजाब के जैसे ही छत्तीसगढ़ में भी हरित क्रांति ने छोटे किसानों को बुरी तरह से कंगाल कर दिया। वर्तमान में पैदावार में कमी, कीटों के हमलों में वृद्धि और रासायनिक उर्वरकों, बिजली और कीटनाशकों की बढ़ती लागत के साथ यह किसान के गले का फांस बन गया है जो किसानों को कर्ज में डूबा दिया है और उन्हें आत्महत्याओं की महामारी में झोंक दिया है। एक कृषि वैज्ञानिक, डॉ आर.एच. रिछारिया ने अपने अनुसंधान का उल्लेख करते हुए कहा कि छत्तीसगढ़ में स्वदेशी चावल की किस्में थीं जो विदेशी संकरित किस्मों की तुलना में अधिक उपज देने वाली और कीट-प्रतिरोधी थीं। हालांकि, उनकी अकेली आवाज हरित क्रांति के समर्थन में मचाया जा रहा भारी अंतरराष्ट्रीय शोर के बीच डूब गई। किसानों के बीच लाभ की लालच पनपना और ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मुद्रीकरण और बाज़ारीकरण ने सामुदायिक भावना को खत्म कर दिया है। पारंपरिक सर्वसम्मति पर आधारित ग्राम पंचायतों की एकजुटता समाप्त हो गई है। गाँव के तालाबों को बनाए रखने के लिए स्वैच्छिक श्रम की प्रथा और अगती त्योहार के दौरान स्वदेशी बीजों के आदान-प्रदान धीरे-धीरे खत्म हो गए। जिससे तालाब धीरे धीरे सूख गए और आनुवंशिक विविधता का गंभीर क्षरण हुआ।

एक समय ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार रहे गांव के तालाबों की वर्तमान दयनीय स्थिति इस चौतरफा विनाश का लक्षण है। कई तालाब सूख गए हैं। जो कुछ बचे हैं वे मनुष्य और जानवरों के अधिक बोझ के कारण खराब हालत में है। कीटनाशक और उर्वरक अवशेष और मानव और पशु अपशिष्ट तालाबों के पानी को प्रदूषित कर रहे हैं। सबसे चिंताजनक है इन तालाबों की सुरक्षात्मक सिंचाई क्षमता में कमी। इस कमी का मतलब है कि सामान्य से कम वर्षा के वर्षों में सूखे की समस्या खड़ी हो जाती है। एक गाँव के बुजुर्ग ने कहा कैसे उनके बचपन और जवानी में ग्रीष्मकाल में वे एक तालाब से दूसरे तालाब दल बनाकर जाते थे और गीत गाते हुए उनके गाद साफ करते थे। उत्सव का माहौल हुआ करता था और युवा इसके लिए बेसब्री से इंतज़ार करते थे। उन्होंने कहा कि वर्तमान समय में युवा पीढ़ी आलसी हो गई है और अपना समय सूखे हुए तालाबों में क्रिकेट खेलने में बिता देते है - "आज कल के कोरहिया लइका मन सुक्खा तारिया में किरकेट खेलथे"!

* * *

औद्योगिक विकास ने ग्रामीण छत्तीसगढ़ियों के संकट को और बढ़ा दिया। यह सब 1950 के दशक में सरकार द्वारा भिलाई इस्पात संयंत्र की स्थापना के साथ शुरू हुआ था। इसके बाद कई अन्य परियोजनाओं जैसे एल्यूमीनियम निष्कर्षण संयंत्र, ताप विद्युत संयंत्र, सीमेंट संयंत्र और लौह अयस्क, बॉक्साइट, कोयला और चूना पत्थर के बड़े पैमाने पर खनन को क्रियान्वित किया गया है। इससे ग्रामीण लोगों के विस्थापन में बेतहाशा वृद्धि हुई पर उन्हें रोजगार नही मिला क्योंकि इन औद्योगिक संयंत्रों और खानों के संचालन और प्रबंधन के लिए अपेक्षाकृत उच्च तकनीकी कुशलता

की आवश्यकता थी जो छत्तीसगढ़ियों के पास नहीँ थी। स्थानीय छत्तीसगढ़ियों, विशेष रूप से आदिवासियों को या तो कम वेतन वाला ठेका रोजगार मिला या इन संयंत्रों से उन्हें पूरी तरह से बाहर रखा गया। इन बुनियादी उद्योगों के अलावा, इन उद्योगों के उत्पादों का उपयोग करने के लिए औद्योगिक विकास बहुत कम हुआ। इसके बजाय, स्टील, एल्यूमीनियम, कोयला, सीमेंट और बिजली को उपयोग के लिए भोपाल, इंदौर, कोलकाता और मुंबई में निर्यात किया गया। दक्षिण बस्तर के बैलाडिला से खनन किया गया लौह-अयस्क भी स्टील में परिवर्तित नहीं होता है बल्कि बिना प्रसंस्करण के जापान को कच्चा भेज दिया जाता है। इस क्षेत्र में बिना किसी महत्वपूर्ण प्रसंस्करण उद्योग के एक ऐसा औद्योगिक विकास हुआ है जो बड़ी संख्या में लोगों के लिए रोजगार नहीं पैदा कर पाया है।

प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू योजनाबद्ध औद्योगिक विकास के हिमायती थे। 1954 में बिहार के सिंदरी में देश के पहले रासायनिक उर्वरक संयंत्र का उद्घाटन करते हुए उन्होंने इसे आधुनिक भारत के मंदिर के रूप में वर्णित किया और कहा कि भारत को ऐसे कई और मंदिरों की आवश्यकता है। छत्तीसगढ़ में पहला और सबसे महत्वपूर्ण आधुनिक मंदिर भिलाई इस्पात संयंत्र था। संयंत्र और उसकी कॉलोनी की पानी की विशाल आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए, जो दुर्ग जिले के स्थानीय स्रोतों से पूरा नहीँ हो सकती थी, एक और मंदिर बनाया गया - महानदी नदी पर गंगरेल बांध। भारत में पूजा स्थलों के निर्माण के लिए विभिन्न धर्मों के बीच प्रतिस्पर्धा का एक लंबा इतिहास है। शासकों ने अक्सर इस तरह के विशालकाय धर्मस्थलों का निर्माण किया है मेहनतकश गरीबों के शोषण से निकाले गए अधिशेष का उपयोग करके और इनकी गिनती दुनिया की सबसे उम्दा वास्तुकला में होती हैं। ऐसे भी कई उदाहरण हैं कि एक धर्म के राजाओं ने दूसरे धर्म के पूजा स्थलों को नष्ट कर उन्हें अपने मंदिरों, मस्जिदों या चर्चों से बदल दिये हैं। एक तरह से नेहरू के आधुनिक मंदिर निर्माण ने भी इस प्रतिगामी परंपरा का अनुसरण किया है।

गंगरेल बांध का डूब क्षेत्र में चवर के साप्ताहिक बाजार गांव के आसपास केंद्रित एक बहुत ही उत्पादक और आत्मनिर्भर कृषि क्षेत्र था। इस क्षेत्र के लोगों को पहली बार आधुनिक बाजार अर्थव्यवस्था का आकर्षक और नशीला स्वाद मिला जब बांध का निर्माण शुरू हुआ। लोग शुरू में बहुत खुश थे क्योंकि वे चवर या धमतरी में स्थानीय बाजारों में उपलब्ध दामों से अधिक कीमत पर निर्माण कंपनी के मजदूरों और अधिकारियों को अपना चावल बेच सकते थे। वे नए उपभोक्ता उत्पाद भी खरीद सकते थे जो शहरी अधिकारियों और निर्माण कंपनी के कर्मचारियों की मांग पर उपलब्ध हुए। इस प्रकार पैसा पहले की तुलना में बहुत अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगा। शुरू में लोग यह समझ नहीँ पाए कि एक दिन वे अपनी सारी जमीन खो देंगे। जब यह वक्त आया तो ज्यादातर लोग तबाह हो गए क्योंकि उन्हें जो थोड़ा बहुत मौद्रिक मुआवजा मिला उसे वे मुख्य रूप से शराब पीकर खत्म कर दिया। इसके बदले उन्होंने अपनी आजीविका के स्रोतों को खो दिया। चवर में स्थानीय देवी अंगार मोती को समर्पित एक मंदिर था। देवी को बहुत शक्तिशाली और अपने भक्तों की इच्छाओं को पूरा करने में सक्षम माना जाता था। लोग उसकी पूजा करने और उससे वरदान माँगने के लिए दूर-दूर से आते थे। पर यह ग्रामीण देवी भी आधुनिक विकास के नए देवता से हार गई और उसका मंदिर उसके भक्तों के साथ इस नए देवता की वेदी पर बाली चढ़ाया गया। पुराने हिंदू

अंधविश्वासों के अनुसार जब तक एक नए मंदिर के निर्माण के समय भगवान को मानव बलि नहीं दी जाती तब तक उसकी प्राण प्रतिष्ठा नहीं हो सकता है। नेहरू ने उसके आधुनिक मंदिर निर्माण की होड़ में लाखों लोगों से बलिदान मांगने की कोई कसर नहीं छोड़ी।

छत्तीसगढ़ के ग्रामीण लोगों के पास विनाशकारी विकास के कारण हुए कहर से निजात पाने के लिए बीड़ी बनाने या रोजगार की तलाश में दूसरे राज्यों में पलायन करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं था। काम की तलाश में वे कभी कभी दूर-दूर तक जाते हैं। 1999 में, कुछ छत्तीसगढ़ी मजदूरों को सशस्त्र विद्रोह से प्रभावित राज्य कश्मीर में वहाँ भारत से स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे लोगों ने मार डाला था।

बीड़ी को तेंदू के पत्तों के अंदर तंबाकू भरकर धागे से बांधकर बनाया जाता है। यह एक व्यापक कुटीर उद्योग है, जिसे ठेका प्रणाली से संचालित किया जाता है। ईसके तहत निर्माताओं, जो ज्यादातर महिला है, को तेंदू के पत्तों, तम्बाकू और धागा ठेकेदारों द्वारा दिए जाते हैं। महिलाओं को उनके द्वारा बनाई गई बीड़ी के लिए भुगतान किया जाता है। गर्मी के मौसम में ग्रामीण लोग तेंदू के पत्तों को इकट्ठा करते हैं और इसके लिए उन्हें पैसे मिलते है। बीड़ी बनाने वाले पूरी तरह से दलालों पर निर्भर होते हैं जो बीड़ी कारखाने की ओर से बिचौलियों के रूप में कार्य करते हैं। वे बीड़ी निर्माताओं को कच्चे माल की आपूर्ति करते हैं, तैयार बीड़ी इकट्ठा करते हैं और उन्हें भुगतान करते हैं। इस में काफी शोषण के बावजूद बीड़ी बनाने से कमाया गया पैसा कृषि श्रम से आने वाले दैनिक मजदूरी की तुलना में बहुत अधिक है।

* * *

आम तौर पर नई वस्तुओं के लिए पुरानी चीजों की अदला बदली करना लाभदायक होता है, जिससे उत्पादकता और खुशी बढ़ती है। लेकिन गरीब ग्रामीण छत्तीसगढ़ियों के मामले में कहानी कुछ और थी। छत्तीसगढ़ियों को, विशेष रूप से इस क्षेत्र के आदिवासियों को, बड़े पैमाने पर विस्थापन और आजीविका के नुकसान का सामना करना पड़ा है। इसलिए यहां के लोगों ने नेहरू के उद्बोधन को कि "लोगों को देश के हित में हरजाना भरने के लिए तैयार होना चाहिए" को सहजता से माना नहीं है। इस विकृत मंदिर निर्माण के दुष्प्रभाव खिलाफ लोगों और राज्य के बीच अनगिनत संघर्ष हुए हैं, जिसमें औद्योगिक श्रमिक और किसान दोनों को बेरहमी से कुचल दिया गया है। बस्तर में बड़ी संख्या में ऐसे अत्याचार हुए हैं जिनमें सबसे भीषण बस्तर के राजा प्रवीर चंद्र भंजदेव और उनके आदिवासी समर्थकों की हत्या है। 1966 में उन्हें जगदलपुर के राजमहल में पुलिस द्वारा मार दिया गया था जो कि स्वतंत्र भारतीय राज्य द्वारा आदिवासियों की सामूहिक हत्या के सबसे बुरे उदाहरणों में से एक है।

1910 में भूमकाल विद्रोह के दमन के बाद से बस्तर के आदिवासियों का लगातार शोषण जारी था। यह आजादी के बाद विभिन्न विकास गतिविधियों के लिए इस क्षेत्र में गैर-आदिवासियों के बड़ी संख्या में आगमन के साथ और बढ़ गया। यह मुख्य रूप से पूर्वी पाकिस्तान से बंगाली शरणार्थियों के दंडकारण्य में पुनर्वास और बैलाडीला में लौह-अयस्क खनन परियोजना की शुरुआत के कारण हुई।

बस्तर के राजा, प्रवीर चंद्र भंजदेव 1947 में नई सरकार के विरोध में थे और राज्य के खिलाफ आदिवासियों को संगठित किया था, खासकर इसलिए कि स्थानीय कांग्रेस पार्टी में गैर-आदिवासी लोगों का वर्चस्व था। सरकार की चेतावनी को नजर अंदाज करते हुए उन्होंने अपने आदिवासी सेवा दल के माध्यम से क्षेत्र में एक समानांतर प्रशासन स्थापित किया। जब सरकार ने उन्हें वित्तीय मदद से वंचित करने की धमकी दी तो उन्होंने जवाब दिया कि उस स्थिति में उनके नेतृत्व में बस्तर के आदिवासी मध्य प्रदेश सरकार को मान्य नहीँ करेंगे!

फरवरी 1961 में भंजदेव को गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया। तुरंत आदिवासी सेवा दल ने उनकी रिहाई के लिए एक आंदोलन चलाया और साप्ताहिक बाजारों से व्यापारियों को भगाना शुरू कर दिया, जिससे पुलिस के साथ टकराव हुआ। 31 मार्च 1961 को, लोहंडीगुडा के बाजार गांव में एक बड़ा संघर्ष हुआ, जिसमें पुलिस गोलीबारी में तेरह लोगों की मौत हो गई। कई अन्य लोगों को गिरफ्तार किया गया था सशस्त्र दंगों में भाग लेने और हत्या के प्रयास के आरोप में। लोहंदीगुड़ा की घटना 1960 के दशक में बस्तर में हुए आदिवासियों के विद्रोह का आगाज था।

भंजदेव को 1961 में अप्रैल में जेल से रिहा किया गया था। जगदलपुर आने पर उनका शानदार स्वागत किया गया। इसके बाद वह आदिवासियों के लिए न्याय की मांग में आवाज और भी बुलंद कर दिए। खासकर लोहंडीगुड़ा नरसंहार के लिए जिम्मेदार अधिकारियों के खिलाफ कार्रवाई की मांग की गई। 1962 के आम चुनावों में, उनके संगठन के छह सदस्यों को विधायक और बस्तर के एकमात्र सांसद के रूप में चुना गया था। वे बुरी तरह से कांग्रेस पार्टी को धूल चटाये। यह एक ऐसा समय था जब बारिश की लगातार कमी के कारण पूरा देश खाद्य संकट से गुजर रहा था। बस्तर में भी धान की फसल कम पकी थी और चावल के दाम बढ़ने लगे थे। भंजदेव की अगुवाई में आदिवासियों ने रियायती कीमतों पर चावल की मांग को लेकर आंदोलन शुरू किया। साल-दर-साल हालात बिगड़ती गई और उनका विरोध तेज हो गया। केंद्र सरकार को यह राष्ट्रव्यापी संकट से निपटने के लिए अनाज का आयात करना पड़ा। हालाँकि, चूंकि इन खाद्यान्नों का वितरण में सरकार ने बहुत समय लगा दिया और मध्य प्रदेश जैसे पिछड़े और विशाल राज्य में स्थिति गंभीर हो गई। 1966 की शुरुआत में राज्य सरकार ने जिलों में स्थानीय स्तर पर यथासंभव खरीद करने के इरादे से काश्तकारों से चावल की बाध्यतामूलक खरीदी शुरू की।

बस्तर के आदिवासियों को, जो पहले से ही खराब स्थिति में थे, यह अन्यायपूर्ण लगा। इस बाध्यतामूलक खरीदी को रद्द करने के लिए बड़े पैमाने पर आंदोलन शुरू हुआ और भंजदेव ने फरवरी 1966 में लंबे समय तक भूख हड़ताल किए। गांवों और बाजारों में लोगों ने चावल खरीदी का विरोध करने लगे और पुलिस से लड़ाई की। इस संघर्ष के बारे में एक उल्लेखनीय तथ्य यह था कि इसमें महिलाओं की जबरदस्त भागीदारी थी। इस अनुचित आदेश के खिलाफ जिले भर में असंख्य रैलियाँ और प्रदर्शन हुए। सरकार लोगों की जायज मांगों को मानने के बजाय आंदोलन को कुचलने के इरादे से अतिरिक्त पुलिस बलों को भेजी। 25 मार्च, 1966 को जगदलपुर में एक विशाल रैली की योजना बनाई गई और लोग धनुष और बाणों से लैस होकर राजमहल के मैदान में एकत्रित होने लगे। उन्होंने

प्रशासन द्वारा जारी किए गए सार्वजनिक सभा पर निषेधात्मक आदेशों की अवहेलना की। आदिवासियों और पुलिस के बीच दोपहर में संघर्ष प्रारंभ हुआ और लोहंडीगुड़ा जैसे ही पुलिस की गोलीबारी में राजा भंजदेव सहित बारह लोगों के नरसंहार के साथ समाप्त हुआ।

प्रकृति और उसके साथ तालमेल कर जीने वाली आबादी का विनाश आधुनिक औद्योगिक विकास की एक विलक्षण विशेषता रही है। यह प्रक्रिया यूरोपीय लोगों द्वारा औपनिवेशिक लूट के माध्यम से अपने स्वयं के औद्योगिक विकास को बढ़ाने के लिए अन्य चार महाद्वीपों के लोगों पर हावी होने के बाद शुरू हुई। 1492 में वेस्ट इंडीज के बहामास में क्रिस्टोफर कोलंबस के उतरने के साथ प्राकृतिक और मानव संसाधनों के बेतहाशा दोहन की यह प्रतिगामी प्रक्रिया शुरू हुई। वास्तव में एक तरफ प्रकृति और मेहनतकश जनता और दूसरी तरफ केंद्रीकृत आधुनिक औद्योगिक विकास और व्यापार के बीच विरोधाभास ऐसी अपरिहार्य मूलभूत विशेषता है कि यह सभी अर्थव्यवस्था में मौजूद है चाहे वह पूंजीवादी हो या समाजवादी। सोवियत संघ को श्रमिकों के अत्याचार शिविरों और नदियों और झीलों के प्रदूषण के भयानक गुलाग द्वीपसमूह की आवश्यकता थी अमेरिकियों द्वारा हासिल किए गए विकास की बराबरी करने के लिए। अमेरिका ने औद्योगिक शक्ति बनने के लिए लगभग उसी समय अपने ही लोगों का भयानक शोषण किया था जिसका जॉन स्टीनबेक ने अपने उपन्यास "द ग्रेप्स ऑफ रॉथ" में मार्मिक चित्रण किया है। लैटिन अमेरिका का शोषण और दोहन, जो अभी भी जारी है, अमेरिकी औद्योगिक विकास के लिए लगातार संसाधन प्रदान किया है। अंग्रेजों ने तो भारत का बंटाढार कर ही दिया है। यह अनुमान लगाया जाता है कि औद्योगिक क्रांति की शुरुआती दौर में 1765 से 1804 के बीच ब्रिटिश सकल घरेलू पूंजी निर्माण में पच्चीस से तैंतीस प्रतिशत के बीच भारत का योगदान था। नेहरू और उनके प्रौद्योगिकीविदों और प्रशासकों ने इसमें अंग्रेजों से एक कदम आगे जाकर आंतरिक उपनिवेशवाद से आधुनिक विकास को वित्तपोषित किया था।

* * *

देवनाथ और उनकी पत्नी कड़ी मेहनत कर उनका अनैच्छिक विस्थापन की त्रासदी से उबरने में सफल रहे। उन्होंने अपनी जमीन पर काम किया और उसे फिर से उत्पादक बनाया। यह इसके बावजूद कि मिल-निर्मित कपड़े के बढ़ते प्रसार ने देवनाथ की हाथकड़घा की बुनाई से आने वाली कमाई को खत्म कर दिया था। राहत हालांकि क्षणिक थी। परिस्थितियां एक बार फिर खराब हुई जब उसकी 13 साल की उम्र में सुभद्रा की मां की मौत हो गई। उसकी माँ एक सख्त अनुशासक थी और उसके बच्चों और यहाँ तक कि उसकी पति भी उससे डरती थी। परिवार के तेजी से अपनी स्थिति सुधारने के पीछे उसका कुशल संचालन मुख्य कारण था। उसकी मृत्यु से समस्याएं एक बार फिर खड़ी हो गई। सुभद्रा के सबसे बड़े भाई, जो अपनी माँ के अनुशासन को नापसंद करने के कारण वर्षों से अलग रह रहे थे, वापस आए और अपनी ज़मीन और घर के हिस्से माँग लिए। अपने सबसे छोटे भाई और बहन की शादी करने के लिए देवनाथ के दायित्व को अस्वीकार करते हुए उन्होंने पिता के साथ मारपीट की और उन्हें अपनी मांगों को स्वीकार करने के लिए मजबूर किया।

घर की सारी जिम्मेदारियाँ अब सुभद्रा पर आ पड़ीं। उसे खाना बनाना, बर्तन माँजना, मिट्टी के फर्श को लीपना और कृषि कार्य में मदद करना था। यह सब पहले की तुलना में कम आमदनी पर करना था। भले ही उसके पिता ने गृहकार्य में मदद की लेकिन काम के बोझ में अचानक वृद्धि ने सुभद्रा की पढ़ाई में खलल डाली। नतीजतन, वह उस वर्ष अपनी कक्षा आठ की परीक्षा में फेल हो गई। हालांकि, देवनाथ ने जोर देकर कहा कि पढ़ाई जारी रखनी है क्योंकि वह महसूस किया कि जीवन की मुसीबतों के समुद्र से उबरने का यह ही एक मात्र उपाय था। हालांकि, पूरे घर और खेत के काम करने के बाद, सुभद्रा के पास पढ़ाई के लिए शायद ही कोई समय बचता था। भारत में सरकारी स्कूल प्रणाली ऐसी है कि परीक्षाओं को आसान तरीके से पास करना संभव है - रट्टा मारकर और टीपने में शिक्षकों से कुछ मदद लेकर। इसलिए 1986 में, सुभद्रा अपनी उच्च माध्यमिक बोर्ड परीक्षाओं में सफल रही और शिक्षित बेरोजगार छत्तीसगढ़ी युवाओं की बढ़ती कतार में शामिल हो गई।

1970 के दशक में स्कूल से पास होने के तुरंत बाद सुभद्रा के बड़े भाई ने नौकरी हासिल कर ली थी। उस समय तेजी से विस्तारित हो राज्य व्यवस्था के कारण और आरक्षण का प्रावधान के कारण सरकारी नौकरियां आसानी से मिल जाती थी। उस समय शिक्षित दलित और आदिवासी लोगों की मांग आपूर्ति से अधिक थी। पर 1980 के दशक के अंत में जब सुभद्रा ने नौकरी के बाजार में प्रवेश किया तब अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की संरचनात्मक समायोजन नीतियां लागू हो चुकी थीं क्योंकि भारत सरकार ने विदेशी मुद्रा भुगतान संकट से निपटने के लिए ऋण लिया था। इससे सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में राज्य की भागीदारी कम हो गई थी। इस प्रकार एक तरफ सरकारी नौकरी के अवसर कम हो गए थे और दूसरी तरफ बढ़ती संख्या में युवा आवेदक तैयार हो रहे थे। सुभद्रा का भविष्य अंधकारमय लग रहा था।

अध्याय 8 – मजबूरी का नाम गांधी

1970 के दशक के उत्तरार्ध में जब सुभद्रा ने अपनी शिक्षा पूरी की, तब स्थितियाँ बदल गई थीं और मोटी रिश्वत दिए बिना सरकारी नौकरी पाना आसान नहीं था। उसकी बड़ी बहन की शादी जिस आदमी से हुई थी वह उसकी पिटाई करता था और इसने सुभद्रा को शादी करने से हतोत्साहित किया।

सुभद्रा ने अपने गाँव के कई अन्य लोगों की तरह पैसा कमाने के लिए बीड़ी बनाने का काम शुरू किया। उनकी खेत की जो उपज थी वह केवल भोजन प्रदान करने के लिए पर्याप्त थी। कपड़े और यात्रा जैसी अन्य जरूरतों के लिए पैसे कमाने की आवश्यकता थी। सुभद्रा के बड़े भाई के पास कोई स्थिर रोजगार नहीं था। जब वह काम करता था तब भी वह घर में कोई पैसा नहीं देता था। एक दिन उसके साथ घर के खर्चों को समान रूप से वहन करने के बारे में विवाद हुआ। भाई ने गुस्से में आकार सुभद्रा को थप्पड़ मारा। यह उसने सहन नहीं कर पाया और कुछ कपड़े लेकर वह लगभग दस किलोमीटर दूर कोडोगाँव के लिए रवाना हो गई जहाँ उसके चचेरे भाई रहते थे। वह घर पर किसी को बिना बताए चली गई। उसने चचेरे भाई को उसका आने के कारण नहीं बताई। वह बस उनके खेतों में काम करने लगी और बीड़ी बनाती रही। कुछ समय बाद उसके पिता वहाँ पहुँचे और उससे वापस आने की विनती की। लेकिन उसने यह कहकर मना कर दिया कि वह तब तक घर वापस नहीं आएगी जब तक कि वह स्वतंत्र रूप से पैसे कमाने नहीं लगेगी।

कोडोगांव में एक गांधीवादी कार्यकर्ता के साथ एक बार उनकी मुलाकात हो गई जिसने रायपुर जिले में प्रयोग नामक एक गांधीवादी गैर सरकारी संस्था में काम करने के लिए सुभद्रा को ले गया। भले ही वह पूरी तरह से समझ नहीं पा रही थी कि संस्था का काम क्या है पर दो सौ रुपये महीने की नौकरी मिलने की संभावना ने उसे प्रशिक्षण में शामिल होने के लिए उत्साहित किया।

नेहरू के विपरीत, गांधी भगवद गीता में वर्णित भारतीय आध्यात्मिकता से प्रेरित थे। साथ ही जॉन रस्किन द्वारा लिखी गई पुस्तक "अनटु दिस लास्ट" और लियो टॉल्स्टॉय द्वारा लिखी गई "द किंगडम ऑफ गॉड इस वीथिन अस" में वर्णित पश्चिमी अध्यात्मवादी परंपराएं भी उन्हें प्रभावित किया। रस्किन के विचार से प्रेरित होकर गांधी औद्योगिक विकास का आलोचक बन गया और कहने लगे कि औद्योगीकरण प्रकृति के साथ मानव कल्याण के विरुद्ध है।

रस्किन की किताब "अनटु दिस लास्ट" का नाम बाइबल में वर्णित एक कहानी से आता है जिसमें मजदूरों को काम करने के लिए नियुक्त किया जाता है जब जब उनके लिए काम करने का अवसर होता है। दिन के अंत में सभी को समान वेतन दिया जाता है। जब कुछ मजदूर जो शुरू से काम कर रहे थे इसका विरोध करते है तो यह तर्क दिया जाता है कि श्रमिकों में से जो आखरी में नियुक्त हुआ था वह भी पूरे दिन काम करने के लिए तैयार था और यह उनकी गलती नहीं थी कि उन्हें केवल अंत में अवसर मिला और इसलिए वे भी समान मजदूरी पाने के हकदार थे। यह पहले वर्णित मार्क्स के साम्यवाद के सिद्धांत के करीब है लेकिन जहां मार्क्स ने पूंजीवादी व्यवस्था को हिंसक क्रांति द्वारा उखाड़ फेंकने की बात की थी वहीं रस्किन ने शोषकों के मन के आध्यात्मिक रूपांतरण पर जोर दिया था।

ईसाई धर्म में अपने धर्मांतरण के बाद लिखी गई अपनी पुस्तक में टॉलस्टॉय ने लालच की वजह से समाज में व्याप्त हिंसा की निंदा की थी। वह कहते है कि इंसान जिस मुसीबतों के समुद्र में फंसे है उसमें से केवल अहिंसा को अपनाकर ही वह उबर सकते है।

1909 में इंग्लैंड में विभिन्न लोगों के साथ चर्चा के बाद लिखी गई उनकी पुस्तक "हिंद स्वराज" में विकास, समाज और राजनीति के बारे में गांधी ने अपने विचारों को लिपिबद्ध किए थे। बहस के मुख्य बिंदु ग्रामीण बनाम शहरी औद्योगिक विकास और अहिंसक बनाम हिंसक राजनीतिक कार्य थे। "सर्वोदय घोषणापत्र" के रूप में प्रसिद्ध यह पुस्तक में आधुनिक उद्योगवाद की आलोचना है कि लालच पर आधारित यह प्रणाली ने मनुष्य को मशीनों के गुलाम बनाई हैं। उस शिक्षा प्रणाली की भी आलोचना की गई है जिसने छात्रों को टिकाऊ व्ययसायों से निकालकर उन्हें लालच आधारित व्यवसायों के लिए प्रोत्साहित किया है। सामाजिक-राजनीतिक स्तर पर इसके परिणामस्वरूप मानवों और प्रकृति के शोषण के लिए शासन की एक केंद्रीकृत प्रणाली बनायी गई है। यह प्रणाली केवल कागज पर लोकतांत्रिक और सहभागी है और वास्तव में यह शक्तिशाली वर्गों द्वारा नियंत्रित है।

पुस्तक में मुख्य रूप से ग्रामीण उद्योगों पर आधारित एक आर्थिक विकल्प की बात की गई है। विशेष रूप से चरखा, हथकरघा और खादी के कपड़े का उत्पादन पर जोर दिया गया। गांधी ने कहा कि यह ही पर्याप्त मात्रा में रोजगार सृजन कर सकता है और इसके साथ कुछ न्यूनतम आधुनिक उद्योगों को ही रखना होगा। उन्होंने सहभागी और काफी हद तक आत्मनिर्भर और स्वायत्त ग्राम गणराज्यों या पंचायतों के आधार पर एक विकेंद्रीकृत सामाजिक-राजनीतिक विकल्प की परिकल्पना की जिसमें सर्वोदय या सभी की भलाई संभव हो। इसे वास्तवायित करने के लिए अहिंसा पर आधारित एक राजनीतिक कार्यक्रम प्रस्तावित किया गया था। गांधी ने तर्क दिया कि केवल अहिंसा पर आधारित समाज ही न्यायपूर्ण हो सकता है और इसके लिए अपनाए गए साधनों को भी अहिंसक होना चाहिए। सविनय अवज्ञा और अहिंसक प्रतिरोध हथियारों के बजाय आध्यात्मिक शक्ति पर आधारित कार्रवाई पर निर्भर करता है और इसे "सत्याग्रह" नाम दिया गया। गांधी ने कहा कि सत्याग्रही को दमन को अहिंसक रूप में सहन करना चाहिए ताकि उत्पीड़क को अपने कर्मों की अनैतिकता समझ में आए और इस तरह उसका दिल जीत लिया जाए। उनके अनुसार सत्याग्रही कार्यक्रम में सविनय अवज्ञा या असहयोग के माध्यम से अन्यायपूर्ण कानूनों का विरोध करना चाहिए।

गांधी ने आजादी के बाद एक राष्ट्रव्यापी सर्वोदय कार्यक्रम को अपनाने के लिए कहा था जिसमें गाँव में पहले सूक्ष्म योजना बनती और फिर सभी गावों की योजनाओं को मिलाकर समग्र देश की वृहद योजना बनती। गांधी ने पिरामिड के विपरीत एक नीचे से ऊपर तक की व्यवस्था की कल्पना की थी जिसे वे ओशनिक सर्कल नाम दिया। महासागर में एक जगह से वृत्ताकार तरंगों में पानी निकलता है और वह जगह में पानी में सब से अधिक ऊर्जा होती है। इसलिए गाँव गणराज्य को गांधीवादी सामाजिक व्यवस्था में सबसे शक्तिशाली संस्था के रूप में प्रस्तुत किया गया था।

जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस के अधिकांश सदस्यों ने इस प्रस्ताव पर कोई ध्यान नहीं दिया और अंग्रेजों द्वारा स्थापित केंद्रीकृत राज्य तंत्र को ही आगे बढ़ाया। वे लोग जो पहले से ही गांधी

द्वारा स्थापित कई आश्रमों में ग्रामीण पुनर्निर्माण के कार्यों में लगे हुए थे, विनोबा भावे के नेतृत्व में गांधीवादी सिद्धांतों पर काम करना जारी रखा। विनोबा के सुझाव पर, सभी गांधीवादी संस्थानों की गतिविधियों के समन्वय के लिए 1949 में एक केंद्रीय निकाय का गठन किया गया था। इसे "सर्व सेवा संघ" के नाम से जाना जाने लगा। 1951 में गांधीवादियों से आधुनिक विकास के प्रयासों के लिए समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से नेहरू ने योजना आयोग के एक सदस्य को प्रथम पंचवर्षीय राष्ट्रीय विकास योजना के मसौदे के साथ विनोबा भावे के पास भेजा। मसौदे को पढ़ने के बाद, विनोबा ने कहा, "मुझे इस भारी भरकम दस्तावेज़ में केवल एक ही उपयोगी चीज़ मिली है। यह पिन जिससे कि कागजों को स्टैपल किया हुआ है। इसलिए मैं उस उपयोगी चीज़ को निकाल रहा हूँ और बाकी बेकार कागजों को कूड़ेदान में फेंक रहा हूँ!"

ऐसी ही एक ग्रामीण पुनर्निर्माण संस्था, गांधी आश्रम जौरा, एस.एन. सुब्बाराव द्वारा उत्तरी मध्य प्रदेश के मुरैना जिले में स्थापित किया गया था। सुब्बारावजी ने राष्ट्रीय युवा परियोजना शुरू की थी, जिसके तहत वे देश भर में दौरा कर ग्रामीण पुनर्निर्माण कार्यों में भाग लेने हेतु युवाओं को प्रेरित करने के लिए शिविरों का आयोजन करते है। केरल से ऐसे ही एक शिविर के बाद पी.वी. राजगोपाल, जो लोकप्रिय रूप से राजाजी के नाम से जाने जाते हैं, पूर्णकालिक कार्यकर्ता के रूप में मुरैना में सुब्बारावजी के आश्रम में शामिल हुए थे। बाद में, उन्होंने छत्तीसगढ़ के तिल्दा गाँव में प्रयोग संस्था की स्थापना की। प्रारंभ में प्रयोग गांधीवादी ग्रामीण विकास कार्यों में शामिल था। खादी और अन्य हस्तशिल्प का उत्पादन किया जाता था खादी ग्रामोद्योग आयोग से अनुदान की मदद से। सरकार द्वारा इस आयोग को स्थापित किया गया था ग्रामोद्योग को प्रोत्साहित करने के लिए।

अपने कार्यों के दौरान एक दिन राजाजी ने एक कामिया से मिला। कामिया बंधुआ मजदूर थे जो बहुत दयनीय स्थिति में जानवरों की तरह जी रहे थे। हालांकि 1947 में इस तरह के श्रम को कानून बनाकर समाप्त कर दिया गया था लेकिन यह चोरी छिपे जारी था। राजाजी ने सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका दायर की कानून का इस उल्लंघन को बंद करने के लिए। सभी पक्षों को सुनने के बाद, सर्वोच्च न्यायालय ने रायपुर जिला प्रशासन को अपने मूल कर्तव्यों का पालन कर बंधुआ मजदूरों को मुक्त कराने के आदेश दिया। शीर्ष अदालत ने यह भी निर्देश दिया कि न केवल मजदूरों को मुक्त किया जाए बल्कि उन्हें नए पेशों में उन्हें पुनर्वासित भी किया जाए।

इस कार्रवाई का यह प्रभाव था कि ऐसे कई और मामले प्रकाश में आए और कृषि और पत्थर की खदानों में बंधुआ मजदूरों को मुक्त करने के लिए एक आंदोलन खड़ा हो गया। इस अनुभव ने राजाजी पर गहरा प्रभाव डाला और वे गरीबों को उत्पीड़न से मुक्त करने के लिए राजनीतिक गोलबंदी का काम शुरू कर दिया। इसके लिए अधिक संख्या में ग्रामीण कार्यकर्ताओं की भागीदारी की आवश्यकता थी और उन्हें शोषण और गरीबी के निवारण के लिए गांधीवादी सिद्धांत और सामाजिक और राजनीतिक कार्रवाई में प्रशिक्षित करना था। इसके लिये प्रयोग द्वारा प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन किया गया। साथ ही मुक्त किए गए बंधुआ मजदूरों का पुनर्वास किया जाना था और उनके परिवारों और बच्चों की देखभाल भी करनी थी। इसलिए ग्रामीण विकास प्रतिष्ठान की स्थापना की गई

वैकल्पिक आय-सृजन के कौशल में लोगों को प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए। गांव के कार्यकर्ताओं को आंगनबाड़ियों को चलाने का प्रशिक्षण दिया गया।

तीन महीने के इस प्रशिक्षण के बाद, सुभद्रा और उन्नीस अन्य युवतियों को उड़ीसा से लगी सीमा पर सरायपाली तहसील के गाँवों में आंगनवाड़ी कार्यकर्ताओं के रूप में काम करने के लिए भेजा गया। रायपुर में बस में चढ़ने के दौरान उन्होंने बस की छत पर अपनी लोहे की पेटियों को चढ़ाने के लिए मजदूर मिल गया। लेकिन जब वे सरायपाली पहुँचे तो उन्होंने पाया कि आसपास कोई मजदूर नहीं थे। चूंकि उन सभी ने साड़ी पहन रखी थी, इसलिए उन्हें ऊपर चढ़ने में असहजता महसूस हुई। इससे कुछ तनाव हुआ क्योंकि बस कंडक्टर ने जल्दी करने के लिए उन पर चिल्लाया। सुभद्रा ने अपनी साड़ी के पल्लू को अपनी कमर के चारों ओर मजबूती से बांधते हुए बस की छत पर चढ़ गई और पेटियों को दूसरी महिलाओं को सौंपना शुरू कर दिया जो कुछ दूर तक चढ़ गई थीं। यह बस स्टैंड पर खड़े पुरुषों के लिए एक तमाशा था और वे भद्दी टिप्पणियां करने में जुट गए। पुरुषों को इससे भी ज्यादा हैरानी तब हुई जब महिलाओं ने अपने सिर पर पेटियों को रखकर गाँव की ओर चल पड़ी। चलते चलते वे गाने गाते गए। छत्तीसगढ़ में एक समुदाय डमचगहों का था जो गाँव गाँव घूम कर अपने कलाबाजी, नृत्य और गायन कौशल का प्रदर्शन करते थे। उस समय ग्रामीण क्षेत्रों में मनोरंजन के लिए ग्रामीणों द्वारा डमचगहों को गर्मजोशी से स्वागत किया जाता था। टेलीविजन के आगमन से उनकी कला खत्म हो गया है। गाँव के बच्चे महिलाओं को गाते देख उनके साथ गाते नाचते चले यह सोच कर कि वे डमचगहा है।

जब वे गाँव पहुँचे तो मुखिया ने उन्हें उनका पड़ाव स्थल दिखाया - माँ काली के मंदिर से सटे एक कमरा। रात्रिभोज के लिए ग्रामीणों ने उन्हें मुरमुरा और तली हुई मूंगफली दी। आधी रात को चिल्ला चोट के कारण सुभद्रा की नींद खुल गई। एक महिला पर माँ काली की आत्मा चढ़ गई थी और वह अपना सिर हिला कर गाने गा रही थी। दूसरी महिलाओं ने उस पर पानी डाला और गोबर के कंडे जलाकर उसे धुआँ सुंघाया ताकि भार उतार जाए। यह सुबह तक जारी रहा जब महिला आखिरकार भार उतर गया। अगले दिन, सुभद्रा अपने सिर पर अपनी पेटी रखकर बागियाजोर गाँव के लिए रवाना हुई जहाँ वह रहने वाली थी।

उसका काम छोटे बच्चों के लिए आंगनवाड़ी केंद्र चलाना, उनके साथ खेलना, कुछ हल्का नाश्ता तैयार करना और उन्हें खिलाना था। उसे आदिवासियों के साथ आस-पास के गाँवों में भी बैठकें करनी थीं और बंधुआ मजदूरों के मामलों का पता लगाना था ताकि उन्हें मुक्त किया जा सके। उसने पहला काम अच्छे से किया। आदिवासी इतने गरीब थे कि वे खुशी-खुशी अपने बच्चों को नाश्ते के लिए आंगनवाड़ियों में भेजते थे। खेल और गीत भी बच्चों के लिए आकर्षक थे इसलिए वे बड़ी संख्या में आते थे। पर जब बंधुआ मजदूरों की पहचान करने की बात आई तो सुभद्रा को सफलता नहीं मिली। डर के मारे कामिया लोग सरकार में मुक्ति के लिए आवेदन करने को तैयार नहीं हुए।

दोपहर में, सुभद्रा को बैठक लेने के लिए पास के गाँवों में जाना पड़ता था और "गाँव मितान" नामक संगठन की मासिक पत्रिका से खबरें पढ़कर लोगों को सुनानी पड़ती थीं। पत्रिका में प्रयोग की

गतिविधियों का विवरण होता था। बच्चों को इकट्ठा कर उन्हें खेल खिलवाकर, गाना गवाकर और नृत्य कराकर वह इतनी लोकप्रिय हो गई कि जब भी वह किसी गाँव में प्रवेश करती, बच्चे उसके आसपास इकट्ठे हो जाते और उत्साह से "मितान आवत हे, मितान आवत हे" चिल्लाते थे। पर जब वह बड़ों के साथ पत्रिका में बताए गए मुद्दों को लेकर चर्चा करने की कोशिश करते थे तो वह उठ कर चले जाते थे। 1980 के दशक के अंत में उस समय गाँव में कोई निर्वाचित पंचायतें नहीं थे। जमीनी स्तर पर लोकतंत्र के अभाव में गाँव के बुजुर्गों का बोलबाला था। ये बुजुर्ग युवा महिलाओं का दल के प्रति संदेह से देखते थे जो अचानक परिवर्तनशील कार्यक्रम लेकर उपस्थित हुए थे।

सुभद्रा और उनके साथी महज दो सौ रुपये महीने के वेतन पर काम कर रहे थे। वह बच्चों के साथ नाश्ता खाती थी और शाम को घर लौटकर रात का खाना बनाकर खाती थी। उसने समय और धन दोनों की बचत के लिए ऐसा करती थी। जब भी संभव हो वह किसी ग्रामीण के घर रात का खाना खा लेती थी! अन्य सभी युवा महिलाओं ने भी इसी तरह की दिनचर्या का पालन किया। हर हफ्ते एक बार वे केंद्रीय गाँव में इकट्ठा होते थे जहाँ उन्होंने अपनी पहली रात बिताई थी। वे यहां अपने राशन लेने आते थे जो वहां से वितरित किया जाता था। इस तरह की एक सभा के दौरान वे सुबह उठकर देखी कि एक कुत्ते ने गुड़ का कुछ हिस्सा रात को खा गया था। चाय बनाने के लिए गुड़ एक आवश्यक सामग्री थी। उनके पास और गुड खरीदने के लिए पैसे नहीं बचे थे। तो महिलाओं ने सोचा कि चूंकि गुड़ का उपयोग चाय में किया जाना था, इसलिए कुत्ते द्वारा खाते समय इसमें डाले गए रोगाणु को चाय बनाते समय गुड़ को उबालने पर नष्ट हो जाएगा। इसलिए महिलाओं ने इसका उपयोग करने का फैसला किया। यह सुनकर गाँव का एक आदमी ने कहा, "कुत्ते का प्रसाद खाके तुम क्या समाज सेवा करोगे!"

सरायपाली में सुभद्रा बहुत कम समय रही। भारत सरकार का केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड, जो इस कार्यक्रम के लिए पैसे दे रहे थे, ने एक साल के बाद धनराशि रोक दी। इसलिए महिलाओं ने वहाँ से तिल्दा वापस आ गए। वहां, अधिकांश लोगों को घर लौटने के लिए कहा गया, लेकिन सुभद्रा और कुछ अन्य लोगों को दुर्ग जिले में जाने के लिए कहा गया, जहां नया काम चल रहा था। इस समय तक राजाजी ने जन संघर्षों को आगे बढ़ाने के लिए “एकता परिषद” का गठन किया था और उसके तले गाँव गाँव में अधिकारों के लिए लढाई को लढ़ी जा रही थी।

विनोबा द्वारा योजना आयोग के विकास योजना के मसौदे को खारिज किए जाने के बाद, नेहरू ने उन्हें दिल्ली में बातचीत के लिए आमंत्रित किया। विनोबा ने पदयात्रा करके दिल्ली जाने का फैसला किया और रास्ते में ग्रामीण गरीबों से रास्ते में बात करके विकास के बारे में उनका मत जानने की कोशिश की। योजना आयोग के साथ वार्ता विफल रही लेकिन इस यात्रा के परिणामस्वरूप विनोबा द्वारा एक नया कार्यक्रम शुरू किया गया जो इसके बाद 1964 तक चला।

इस पैदल यात्रा के दौरान कृषि भूमि की कुछ लोगों के पास केंद्रित होने की समस्या से वे वाकिफ हुए। यह ग्रामीण विकास के लिए मुख्य बाधा थी। यद्यपि भूमि सुधार कानून पारित किया गया था बहरहाल भूमिधारी वर्गों की शक्ति के कारण वास्तव में इसे लागू नहीं किया गया था। विनोबा ने

महसूस किया कि जब तक भूमिहीन जनता को जमीन देने का प्रयास नहीं दिया जाता तब तक ग्रामीण पुनर्निर्माण संभव नहीँ होगा। वह इस कठिन समस्या को हल करने की अहिंसक तरीकों के बारे में सोचने लगे।

18 अप्रैल, 1951 को, उन्होंने तेलनगाना के नालगोंडा जिले के पोचमपल्ली गाँव में प्रवेश किया। यह गांव भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में हुए जमींदारों के खिलाफ विद्रोह के केंद्रों में था। पुलिस की दमनात्मक कार्रवाई से आंदोलन को कुचल दिया गया था। गाँव के दलितों ने उनके पास आकर कहा कि उन्हें अपनी गरीबी से बाहर निकलने के लिए प्रति परिवार केवल दो एकड़ जमीन की आवश्यकता है। विनोबा ने गांव के उच्च जाति के सदस्यों के साथ बैठक की और उनसे पूछा कि दलितों की इस मांग का क्या समाधान हो सकता है। विनोबा के साथ बैठे जमींदारों में से एक अचानक उठा और कहा कि वह इसके लिए अपनी सौ एकड़ जमीन दान करेगा। इस प्रकार जमींदारों द्वारा भूमि दान का एक सिलसिला शुरू हुआ। विनोबा ने यह पहले दान का हवाला देते हुए ज़मींदारों से अपील की कि वे भूमिहीनों के लिए भूमि दान करें। यह भूदान आंदोलन की उत्पत्ति थी जो इसके बाद विनोबा का मुख्य कार्यक्रम बन गया।

स्वतंत्रता के बाद के दौर में स्वतंत्रता आंदोलन के कई दिग्गजों ने मुख्यधारा की राजनीति से बाहर निकलकर गांधी के ग्राम स्वराज को आगे बढ़ाने के लिए काम करने लगे। इनमें सबसे उल्लेखनीय जयप्रकाश नारायण थे, जिन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी में अपनी राजनीतिक यात्रा की शुरुआत की थी। फिर वे एक समाजवादी बन गए थे और आखिरकार 1954 में एक प्रतिबद्ध सर्वोदयी में परिवर्तित हुए थे। उन्होंने खुद को विनोबा के भूदान आंदोलन में समर्पित कर दिया। सर्व सेवा संघ के काम में जान आई और कई युवा पुरुषों और महिलाओं ने गांव में काम करने के लिए आए। इसके कई साल बाद सुभद्रा और मैं राधेश्याम बोहरे से मिले जो आजादी के बाद के पहले दशक में गाँधी स्मारक निधि के ग्रामीण कार्यकर्ता के रूप में काम करना प्रारंभ किए थे। वे बताते थे कि वे विनोबा भावे के साथ 1960 के दशक में मालवा क्षेत्र में भूदान यात्रा किए थे और वह उनके कार्यकाल के सब से अच्छे दिन थे।

पर भूदान आंदोलन और अन्य गांधीवादी कार्यक्रम बहुत कुछ हासिल नहीं कर सके। केन्द्रीकृत राज्य व्यवस्था और औद्योगिक विकास ने गाँधीवाद को हाशिये पर धकेल दिया। इसलिए गांधीवादी संगठनों के नेताओं और कार्यकर्ताओं ने कुछ समय बाद प्रभावहीन होने लगे। भूदान यात्रा समाप्त होने के तुरंत बाद पतन शुरू हुई। बोहरेजी के अनुसार, दान की गई अधिकांश भूमि वास्तव में कभी पुनर्वितरित नहीं हुई, और मालिकों ने उन पर नियंत्रण बनाए रखा। विभिन्न सर्वोदय संगठनों ने अधिकारों के लिए संघर्ष को त्याग दिया और इसके बजाय खादी और ग्रामोद्योग आयोग द्वारा प्रदान की जाने वाली अनुदान के साथ हस्तशिल्प और खादी के उत्पादन और बिक्री पर ध्यान केंद्रित किया। बोहरेजी जैसे जमीनी कार्यकर्ताओं को संगठनात्मक काम करने से हतोत्साहित किया गया। उन्होंने कहा कि 1950 के दशक के अंत और 1960 की शुरुआत में उन्हें कई अवसरों पर एक शिक्षक और पटवारी की सरकारी नौकरी की पेशकश की गई थी। हर बार, उन्होंने इन प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया था क्योंकि उन्हें लगा कि वे बुनियादी राजनीतिक बदलाव का काम कर रहे है। लेकिन, एक

बार जब भूदान आंदोलन थम गया तब जमीनी स्तर का काम बंद हो गया। मध्यप्रदेश में सर्वोदय आंदोलन के नेता न केवल प्रतिबद्ध युवाओं को आकर्षित करना बंद कर दिए, बल्कि उन्होंने अपने बच्चों को भी मुख्यधारा में नौकरी लेकर जीवन जीने के लिए भेज दिए।

1974 में जयप्रकाश नारायण ने बिहार में सम्पूर्ण क्रांति आंदोलन का आगाज किया और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी के प्रमुख को एक गाँधीवादी सत्याग्रह के द्वारा चुनौती दी। अधिकांश सर्वोदयी इस आंदोलन का समर्थन नहीं किए और गाँधीवादी खेमे में फूट पड़ गया। उस समय विनोबा ने "मौन व्रत" ग्रहण किए हुए थे और बोलना बंद कर दिए थे। मध्य प्रदेश में गांधी स्मारक निधि के नेताओं ने भी जयप्रकाश नारायण के खिलाफ जाने का फैसला किया।

इन सब से निराश होकर बोहरेजी ने गांधी स्मारक निधि से इस्तीफा दे दिया। 1975 में, इससे पहले कि सरकार आंतरिक आपातकाल की घोषणा कर आंदोलन को दबाया, वह एक साधारण किसान का जीवन जीने के लिए खातेगांव में अपनी पुश्तैनी जमीन पर खेती करने के लिए वापस चले गए। उन्होंने कहा कि वह आपात काल घोषित होने के बाद अपने काम के क्षेत्र में लौट सकते थे पर क्योंकि समाज गांधीवादी सपने से दूर चला गया था वह वापस नहीं आए। इंदौर के पास माचला गाँव में सर्वोदय शिक्षण समिति का एक आश्रम था जहां एक समय ग्राम स्वराज की स्थापना के लिए काम हुआ करता था जिसका समन्वयक श्री महेंद्रभाई थे जिन्हें आपात काल के दौरान जेल में बंद कर दिया गया था। आपातकाल खत्म होने के बाद महेन्द्रभाई के अनुरोध पर बोहरेजी माचला में लौटे आश्रम के प्रभारी के रूप में। पर सर्वोदय शिक्षण समिति में पहले जैसे काम नहीं हो रहा था। इसके खाली भवन स्वतंत्र भारत में गांधीवादी विचार और व्यवहार के हाशिए पर चले जाने के गवाह थे।

यही कारण है कि राजाजी द्वारा प्रारंभ किया गया मध्यप्रदेश में सर्वोदय आंदोलन का पुनरुत्थान, गांधीवादियों के लिए एक आशा की किरण था। सैकड़ों युवा कार्यकर्ताओं को उन्होंने प्रशिक्षित किया था, जिनमें सुभद्रा जैसी महिलाएं भी शामिल थी, जो पूरे मध्यप्रदेश में ग्रामीण पुनर्निर्माण और सशक्तिकरण के लिए एक नया आंदोलन खड़ा कर रहे थे। इन युवाओं को शुरू में किसी भी तरह का सामाजिक कार्य करने का कोई विचार नहीं था। उन्होंने प्रशिक्षण कार्यक्रम के दौरान इस तरह के काम के बारे में सीखा। इन युवाओं ने शुरुआती वर्षों में काफी प्रभाव डाला और सुस्त प्रशासन को युवा कार्यकर्ताओं द्वारा उठाए गए मुद्दों पर ध्यान देना पड़ा।

बोहरेजी ने कहा कि माचला में वह एक कब्रिस्तान के रखवाला की तरह महसूस करता है पर फिर भी आश्रम में रहने के लिए सहमत हो गए थे क्योंकि यह उसे सर्वोदय के शुरुआती वर्षों की याद दिलाता था जब माहौल बहुत जीवंत था। उन्होंने कहा कि उनकी अपनी युवावस्था में गाँधीवादी काम की बहुत इज्जत होती थी और कई युवाओं ने सर्वोदय आंदोलन में शामिल होने के लिए मुख्यधारा की आकर्षक नौकरी त्याग दिये थे। पर अब ऐसे लोग गांधी के मार्ग का अनुसरण करने के लिए आ रहे थे जिनके पास और कोई अन्य रोजगार का विकल्प नहीं था। अब "मजबूरी का नाम गांधी है", उन्होंने कहा।

अध्याय 9 – छत्तीसगढ़ माता की गुहार 63

1989 में सुभद्रा ने छत्तीसगढ़ के दुर्ग जिले के लोहारा ब्लॉक के एक अंदरूनी गाँव गोटिटोला में एक गोंड आदिवासी के घर में रहने के लिए पहुंची। वह चार महिला कार्यकर्ताओं के एक दल में थीं जिन्हें स्थानीय लोगों को अपने अधिकारों के लिए संगठित करने की जिम्मेदारी दी गई थी। हालांकि, लोग अपने अधिकारों के लिए लड़ने में उत्साह नहीं दिखायी और महिला कार्यकर्ताओं को उदासीनता का सामना करना पड़ा।

कालांतर में सुभद्रा ने ऐसी उदासीनता का कारण समझा। ऐसा नहीं था कि लोगों को उनके अधिकारों के बारे में पता नहीं था। वे सिर्फ इस बात पर भरोसा नहीं कर रहे थे कि चार अलग-अलग गांवों में अकेले काम कर रही और जंगलों में घूम रही ये युवतियां उत्पीड़कों से लड़ने के लिए नेतृत्व प्रदान कर सकेंगी। यह वही विश्वसनीयता का अभाव की समस्या थी जिसका सामना खेमराज जैसे अधिक अनुभवी कार्यकर्ता ने अलीराजपुर में किया था।

सुभद्रा का गांव दल्ली शहर से लगभग दस किलोमीटर दूर था, जो छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा (छ.मु.मो.) का केंद्र था। छमुमो ने तब तक एक दशक से अधिक का संघर्ष कर चुका था और भारत में वैकल्पिक जन आंदोलनों एक ऊंचा दर्जा हासिल किया था। सुभद्रा ने इस संगठन के कार्यक्रमों में भाग लेना शुरू कर दिया ताकि जन संगठन की तौर तरीकों के बारे में अधिक से अधिक सीख सकें और इसकी सफलता से प्रेरणा भी प्राप्त कर सकें। भिलाई स्टील प्लांट के लौह अयस्क के खदान दल्ली राजहरा में था। छमुमो ने इस खदान के आदिवासी ठेका मजदूरों के अधिकारों के लिए 1970 के दशक से लंबा संघर्ष किया था।

इस संघर्ष की अनूठी विशेषता यह थी कि यह आम तौर पर जिस संकीर्ण दायरे में व्यावसायिक संघ काम करते है उस से बाहर निकलकर इसके सदस्यों के पूरे जीवन को अपने कार्य में शामिल किया था। भारत में गरीब मजदूरों को परेशान करने वाली दो सबसे बड़ी समस्याओं के खिलाफ अभियान चलाए गए- शराबखोरी और सूदखोर साहूकारों का बंधन। इन समस्याओं को कम करने के लिए, महिलाओं को शराब की ब्रिकी को रोकने और स्वयं सहायता समूह बनाने के लिए जुटाया गया था। संगठन ने महिलाओं का पितृसत्तात्मक उत्पीड़न की समस्याओं को भी हल करने की कोशिश की। सदस्यों के योगदान से एक अस्पताल स्थापित किया गया। उपचार प्रदान करने के अलावा, अस्पताल ने स्वास्थ्य जागरूकता बढ़ाने के लिए सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यक्रम भी विकसित किया। सांस्कृतिक मोर्चे पर छत्तीसगढ़ के इतिहास में लोगों के उन जन संघर्षों का पता लगाने के लिए अनुसंधान किया गया जिन्हे मुख्यधारा के इतिहासकारों द्वारा नजर अंदाज किया गया था। नए साहित्य, गीतों और नाटकों के द्वारा छत्तीसगढ़ की एक सकारात्मक छवि बनायी गई जो मुख्यधारा की प्रचार माध्यम से प्रसारित आधुनिक शहरी संस्कृति का मुकाबला कर सके। अपने नेता शंकर गुहा नियोगी से प्रेरित होकर मोर्चा ने 1980 के दशक के उत्तरार्ध से भिलाई और उसके आसपास की औद्योगिक इकाइयों और आस-पास के गाँवों में काम का विस्तार किया था।

मोर्चा का गठन 1982 में उस जनविरोधी शासन और विकास के खिलाफ किया गया था जिसने प्राकृतिक और मानव दोनों ही संसाधनों को बर्बाद कर दिया था। मोर्चा ने एक चार-स्तरीय रणनीति तैयार की - पर्यावरण संरक्षण के कानूनों को लागू करना; पारंपरिक सामुदायिक और कृषि गतिविधियों को पुनर्जीवित करना, जिसमें व्यापारियों से किसानों के लिए बेहतर दाम प्राप्त करना शामिल है; स्थानीय नौकरशाही के भ्रष्टाचार का विरोध और विनाशकारी आधुनिक विकास के खिलाफ एक वैचारिक और सांस्कृतिक विकल्प की स्थापना। आधुनिक विकास की विचारधारा का आम जनता पर इतना अधिक प्रभाव था कि इसे चुनौती देने के लिए सामूहिक कार्रवाई शुरू करना मुश्किल था।

सशक्त आधुनिक राज्य व्यवस्था के खिलाफ व्यापक प्रतिरोध के महत्व को महसूस करते हुए नियोगी ने मध्य भारत में पहले से ही चल रहे जन आंदोलनों के साथ एक व्यापक मोर्चा बनाया। नर्मदा बचाओ आंदोलन और एकता परिषद उस समय पूरे प्रवाह में थे। अलीराजपुर में खेड़ुत मजदूर चेतना संगठ और होशंगाबाद में किसान आदिवासी संगठन ऐसे दो आदिवासी जन संगठन थे जिन्होंने अपनी ताकत स्थापित कर चुके थे। इन सभी संगठनों में काफी उत्साह थी और भविष्य में और शक्ति हासिल करने की संभावना दिख रही थी। वैकल्पिक जन आंदोलनों की यह प्रक्रिया इससे पहले 1984 में भोपाल गैस त्रासदी के खिलाफ संघर्ष से शुरू हुई थी।

1989 भारत में जन आंदोलनों के इतिहास में एक महत्वपूर्ण वर्ष है। उस साल 28 सितंबर को, विनाशकारी विकास के खिलाफ पहली राष्ट्रीय जुलूस और सामूहिक सभा मध्य प्रदेश के छोटे से शहर हरसूद में आयोजित की गई थी। इस जुलूस और सभा में हजारों लोग शामिल हुए, जो केंद्रिकृत विकास और शासन के विरुद्ध देशव्यापी जन आंदोलन शुरू करने के संकल्प के साथ समाप्त हुआ। अगले दिन, छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा के तत्वावधान में रायपुर में भी एक बड़ा जमावड़ा हुआ। इसने एक ऐसा छत्तीसगढ़ राज्य की स्थापना करने का आह्वान किया जो अपने गरीब नागरिकों के हितों को सुरक्षित करेगा। छमुमो के संघर्षों से संगठन की बुनियादी समझ बनी थी कि मौजूदा केन्द्रीकृत विकास और प्रशासन के तरीकों में आमूल चूल परिवर्तन लाए बिना केवल एक अलग छत्तीसगढ़ राज्य का निर्माण से लोगों के जीवन में सुधार होनेवाला नहीं है। टेलीविजन द्वारा लोकप्रिय किए गए उपभोक्तावादी संस्कृति की व्यापकता को देखते हुए एक पर्यावरणवादी चुनौती खड़ी करनी होगी। किसानों और श्रमिकों को मिलकर इस पर्यावरणवादी जन आंदोलन का नेतृत्व करना होगा।

मोर्चा ने परिणामस्वरूप ग्राम पंचायतों की राजनीति में अपनी भागीदारी सुनिश्चित की ताकि नीचे से केंद्रीकृत व्यवस्था पर प्रहार किया जा सके। इन पंचायतों ने अपने पारंपरिक चरित्र को खो दिया था और भ्रष्टाचार से घिरे केन्द्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था का एक सूक्ष्म रूप बन गया था। वर्तमान समय में पंचायतें मुख्यधारा की राजनीतिक पार्टियों के लिए कार्यकर्ता तैयार करने कार्य करती हैं। वर्तमान केन्द्रीकृत प्रणाली के खिलाफ अपनी लड़ाई में प्रारंभिक कदम के रूप में मोर्चा ने पारंपरिक सहमति-आधारित पंचायत को फिर से मजबूत करके भ्रष्ट राजनीति को उलटने की प्रक्रिया शुरू कर दी।

सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य के राजनीतिक सलाहकार के रूप में भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध कौटिल्य ने युवा सम्राट को सुझाव दिया था कि एक व्यक्ति को गर्म चावल के कटोरे के बीच में हाथ डालना

मूर्खतापूर्ण है और उसे इसके बजाय हाशिये के ठंडे दानों से भोजन शुरू करना चाहिए। सदियों बाद, मोर्चा ने इस उपदेश पर अमल करते हुए सफलता हासिल की - इसके आदिवासी नेता, जनकलाल ठाकुर, 1985 में मध्य प्रदेश विधानसभा में डोंडी-लोहारा से निर्वाचित हुए। छमुमो की अनोखी कार्यप्रणाली यह थी कि यह एक साथ संघर्ष, आर्थिक और राजनीतिक कार्यवाही और निर्माण, विकासात्मक और सांस्कृतिक नवीकरण गतिविधियाँ को करते थे। एक सामूहिक नेतृत्व के तहत लोकतांत्रिक रूप से संगठन के कार्यों का संचालन किया जाता था एक वैकल्पिक सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना के लिए। मोर्चा के एक किसान नेता और लोक गायक, जिन्होंने कई क्रांतिकारी और लोकप्रिय गीत बनाए हैं, फागूराम, ने अपने गीत में इसे बखूबी गाया है -

“छत्तीसगढ़ दाई के हावे गा गोहार
सबो जन मिलके शोषण ला टार्बो ”

"माँ छत्तीसगढ़ अपने सभी बच्चों को बुला रही है,
एक साथ जुड़ें और शोषण को खत्म करें। ”

सुभद्रा ने छमुमो के संघर्षों से बहुत प्रेरणा प्राप्त की लेकिन संगठन स्थापित करने का उनका अपना प्रयास विफल रहा। महिला कार्यकर्ताओं को एक साथ काम करने देने के लिए उनकी मांग को उनके पुरुष पर्यवेक्षक माना नहीं। ऐसे दुर्गम इलाकों में अकेले काम करने में महिलाओं को असुरक्षा की भावना होती है और इससे पहले कुछ महिलाओं के साथ बलात्कार की घटनाएं भी हुई थीं। उनकी शक्तिहीनता को स्थानीय लोगों ने भी भांप लिया था और इसलिए संगठन से वे जुडने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखायी। लोग ऐसे एकाकी कार्यकर्ताओं और उनके संगठनों को "बिन पेंदे के लोटा" मानते थे जो शोषकों से धक्का खाकर लुड़क जाते है। लोग मुख्यधारा की राजनीतिक पार्टियों के कार्य प्रणाली से इतने अभ्यस्त हो गए थे कि वे अपने खुद के लड़ने की क्षमता में विश्वास खो चुके हैं। इस बात से निराश होकर सुभद्रा ने एकता परिषद छोड़ दी और 1990 के वसंत में वापस जेपरा चली गईं।

उसने वापस आकार देखी कि जेपरा काफी बदल गई थी। उसके पिता, जो बहुत बूढ़े हो गए थे और काम नहीं कर पाते थे , ने खेत को एक रिश्तेदार को किराए पर दे दिया था। उसका भाई बीमार और बेरोजगार था। सुभद्रा ने फिर से जेपरा के बाहर अवसरों की तलाश की और तिल्दा में राजाजी से मिलने गई। राजाजी ने उसे पश्चिमी मध्य प्रदेश जाने की सलाह दी जहां नया काम प्रारंभ हुआ था। उन्होंने यह भी कहा कि वहाँ प्रभावी ढंग से काम करने के लिए सुभद्रा को आजादी होगी। यह एक बहुत अच्छा मौका था इसलिए सुभद्रा ने तुरंत इसे स्वीकार कर लिया।

1990 की भीषण गर्मी में, सुभद्रा ने छत्तीसगढ़ से ट्रेन में भोपाल के लिए रवाना हो गई। वहाँ उनकी मुलाकात मध्य प्रदेश के वरिष्ठ गांधीवादी कार्यकर्ताओं में से एक, रामचंद्र भार्गव, से हुई। तब वह नहीं जानती थी कि भविष्य में एक दिन भार्गवजी और उसकी पत्नी रुक्मणी मेरे साथ उसके सिवल मेरिज ऐक्ट के तहत विवाह के लिए माता-पिता की भूमिका निभाएंगें। भार्गवजी भोपाल में गांधी भवन के प्रभारी थे और कुछ अन्य गैर सरकारी संगठन भी चला रहे थे। भले ही वह या उसके संस्था

किसी भी आंदोलन में भाग नहीं लेते थे लेकिन वे हमेशा अपने दरवाजे सक्रिय कार्यकर्ताओं और संगठनों के लिए खुला रखते हैं। यही कारण है कि भोपाल में गांधी भवन पर्यावरणविदों की कई महत्वपूर्ण राष्ट्रीय और राज्य स्तरीय बैठकों का स्थल रहा है। चूंकि यह विधान सभा, मुख्यमंत्री निवास और राज्यपाल के निवास के बहुत करीब स्थित है, यह भोपाल में आंदोलन शुरू करने के लिए एक सुविधाजनक केंद्र बिंदु है। जब राजाजी ने अपने संगठनात्मक कार्यों को पश्चिमी मध्य प्रदेश में विस्तारित करने की इच्छा व्यक्त की थी तब भार्गवजी उन्हें मदद करने के लिए उत्साहपूर्वक सहमति व्यक्त की थी।

इंदौर में कार्यकर्ताओं की एक बैठक में, सुभद्रा ने गांधीवादी आचार्यों महेंद्र जैन और काशीनाथ त्रिवेदी से मुलाकात की। जैसे कि बताया गया है महेंद्रभाई माचला स्थित सर्वोदय शिक्षण समिति के अध्यक्ष थे। महेंद्रभाई ने सर्वोदय आंदोलन के एक किशोर कार्यकर्ता के रूप में जुड़े थे और बाद में जनोन्मुख पत्रकारिता के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिए थे। वे इसके लिए सर्वोदय प्रेस सेवा की स्थापना की थी। आपातकाल के दौरान उन्हें अठारह महीने की जेल हुई थी। जैसे ही इस क्षेत्र में हलचलें बढ़ी इंदौर में उनका कार्यालय-सह-निवास विभिन्न जनसमूह का केंद्र बन गया। काशीनाथजी ने भी संघर्ष में जीवन व्यतीत किया था। एक बहादुर स्वतंत्रता सेनानी थे और इसलिए वे ब्रिटिश जेलों में लगातार "अतिथि" रहे। इसके बाद, उन्होंने ग्रामीण गरीबों और आदिवासियों के लिए एक वैकल्पिक शिक्षा प्रणाली विकसित करने के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया। धार जिले के टवलाई गांव में वे आदिवासी छात्रों के लिए एक आवासीय विद्यालय स्थापित किए थे।

बैठक में यह निर्णय लिया गया कि धार जिले के डही ब्लॉक में काम शुरू किया जाएगा, जो गांधीवादियों, गैर-सरकारी संगठनों और सामाजिक आंदोलनों से अपेक्षाकृत अछूता रहा था। यह ब्लॉक आदर्श रूप से स्थित था क्योंकि इसके पास अलीराजपुर जिले के सोंडवा और धार जिले के कुक्षी में, खेडुत मजदूर चेतना संगठन (खेमचेस) और नर्मदा बचाओ आंदोलन (नबआ) बहुत सक्रिय थे और उनसे सुभद्रा को अच्छा समर्थन मिल सकता था। वह टवलाई में आश्रम गई। यह सोचा गया कि डही ब्लॉक के जो बच्चे टवलाई आश्रम में पढ़ रहे थे वे उस इलाके और लोगों से सुभद्रा का परिचय कराने के लिए सही लोग होंगे। कुछ किशोर आदिवासी छात्रों के साथ, सुभद्रा ब्लॉक के गांवों में गई। पिछले कुछ दिनों से वह इतनी व्यस्त थी कि प्राकृतिक परिवेश में बदलाव पर ध्यान देने के लिए उसके पास समय नहीं था। लेकिन जब वह कडकती धूप की गर्मी में देहात गई तो अचानक छत्तीसगढ़ से इस इलाके का भारी अंतर से सामना हुई। निमाड़ क्षेत्र में भारी निर्वनीकरण हुई थी और चारों तरफ बंजर पहाड़ थे, जिससे गर्मी बढ़ गई थी। यह छत्तीसगढ़ के विपरीत था, क्योंकि वहाँ तालाबों और सिंचाई की नहरें और वनों के विस्तार के कारण, गर्मियों में भी हरियाली रहती थी। भोजन में भी परिवर्तन था। सुभद्रा को चावल खाने की आदत थी। लेकिन यहां उसे मोटे मक्के की रोटियां मिलती थीं। छत्तीसगढ़ में उपलब्ध पीले देसी मक्का के मुकाबले यहाँ मक्का संकर किस्म और सफेद रंग का था। इस अनाज में स्वाद नहीँ था।

जल्द ही, उसे कुछ और भी बुरा देखने को मिला। गाँवों की ओर जाने वाली सड़क के दोनों ओर मलमूत्र से भरा पड़ा था और भयंकर बांस रहा था। खेतों में जाने के बजाय लोग सड़कों के किनारे शौच करते थे। इससे भी बदतर, उसने जाना कि भिलाला आदिवासी खुद को शौच के बाद नहीं धोते थे और इसके बजाय गुदा को पत्थर से पोंछ कर साफ करते थे। भील लोग पारंपरिक रूप से यह मानते थे कि शौच के बाद गुदा को धोना उनकी किस्मत धोने के बराबर हैं! भिलालें पानी की कमी को देखते हुए सप्ताह में एक ही बार स्नान करते थे। इसलिए शौच और स्नान दोनों उसके लिए चुनौतीपूर्ण गतिविधियाँ बन गई। उसे शौच में जाने से पहले पानी ले जाने के लिए डब्बा ढूँढना पड़ता था। इसी तरह, स्नान भी एक विस्तृत अनुष्ठान बन गया, क्योंकि पानी हैंडपंप या कुएं से प्राप्त करना पड़ता था जो कि एक किलोमीटर की दूरी पर था। छत्तीसगढ़वासी हमेशा दोपहर के भोजन से पहले निकटतम तालाब में डुबकी लगाकर स्नान करते हैं। जैसे मैंने भी इससे पहले सीखा था कि भीलों के बीच रहने और काम करने का मतलब है नियमित स्नान का आनंद को त्याग करना वैसे सुभद्रा को भी सीख मिली।

डही ब्लॉक में ज्यादातर भिलाला आदिवासियों की आबादी थी। केवल कुछ गाँव में, जैसे कि डही का बाज़ार गाँव, जिस से ब्लॉक को अपना नाम मिला है, पर्याप्त संख्या में गैर-आदिवासी थे। प्रारंभिक सर्वेक्षण से पता चला कि छत्तीसगढ़ की तुलना में शिक्षा और जागरूकता की कमी अधिक थी। पर यहाँ लोग संगठित सामूहिक कार्रवाइयों के माध्यम से भ्रष्टाचार मिटाने के बारे में उनकी बातों को सुनने को अधिक तैयार थे। उसने पूरे ब्लॉक का दौरा किया और बीस परिवारों को चुना जो कि बाद में आने वाले उसके साथी कार्यकर्ता की मेजबानी करने वाले थे। वह इतना करके बहुत खुश थी। एक कहानी ऐसी है कि एक बार गाँव में एक कार्यकर्ता संगठन की बैठक को संबोधित करने गया तो वहाँ केवल दो लोग बैठे थे। फिर भी कार्यकर्ता ने अपना भाषण दिया और बैठक में भाग लेने और उसे उत्सुकता से सुनने के लिए दो श्रोताओं का धन्यवाद दिया। दो लोगों ने कहा कि वे इसलिए सुन रहे थे क्योंकि जिस दरी पर कार्यकर्ता खड़ा होकर अपना भाषण दे रहा था वह उनका था! इसलिए कार्यकर्ताओं बहुत खुशी होती है जब लोग बैठकों में अच्छी संख्या में इकट्ठा होते हैं। बदली हुई जलवायु, संस्कृति और भोजन के बावजूद, सुभद्रा ने डही में एक संतोषजनक पखवाड़ा बिताया और संगठनात्मक कार्य शुरू करने के लिए सभी इंतजाम करने के बाद वापस तिल्दा चली गईं।

डही सहित विभिन्न नए क्षेत्रों में काम करने के लिए कार्यकर्ताओं के चयन के लिए तिल्दा में एक प्रशिक्षण और चयन शिविर का आयोजन किया गया। बीस लोगों का चयन किया गया और वे सुभद्रा के साथ डही आए और उन गांवों में गए जो पहले उनके लिए चुने गए थे। थोड़े समय में ये युवा स्थानीय आदिवासियों के समर्थन प्राप्त करने में सक्षम हुए और लोग विभिन्न मांगों को लेकर स्थानीय अधिकारियों से संपर्क करने लगे। पड़ोसी सोंडवा ब्लॉक के जैसे यहाँ भी, पारंपरिक गाँव के पटेलों, मुख्यधारा की राजनीतिक पार्टी के कार्यकर्ताओं और नौकरशाही के बीच सांठगांठ था और भ्रष्टाचार का बोलबाला था। चूँकि लोगों ने खेमचेस और नबआ के इस दमनकारी सांठगांठ को चुनौती देने के कारनामों के बारे में पहले से ही वाकिफ थे इसलिए वे खुद का एक नया संगठन बनाने के लिए इन युवा कार्यकर्ताओं के साथ देने लगे। उन अधिकारियों के खिलाफ शिकायतें दर्ज की गईं

जिन्होंने आदिवासियों से रिश्वत ली थी। इस सकारात्मक प्रतिक्रिया के बारे में सुनने के बाद राजाजी ने स्थानीय लोगों के लिए एक प्रशिक्षण शिविर आयोजित करने का फैसला किया।

यह सुभद्रा के लिए एक बहुत बड़ा सम्मान था। और कहीं भी इतने कम समय में स्थानीय प्रशिक्षण शिविर आयोजित नहीं किया गया था क्योंकि आमतौर पर लोगों को संगठन की प्रक्रिया के लिए तैयार करने के लिए समय लगता था। एक प्रशिक्षण शिविर का आयोजन में बहुत कुछ करना पड़ता है। लेकिन इस बार एक और समस्या थी। गांधीवादी सामाजिक कार्यों के मूल सिद्धांतों में से एक है, लोगों के बीच स्वच्छता के बारे में जागरूकता पैदा करना। यह इस तथ्य से उत्पन्न हुआ कि पारंपरिक हिंदू समाज में, शौचालयों की सफाई की जिम्मेदारी एक विशेष जाति के साथ होती है, जिसे अछूत का दर्जा दिया गया था। इन जातियों को मुक्त करने के प्रयास में, गांधी ने उन्हें हरिजन कहा। उन्होंने अपने अनुयायियों के लिए गाँवों में शौचालय साफ करना अनिवार्य कर दिया। गांधी को उम्मीद थी कि ऐसा करने से वे ऊंची जातियों पर नैतिक दबाव डाल सकेंगे या तो वे खुद ही शौचालय साफ करेंगें या पानी वाले शौचालय स्थापित करेंगे। इसलिए समय-समय पर अभियान चलाए गए जिसमें सर्वोदयी एक सप्ताह तक शौचालय की सफाई करते रहे।

एक स्वच्छ ग्राम परिवेश सफल गांधीवादी कार्य का लक्षण था। शिविर के लिए राजाजी के गाँव में आने पर सबसे पहले वह यह देखेंगे कि सड़क के किनारे मलमूत्र और उसकी बदबू है और वे निष्कर्ष निकालेंगे कि कार्यकर्ता अपनी बुनियादी जिम्मेदारियों को नहीं निभाएं है। चूंकि गाँव के लोगों की सफाई अभियान में भाग लेने की संभावना नहीं थी इसलिए सड़क की सफाई का बोझ कार्यकर्ताओं पर आ गया। इसलिए शिविर की सुबह, जब गाँव के लोगों ने शौच सम्पन्न कर लिए थे तब सुभद्रा और उनकी टीम तौलिये से अपने चेहरे को ढँककर फावड़े और टोकरियों के साथ सड़क के पास के मलमूत्र की सफाई की। जब राजाजी पहुंचे तब गाँव साफ सुथरा था और हर कोई मुस्कुराते हुए बदबू रहित हवा में सांस ले रहा था।

शिविर सफल रहा; इसमें न केवल स्थानीय लोग, बल्कि नबआ और खेमचेस से जुड़े पड़ोसी जिलों के लोगों और कार्यकर्ताओं ने भी भाग लिया। आदिवासी युवाओं के एक पूरे नए उत्साही कैडर को अपने समुदाय के लिए काम करने के लिए प्रेरित किया गया। पर डही ब्लॉक में काम शुरू करने से पहले, नर्मदा को बचाने के लिए संघर्ष को मदद की जरूरत थी। नर्मदा नदी पर सरदार सरोवर बांध का निर्माण में नींव तक का काम पूरा हो गया था। नबआ के लिए इस समय बांध का काम रोकना अनिवार्य हो गया था। मध्य प्रदेश के निमाड़ के बड़वानी से गुजरात के केवडिया में बांध स्थल तक एक विशाल संघर्ष यात्रा की योजना बनाई गई थी सरकार को बांध को पूरी तरह से रद्द करवाने के लिए। इसके लिए बड़े पैमाने पर लोगों को जुटाना था। नबआ ने राजाजी से अनुरोध किया कि वह इस में मदद करने के लिए अपने कार्यकर्ताओं की टीम को एक महीने के लिए बड़वानी भेज दें।

इसलिए सुभद्रा और उनके सहकर्मी "संघर्ष यात्रा" के लिए लोगों को जुटाने के लिए रवाना हुए। वे अब और "बिन पेंदे के लोटे" नहीं थे।

अध्याय 10 - नर्मदा की बहती बंद

आज हेलकारिया में सब शांत है। यह हमेशा ऐसा नहीं था। आज की शांति हार की खामोशी है, एक समाधि का पत्थर है जो एक समय का गरजते हुए बहने वाली नर्मदा नदी की मौत का निशान है। अलीराजपुर जिले के सिरखिरी गांव में नर्मदा नदी एक संकीर्ण गहरी खाई से गुजरती है। इस खाई का भील नाम हेलकरिया था, जिसका अर्थ है "एक तरफ से दूसरी तरफ पलटना" जो इसलिए रखा गया था क्योंकि बरसात के मौसम में उफान आने पर नर्मदा इस खाई में से उबलते और दहाड़ते हुए जाती थी। हालांकि सरदार सरोवर बांध के जलाशय द्वारा इस खाई को डूबा दिया गया है। भले ही आज उसकी बहती बंद हो गया हो पर इस शांत पानी के नीचे नर्मदा की प्राचीन महिमा को बनाए रखने के लिए नर्मदा बचाओ आंदोलन (न.ब.आ) द्वारा किए गए उल्लेखनीय संघर्ष की कहानी छिपी है। नबआ के संघर्ष इस देश और दुनिया भर में पर्यावरणवाद के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अंग है।

जब मैं पहली बार अलीराजपुर आया था तब सरदार सरोवर बांध का निर्माण बंद था क्योंकि उसे भारत सरकार के पर्यावरण और वन मंत्रालय से मंजूरी नहीं मिली थी।

सरदार सरोवर बांध का इतिहास अजीबोगरीब घटनाओं से भरा हुआ है। 1961 में जवाहरलाल नेहरू द्वारा गुजरात के नवागाम में इसकी आधारशिला रखी गई थी, और उस समय इसकी पूर्ण जलाशय स्तर की ऊंचाई 162 फीट का एक था जो कि गुजरात और महाराष्ट्र में कुछ गांवों को जलमग्न कर देता। जब गुजरात सरकार ने उत्तर गुजरात के कच्छ जैसे इलाकों में सिंचाई के उद्देश्य से बांध की ऊंचाई को बढ़ाकर 425 फीट करने के लिए प्रस्ताव रखा तब मामला और पेचीदा हो गया। इससे मध्य प्रदेश के गाँव भी जलमग्न हो रहे थे। इसके बाद विभिन्न राज्यों के बीच विवाद उत्पन्न हुए, और 1969 में, राजस्थान द्वारा भी नर्मदा से पानी की मांग करने के बाद, नर्मदा जल के उपयोग को लेकर राज्यों के बीच विवादों को सुलझाने के लिए नर्मदा जल विवाद न्यायाधिकरण की स्थापना की गई।

कई वर्षों के लिए विवाद चला, मुख्य रूप से इसलिए कि राज्यों ने सिंचाई और बिजली के लाभों के बारे में अपने दावों को बढ़ाया और उन लागतों को कम आँका जो उन्हें इसके लिए वहन करना होगा। अंत में, न्याधिकारण ने 1978 में अपना फैसला सुनाया। नदी में कुल वार्षिक जल प्रवाह को 75% निर्भरता के आधार पर 2.8 करोड़ एकड़ फीट माना गया जब कि वास्तव में नदी में केवल 2. 2 करोड़ एकड़-फीट पानी ही बह रहा था। यह इसलिए किया गया ताकि सभी राज्यों को खुश किया जा सके। गुजरात को इसमें से 0.9 करोड़ एकड़ फीट दिया गया जबकि मध्य प्रदेश को 1. 825 करोड़ एकड़ फीट और महाराष्ट्र और राजस्थान को क्रमशः 0.05 और 0.025 करोड़ एकड़ फीट पानी दिया गया। नवागाम बांध की ऊंचाई को, जिसका सरदार सरोवर परियोजना (एसएसपी) नामकरण हो चुका था, 455 फीट और उसकी सिंचाई नहर की ऊंचाई 300 फीट तय की गई थी। बांध से उत्पन्न होने वाली बिजली की लागत और लाभ भी तीनों राज्यों के बीच आवंटित कर दी गई।

इस प्रकार एक अजीबोगरीब तरीके से नर्मदा के जल के उपयोग की योजना को इसके पर्यावरणीय तर्क के विपरीत नीचे से ऊपर की ओर ले जाया गया जबकि इसे ऊपर से नीचे तक ले आना था। यह इसलिए हुआ क्योंकि गुजरात राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से मध्य प्रदेश की तुलना में और

शक्तिशाली था। एसएसपी के लिए 455 फीट की ऊंचाई इसलिए तय किया गया कि गुजरात को 0.9 करोड़ एकड़ फीट पानी का आवंटन हो सके। चूंकि एसएसपी द्वारा बनाया जाने वाला जलाशय इतना सब पानी का भंडारण करने में सक्षम नहीं था, इसलिए 860 फीट ऊंचे एक अन्य विशालकाय बांध की योजना मध्य प्रदेश के पुनासा में बनाई गई जिसका बाद में इंदिरा सागर परियोजना (आईएसपी) नामकरण हुआ। इस बांध से छोड़ा गया पानी एसएसपी की ओर बढ़ने से पहले ओंकारेश्वर और महेश्वर में दो और बांधों में संग्रहीत किया जाना था। पुनासा बाँध के ऊपर के क्षेत्र का पानी का लाभ उठाने के लिए नर्मदा पर बरगी में एक और बाँध बनाया जाना था। इन सभी अन्य बांधों की ऊंचाइयों की गणना इस प्रकार की गई ताकि वे मध्य प्रदेश को आवंटित किए गए 1.825 करोड़ एकड़ फीट का उपयोग करने में सक्षम हो सकें।

वास्तव में नदी के जल प्रवाह का अनुमान लगाना बहुत कठिन है जो नदी के जल ग्रहण क्षेत्र के विभिन्न विशेषताओं और उसमें बह रहा पानी के मापन पर आधारित होता है। अलग-अलग विशेषज्ञ इन सब विशेषताओं के एक ही तथ्य के आधार पर अलग-अलग अनुमान लगाते हैं।

नर्मदा के जल प्रवाह के साथ भी यही हुआ है। 1974 में 2.8 करोड़ एकड़-फीट का जो अनुमान, लगाया गया था, वह तकनीकी कम और राजनीतिक अधिक था। वर्तमान अनुमानों के अनुसार वास्तविक जल प्रवाह केवल 2.269 करोड़ एकड़ फीट है। इसके करीब का एक अनुमान 1971 में न्यायाधिकरण के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। पर अतिरिक्त सिंचाई और बिजली उत्पादन के दावों को समायोजित करने के लिए अतिरिक्त जल प्रवाह बाद में अनुमानित किया गया। इस प्रकार सभी बांधों ऊंचाई अधिक निर्धारित की गई। हिमाचल प्रदेश में सतलज नदी पर भाखड़ा बांध, नेहरू के आधुनिक मंदिरों में से एक और शायद सबसे प्रसिद्ध भी इसी तरह के दोषपूर्ण आकल्पन से ग्रस्त है। उस मामले में, न केवल देश के भीतर के राज्य, बल्कि दो राष्ट्र, भारत और पाकिस्तान, एक-दूसरे के साथ पानी के बंटवारे को लेकर झगड़ रहे थे। वास्तव में, इस तरह के आकल्पन, जो नदी के पानी के लिए अतिरिक्त मांगों के आधार पर किया जाता है, बाद में विवादग्रस्त पक्षों के बीच अधिक विवाद पैदा करता हैं। यह जमुना, सतलज, रावी और ब्यास नदियों के पानी को लेकर पंजाब, दिल्ली और हरियाणा के बीच और कावेरी नदी को लेकर कर्नाटक और तमिलनाडु के बीच हो रहे लगातार संघर्ष से स्पष्ट है। कुछ ही वर्षों में नर्मदा को लेकर भी इसी तरह के विवाद शुरू हो जाएंगे।

एक नदी घाटी में सतही और उप-सतही जल प्रवाह के प्रबंधन का उचित तरीका है कि नदी के सबसे ऊपरी सूक्ष्म जलक्षेत्रों से काम शुरू किया जाए और फिर आखरी में अगर जरूरत हो तो ही मुख्य नदी को उतना ही बांध जाए जितना कि आवश्यक हो। यह प्रक्रिया आर्थिक रूप से बहुत सस्ती है और पर्यावरण निरन्तरता की दृष्टि से सटीक है। बड़े बांधों का निर्माण केवल उन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए किया जाना चाहिए जिन्हें स्थानीय जल प्रबंधन से पूरी नहीं की जा सकती हैं। हालाँकि, इस विकेन्द्रीकृत जल प्रबंधन के लिए बहुत ही सरल तकनीक की आवश्यकता होती है जो कि प्राचीन हड़प्पा सभ्यता के समय से हजारों वर्षों से चली आ रही है बहरहाल यह इंजीनियरों और नेहरू जैसे लोगों को पसंद नहीं है जो केन्द्रीकृत विकास पसंद करते हैं। बड़े बांधों के कारण बड़े पैमाने पर जंगल

जलमग्न होते हैं जो जैव विविधता में समृद्ध हैं। खेत, गाँव और नगर भी डूबते है जिससे आर्थिक और सांस्कृतिक समृद्धी को हानी पहुँचती हैं। इन बांधों, नहरों और बिजलीघरों का निर्माण हो जाने के बाद पर्यावरण और सामाजिक लागतों की भरपाई के लिए बहुत कम पैसा बचता है। नतीजतन, विस्थापित लोग खुद इन लागतों को वहन करने के लिए मजबूर हो जाते हैं। इसलिए नेहरू को बार-बार विस्थापितों को देश के हित में कष्ट उठाने के लिए अपनी भाषणबाजी की कुशलता का इस्तेमाल करना पड़ा। धार्मिक अंधविश्वास में डूबे हुए अधिकतर जनता को इस प्रकार मंदिरों और बलिदानों के धार्मिक प्रतीकों का इस्तेमाल कर बेवकूफ बनाया गया। आज भी, सभी सार्वजनिक परियोजनाएं धार्मिक "भूमि पूजन" समारोह के साथ शुरू होती हैं यद्यपि भारतीय राज्य संवैधानिक रूप से धर्मनिरपेक्ष है।

हालांकि, न्यायाधिकरण के आदेश में सब कुछ खराब नहीं हैं। यह भूमि के बदले भूमी के महत्वपूर्ण कानूनी सिद्धांत के आधार पर विस्थापितों के पुनर्वास और मुआवजे का प्रावधान करता है, जो इस देश में पहली बार हुआ है। हिमाचल प्रदेश में सतलज नदी के ऊपर भाखड़ा जैसे बांधों के मामले में, विस्थापित लोगों को बहुत कम मौद्रिक मुआवजा दिया गया था और ज्यादातर वे अपने स्वयं के उपायों से अपने पुनर्वास के प्रबंध किए थे। सुभद्रा के परिवार के साथ भी यही हुआ था। न्यायधकरण के आदेश इस प्रकार भूमि अधिग्रहण अधिनियम के सीमित ढांचे से अलग था जो केवल एक विशेष क्षेत्र में भूमि की मौजूदा बाजार दरों के अनुसार मौद्रिक मुआवजे का प्रावधान करता है। आमतौर पर, आदिवासी क्षेत्रों में, जमीन के लिए बाजार की दरें बहुत कम होती है और इसलिए उन्हें विस्थापन के बाद बहुत कम मुआवजा मिलता है और वे बर्बाद हो जाते है।

मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र सरकारों ने अच्छे पुनर्वास प्रावधानों के लिए कोशीश की और उन्हें यह मिले और इसका खर्च गुजरात सरकार को उठाना था। विस्थापित व्यक्ति और उसके प्रत्येक वयस्क बेटे को कम से कम दो हेक्टेयर सिंचित भूमि दी जानी थी और गांवों को एक समुदाय के रूप में एक साथ एक जगह पर बसाया जाना था, जिसमें पार्क, सड़क, बिजली और पीने के पानी जैसी सभी नागरिक सुविधाएं होनी थीं। सभी लोगों को यह पुनर्वास उपलब्ध कराया जाना था जो अपनी भूमि का पच्चीस प्रतिशत से अधिक खोने वाले थे। भूमी की जलमग्नता का निर्धारण बैक वाटर लेवल के अनुसार होना था, जो बांध से दूरी के साथ बढ़ता है। हालाँकि, इस आदेश में कुछ कमियां थीं जैसे भूमिहीन और अतिक्रमण करने वाले परिवारों के लिए कोई प्रावधान नहीं था, बहरहाल कुल मिलाकर यह पहले के किसी भी अन्य पुनर्वास प्रावधान से बहुत बेहतर था। बाद में जब नबआ सर्वोच्च न्यायालय में गया, तो बांध के कारण होने वाले पर्यावरणीय और आर्थिक हानी के बारे में नबआ द्वारा बताए गए सभी तर्कों और तथ्यों से अधिक इन ठोस कानूनी प्रावधानों का पालन न होना ने बांध के निर्माण को एक दशक तक रोकने के लिए आधार बना।

एसएसपी के लिए ऋण हेतु गुजरात सरकार ने विश्व बैंक को एक आवेदन दिया था जो न्यायाधिकरण में मामला लंबित होने के कारण अटक हुआ था। 1978 में, विश्व बैंक ने न्यायाधिकरण के आदेश के तुरंत बाद इस परियोजना का आकलन करने के लिए एक समीक्षा दल भेजा। समीक्षा

दल ने विभिन्न पर्यावरणीय और तकनीकी अध्ययन करने के सुझाव दिए और एक विस्तृत योजना तैयार करने के लिए गुजरात सरकार को प्रारंभिक ऋण भी स्वीकृत किया। इसके बाद 1985 में ऋण को मंजूरी मिली और विश्व बैंक और गुजरात सरकार के बीच एक समझौता हुआ। न्यायाधिकारण के फैसले की तरह इस समझौते की खास विशेषता थी उचित पुनर्वास के प्रावधान। एक कदम आगे बढ़ते हुए यह तय किया गया कि भूमिहीन और अतिक्रमणकारियों को भी मुआवजे के रूप में जमीन मुहैया कराई जाएगी। सही पुनर्वास के लिए एक अलग ऋण स्वीकृत किया गया ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि धन की कमी की दलील देकर विस्थापितों के पुनर्वास को नजर अंदाज न किया जाए। अंत में जो शर्त विश्व बैंक के वित्त पोषण को रोकने के संघर्ष में महत्वपूर्ण साबित हुई वह थी - अगर पुनर्वास की शर्तें पूरी नहीं की गईं तो ऋण समझौते को रद्द कर दिया जाएगा। विश्व बैंक की ऋण की मंजूरी के साथ जापानी सरकार ने सुमितोमो कॉरपोरेशन से पनबिजली बनाने वाली टर्बाइनों की खरीद के लिए एक ऋण को मंजूरी दी।

1980 में केंद्र सरकार द्वारा वनों के बढ़ते विनाश को रोकने के लिए वन संरक्षण अधिनियम लागू किया गया था जब उपग्रह चित्र से यह पता चला कि देश में बड़े पैमाने पर वन विनाश के कारण केवल ग्यारह प्रतिशत भूमी पर ही घना जंगल बचा हुआ था। ईस अधिनियम ने सभी विकास परियोजनाओं का पर्यावरणीय प्रभाव का आकलन करना अनिवार्य कर दिया जिसके आधार पर इन परियोजनाओं को इसके लिए गठित केन्द्रीय पर्यावरण और वन मंत्रालय से अनुमोदन प्राप्त करना होगा। इसलिए उन पर काम शुरू करने से पहले एसएसपी और आईएसपी को भी यह महत्वपूर्ण मंजूरी लेनी पड़ी। 1986 के अंत में, पर्यावरण और वन मंत्रालय ने एक टीप प्रसारित किया जो दोनों परियोजनाओं के लिए महत्वपूर्ण था। टीप में कहा गया कि उनका पर्यावरणीय प्रभाव आकलन पूरा नहीं हुआ है और इन परियोजनाओं से उत्पन्न पर्यावरणीय समस्याएं गंभीर प्रकृति की होंगी। यह भी कहा गया कि दोनों बांधों की ऊंचाइयों को कम करने के लिए तथ्य आधारित दलील दी जा सकती है। लगभग उसी समय, भारत सरकार द्वारा बोफोर्स तोपों की खरीद में घूस लेने का घोटाला सार्वजनिक हो गया, जो कि नेहरू के पोते और तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी को समस्या में डाल दिया। कांग्रेस पार्टी के सर्वोच्च नेता के रूप में उनकी स्थिति खतरे में थी। अपनी पार्टी के भीतर राजनीतिक समर्थन को मजबूत करने के लिए उन्हें गुजरात से अपनी पार्टी के सदस्यों की मांगों को मानना पड़ा। उन्होंने पर्यावरणीय प्रभाव आकलन, प्रतिपूरक वनीकरण योजनाओं और जलग्रहण उपचार कार्यक्रमों की कमी के बावजूद एसएसपी और आईएसपी दोनों को जून 1987 में पर्यावरण और वन मंत्रालय को सशर्त अनुमति देने का आदेश दिया। दादा के लिए जो जुनून था वह पोते के लिए एक मजबूरी बन गया। विश्व बैंक के ऋण से उपलब्ध धन राशि और पर्यावरण मंत्रालय की अनुमतियों के साथ गुजरात में अधिकारियों ने उत्साह के साथ बांध का निर्माण शुरू किया।

गुजरात की एक स्वयंसेवी संस्था, आर्च-वाहिनी, ने न्यायाधिकरण के फैसले के अनुसार उचित पुनर्वास के लिए बांध से विस्थापित होने वाले लोगों को संगठित करना शुरू कर दिया था क्योंकि बांध स्थल के आसपास कुछ प्रारंभिक विस्थापन पहले ही हो चुका था। यह संस्था मध्यप्रदेश में भी ऐसे ही प्रक्रिया शुरू करने के लिए हमसे संपर्क किया और हमें संबंधित दस्तावेज दिए। इसलिए, 1985 में

हमने उन गाँवों में बैठकें शुरू कीं जो जलमग्न होने वाली थीं। इस समय के दौरान, हमें दिल्ली के एक गैर-सरकारी संगठन मार्ग के अध्यक्षा वसुधा धागमवर से एक पत्र मिला। वसुधा भी इस मुद्दे पर कुछ करना चाहती थी। वह महाराष्ट्र के प्रभावित गांवों का दौरा कर विस्थापितों के समुचित पुनर्वास के लिए हमारे साथ मिलकर काम करना चाहती थीं। इसलिए दिसंबर 1985 में, मैंने जलसंधी में नदी के किनारे अपनी पसंदीदा जगह पर उनसे मिलने की व्यवस्था की। कुछ यातायात संबंधी समस्याओं के कारण, यह बैठक अंततः हापेश्वर गांव में हुई जो गुजरात में मध्य प्रदेश के सीमा पर है। मेधा पाटकर वसुधा के साथ महाराष्ट्र के गांवों की अपनी पहली यात्रा पर आई थीं। हम तीनों ने हापेश्वर के शिव मंदिर के महंत द्वारा आयोजित रात्रिभोज का आनंद लेने के बाद भविष्य की योजनाओं पर चर्चा करने के लिए बैठ गए।

यह वह संघर्ष की छोटी सी शुरुआत थी जो बाद में घाटी और दुनिया को इतना महत्वपूर्ण रूप से हिला दिया था।

हमने सभी बांध प्रभावितों के लिए उचित पुनर्वास की सरल माँग को लेकर शुरू किया और सरकार से तीन सौ गाँवों के लिए पुनर्वास पैकेज तैयार करने का आग्रह किया। मेधा पाटकर ने, जो पहले गुजरात में एक अन्य संस्था के साथ काम कर रही थीं, इस अभियान पर पूरा समय काम करना शुरू कर दिया। उन्होंने जल्द ही न केवल बाहरवालों के पुनर्वास के साथ समस्याओं, बल्कि बांध के समग्र लागत-लाभ विश्लेषण के बारे में भी जानकारी का खुलासा किया। अर्थशास्त्रीयों द्वारा की गई बांध की लागत और लाभ की गणना आधारहीन थी। लागतों को कम और लाभों को अधिक दिखाते हुए अंतिम परिणामों की एक गुलाबी तस्वीर पेश की गई थी।

इस अभियान के शुरू होने के एक साल के भीतर विभिन्न जन संगठनों को यह स्पष्ट हो गया कि सरकार न्यायाधिकरण के फैसले अनुसार बांध प्रभावितों के पुनर्वास नहीं करना चाहती है। गुजरात सरकार की बांध निर्माण की गति ने पुनर्वास के लिए लड़ने वाले संगठनों को हरकत में डाला। इन संगठनों के जनाधार काफी बढ़ थे और वे अपनी मांगों के समर्थन में कई बड़े प्रदर्शन आयोजित किए थे। 1988 में राज्य सरकारों और केंद्र सरकार की प्रतिक्रिया से असंतुष्ट होकर इन संगठनों ने एक आम मोर्चा बनाने और बांध के निर्माण का समग्र विरोध करने का निर्णय लिया।

इस प्रकार नर्मदा बचाओ आंदोलन (नबआ) का जन्म हुआ।

अपनी असीमित ऊर्जा और शक्ति के साथ मेधा पाटकर इस आंदोलन में भारत और विदेशों के अन्य जन संगठनों, गैर-सरकारी संगठनों और व्यक्तियों को शामिल करने में कामयाब रहीं। ईनका घाटी में संघर्ष से सीधा संबंध नहीं था पर वे पैरवी, प्रचार और धन जुटाने में सहायता करते थे। मेधा ने एक बहुत लोकप्रिय गीत की रचना की जिसकी पहली दो पंक्ति इस प्रकार थी -

नर्मदा की घाटी में अब लड़ी जारी है
चालो उठो, चलो उठो, रोकना विनाश है

1987 और 1988 के दौरान मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात और यहां तक कि दिल्ली में बांध के खिलाफ कई बड़े कार्रवाई हुई। सत्ता के केंद्रों के पास के उच्च-सुरक्षा क्षेत्रों में लगाए गए प्रतिबंधात्मक आदेशों का उल्लंघन कर लोगों ने बार-बार गिरफ्तारी दी। नबआ का बांधस्थल पर काम रोकने का पहला बड़ा प्रयास फरवरी 1989 में एक सामूहिक मार्च के रूप में हुआ। शुरू में बांध स्थल की ओर जाने की दोतरफा योजना बनाई गई थी। महाराष्ट्र और अलीराजपुर के आदिवासियों को बांध स्थल तक पहुंचने के लिए नदी के किनारों से चलना था और मध्य प्रदेश के निमाड़ के लोगों को राजमार्गों से ट्रकों से बांधस्तल तक जाना था जहां गुजरात के लोगों को शामिल होना था।

इस योजना के बारे में मेरे कुछ सवाल थे। मेरा कहना था कि चूंकि यह अच्छी तरह से प्रचारित होनेवाला कार्यक्रम था इसलिए गुजरात सरकार किसी भी हालत में लोगों के इन दो काफिलों को बांध स्थल तक पहुंचने नहीं देगी और हमें बांध स्थल से कुछ दूरी पर गिरफ्तार किया जाएगा। मेरा प्रस्ताव था कि एक समान ताकत वाला तीसरा गुप्त काफिला रातोंरात पहाड़ों से होते हुए बांध के पास के कंक्रीट मिक्सर पर सुबह पहुंचे और उसे घेरकर काम को रोक दें। पर मेरे इस प्रस्ताव को बाकी संगठनों द्वारा खारिज कर दिया गया।

लेकिन खेमचेस में हम अराजकतावादी लोग थे जो कम से कम अनुशासन में रहकर काम करते थे। इसके अलावा, एक सदस्य के अलावा, जिन्होंने बाद में खेमचेस छोड़ कर नबआ में शामिल हो गए, हममें से किसी को भी कोई भ्रम नहीं था कि हम अंततः बांध को रोक पाएंगे। फिर भी, हमने नबआ के संगठनात्मक प्रदर्शनों में पूरे जोश से भाग लिया क्योंकि वे राज्य और विश्व बैंक से बड़े पैमाने पर लड़ने का रोमांच और आनंद प्रदान किया जो खेमचेस के काम से संभव नहीं होता। मैं इतनी आसानी से इतना बड़ा संघर्ष का इतना सुनहरा मौका जाने नहीं देने वाला था। अपनी खुद की एक बैठक में हमने अपनी पहाड़ियों से होते हुए गुप्त रूप से चलने की योजना के साथ आगे बढ़ने का फैसला किया। प्रतीकात्मक रूप से गिरफ्तारी देने का क्या मतलब था अगर हमने वास्तव में बांध के काम को नहीं रोका भले ही वह कुछ घंटों के लिए हो?

हमने पहाड़ियों के एक मार्ग का सर्वेक्षण किया जो हमें किसी को पता चले बिना बांध के पास के कंक्रीट मिक्सर में ले जाएगा। हमने मार्च से पहले रात को रुकने के लिए बांधस्थल से लगभग दो घंटे की पैदल दूरी पर एक स्थान को चुना। वहाँ से हम अल सुबह निकालकर बांध सथल पहुंचकर कंक्रीट के मिक्सर का काम बंद कर देंगे। हमने यह सुनिश्चित किया कि हममें से किसी के पास भी हथियार नहीं होगा, क्योंकि अगर सशस्त्र संघर्ष करेंगें तो हमारे खिलाफ आपराधिक मामले दर्ज होंगे, जो बाद में दर्दनाक और महंगे साबित होंगे क्योंकि हमें गुजरात में बार-बार अदालती सुनवाई में भाग लेना होगा। इसलिए, हमें बस इतना करना था कि हम एक दूसए के हाथों में अपने हाथों को फंसाकर नारे लगाते हुए कंक्रीट मिक्सर को घेरें और पुलिस का इंतजार करें। इसके लिए, हमें निवारक कानूनों के तहत गिरफ्तार किया जाएगा, जिसमें अदालत में उपस्थिति की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि कार्यकारी मजिस्ट्रेट द्वारा अपराधों को तुरंत समाप्त कर दिया जाता है।

नियत दिन पर हम तीन सौ लोगों ने योजना अनुसार पहाड़ियों के रास्ते बांध स्थल के लिए चल पड़ें। जब दो मुख्य काफिले को बांध स्थल से कई किलोमीटर दूर रोक दिया गया था, तब हम कंक्रीट मिक्सर तक पहुंचकर भोर के समय इसे घेरने में कामयाब रहे और बांध पर काम बंद कर दिया। निर्माण कंपनी के कर्मचारी और अधिकारी वहां जमा हुए और हंगामा मच गया। केवल दो मुख्य काफिलों से निपटने के लिए पुलिस को तैनात किया गया था, इसलिए हमारा मुकाबला करने के लिए कोई भी उपलब्ध नहीं था। दो घंटों के लिए हम बहुत मज़ा लूटे नारे लगाते और गाने गाते हुए कंक्रीट मिक्सर को निष्क्रिय कर। "कोई नहीं हटेगा, बाँध नहीं बनेगा" - नबआ का सबसे प्रसिद्ध नारा हवा में गूंज रहा था। गीत भी गाए - "नर्मदा नी घाटी माँ आमरी लराई चालू छे" - नर्मदा की घाटी में हमारा संघर्ष जारी है।

लगभग पांच सौ लोगों और सभी ट्रकों का पूरा काम ठप्प हो गया। अंत में दस पुलिसकर्मियों और एक सब-इंस्पेक्टर की एक छोटी सी टुकड़ी बसों के साथ पहुंची और हमारी मांगों पर चर्चा करने के लिए हमें जिला कलेक्टर के पास ले जाने की पेशकश की। जलसिंधी के बावा ने, जो बाद में अपनी प्राकृतिक जीवन शैली का जीने के अपने अधिकार की रक्षा के लिए मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री को एक गहरे पारिस्थितिक पत्र लिखने के लिए प्रसिद्ध हो गए, ने राजकीय शैली में कहा - “कलेक्टर के पास जवाब नहीं हैं हमारी समस्याओं का और इसलिए भारत के प्रधान मंत्री को हमसे बात करने आना चाहिए। जब तक वे नहीं आएंगें हम यहाँ से एक इंच भी नहीं हिलेंगे!” हम बाकी लोग इस कथन के अनुमोदन में गरज उठे और आसपास की पहाड़ियों में हमारी बुलंद आवाज गूँजती रही।

हमने हमारा प्रतिरोध को तब तक जारी रखा जब तक कुछ समय बाद पुलिसकर्मियों के दो और ट्रक नहीं आ गए। इसके बाद एक रस्साकशी का दौर चला क्योंकि पुलिस ने हमें खींचकर बसों में जबरन भरने की कोशिश की और हम एक-दूसरे से गुथकर सड़क पर लेट गए। पुलिस को हमें डराने के लिए हम पर लाठियाँ बरसानी पड़ी। आखिरकार चार घंटे काम रुकने के बाद, बांध का निर्माण फिर से शुरू हुआ। यह एक मात्र ऐसा समय था जब सामूहिक कार्रवाई से बांध पर काम रोक दिया गया था। बाद में, इसे नबआ द्वारा दायर याचिका की सुनवाई के दौरान सुप्रीम कोर्ट ने स्थगन आदेश से रोक दिया था।

हमें एक स्टेडियम में ले जाया गया और वहां दो घंटे तक रखा गया, हमें नाश्ता खिलाया गया और फिर दोबारा न लौटने की चेतावनी देकर आज़ाद कर दिया गया! हमने तीन बसों को किराए पर लिया और एक अच्छा काम सम्पन्न करने की संतुष्टि के साथ अलीराजपुर लौट आए।

1990 के वसंत में इस तरह की एक और यादगार कार्रवाई हुई। बांध का निर्माण एक ऐसे चरण में पहुंच गया था जहां आने वाले बारिश के मौसम में महाराष्ट्र के पहले गांव में भूमि के जलमग्न होने की प्रबल संभावना थी। मेधा पाटकर और तीन अन्य ने मुंबई में कई हड़ताल पर बैठ गए। उनकी प्रमुख मांग यह थी कि महाराष्ट्र सरकार बांध पर काम रोकने के लिए गुजरात सरकार पर दबाव डाले क्योंकि विस्थापित होने वालों का पुनर्वास नहीं हुआ था। हमारे कुछ लोग और कार्यकर्ता भी समर्थन के लिए वहां गए थे। मुंबई में यह निर्णय लिया गया कि दबाव बनाने के लिए नर्मदा घाटी में इसके

समर्थन में प्रदर्शन आयोजित किए जाएंगे। वापस लौटने पर, हमारे कार्यकर्ताओं ने कहा कि एक जुलूस और रास्ता रोको आंदोलन अलीराजपुर में आयोजित करना पड़ेगा। यह सहमति हुई कि रास्ता रोको किसी भी परिस्थिति में नहीं उठाया जाएगा और इस प्रकार पुलिस को हमारे खिलाफ कार्रवाई करने के लिए मजबूर होना पड़ेगा। इस बीच मुझे महाराष्ट्र में पुलिस ने हत्या के एक मामले में झूठा फंसाया था और मैं जमानत पर जेल से रिहा होकर आया था। इसलिए यह तय किया गया कि मुझे पर्दे के पीछे से व्यवस्था को संभालने के लिए छोड़ दिया जाएगा जबकि हमारे संगठन के बाकी लोगों आंदोलन में शामिल होंगें।

मैं उप-विभागीय पुलिस अधिकारी से मिलने गया और उन्हें सूचना दी कि हम एक विशेष दिन पर अलीराजपुर में नर्मदा घाटी विकास प्राधिकरण (एनवीडीए) के कार्यालय के सामने प्रदर्शन करेंगे। विघटनकारी गतिविधि के लिए हमारी आदत को देखते हुए, उन्होंने तुरंत मुझसे आशंकित होकर पूछा कि हम एक शांतिपूर्ण कानूनी प्रदर्शन का आयोजन करने जा रहे हैं या नहीं। मैंने उसे आश्वस्त किया कि इससे उसे कोई परेशानी नहीं होगी और हम कानून के खिलाफ कुछ नहीं करेंगें। आंदोलन के दिन, अलीराजपुर की सड़कों पर जुलूस निकाली गई। फिर, सभी दो सौ लोगों ने एनवीडीए के कार्यालय में प्रवेश किया और अधिकारियों और कर्मचारियों को परिसर खाली करने के लिए कहा, क्योंकि वे वहां रहने के लिए आए है। जल्द ही कार्यालय को अपने कर्मचारियों से मुक्त कर दिया गया, और खेमचेस का इसमें शासन कायम हो गया। लगभग तुरंत एसडीओ पुलिस दल बल के साथ पहुंचे और उन्हें आंदोलनकारियों द्वारा मांगपत्र सौंपा गया। एक बार फिर, बावा ने, जिन्होंने अब तक अपनी शैली को बेहतर कर लिया था, कहा कि भारत के प्रधानमंत्री के आने और उन्हें संतुष्ट करने के बाद ही वे और उनके लोग परिसर को खाली करेंगे। कार्यकर्ताओं ने कार्यालय में रात बिताई, नारे लगाए और गीत गाए। अगली सुबह, सभी प्रदर्शनकारी इंदौर-वडोदरा राजमार्ग पर पहुँचे जो कार्यालय के सामने थी। रस्ता रोको आंदोलन शुरू हुआ। कुछ ही समय में, दोनों तरफ से यातायात ठप्प हो गया। एसडीओ पुलिस को अपने बिस्तर से कूदना पड़ा और वे पुलिसकर्मियों के साथ ट्रक पर सवार होकर घटनास्थल पर पहुंचे। उन्होंने आंदोलनकारी लोगों से निवेदन किया कि उन्होंने उनकी मांगपत्र पहले ही उच्च अधिकारियों को भेज दिया था और वे जनता को परेशान न करें। इस पर, बावा ने तीखा प्रहार किया कि सरकार उनके जैसे हजारों विस्थापितों को जो नुकसान हो रहा है उसके लिए बिन्दु मात्र चिंतित नहीं है और केवल शहर के लोगों की असुविधा न हो यही सोच रही है। उन्होंने भारत के प्रधान मंत्री को बुलाने के उनके पुरानी मांग के साथ रास्ता से हटने से इनकार कर दिया। जाहिर है कि इस प्रकार लंबे समय तक रास्ता रोको जारी नहीं रह सकता था। अचानक, घुड़सवार पुलिस की एक टुकड़ी को वहाँ पहुंची। बाकी पुलिस के साथ उन्होंने प्रदर्शनकारियों पर लाठियाँ लेकर पिल पड़े। कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया और बाकी लोगों को तितर-बितर कर दिया गया। एक छिपे हुए स्थान से कार्रवाई को देखते हुए, मैंने एक भव्य दृश्य देखा, जो हमेशा मुझे याद रहेगा। खेमला के पिता चेना भी, जो उस समय तक सत्तर साल से अधिक उम्र के हो गए थे, सड़क पर बैठे प्रदर्शनकारियों में थे। जैसे ही पुलिस की कार्रवाई शुरू हुई, वह उठ खड़ा हुआ, एक दुबला-पतला व्यक्ति जो केवल अपनी

कमर में बंधी धोती पहने हुए थे, और अपनी छाती को मुट्ठी से पीटने लगा। चिल्लाते हुए उसने पुलिस पर उसे मारने के लिए गालियां - "बोमगोला नखिन मारी नाख तुहरी *******" वह बार-बार चिल्लाया - बम से हमें मार डालो। नजारा कमाल का था और पुलिस पर भी इसका कुछ असर जरूर पड़ा होगा, क्योंकि उन्होंने उसे छुआ नहीं जबकि आसपास के बाकियों पर वे बेरहमी से लाठी बरसा रहे थे। अंत में, जब खेमला की पत्नी सहित बाकी कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया तब चेना ने रास्ता छोड़ दिया। चेना बाबा आज और जीवित नहीं है लेकिन अपने युवावस्था में किए गए लाल टोपी आंदोलन के विद्रोह के बाद यह अदम्य साहस का प्रदर्शन ने उन्हें मेरे लिए अमर बना दिया है।

खेमला और मुझे पुलिस कार्यवाही के बाद की स्थिति के प्रबंधन की जिम्मेदारी दी गई थी। हमने पहले ही योजना बनाई थी कि लोगों को शहर के बाहरी इलाके में एक स्थान पर फिर से इकट्ठा करेंगे जहां हम खाना पकाएंगे और खाएंगे और फिर एक और जुलूस निकालकर पुलिस कार्रवाई का विरोध करेंगे। हमने फोटोग्राफरों से पूरी कार्यवाही का छिपकर तस्वीरें लेने की भी व्यवस्था की थी ताकि हमारे पास समाचार पत्रों को देने के लिए अच्छी कहानी होगी। जब खाना पकाने का काम चल रहा था, तो मुझे भील आदिवासियों की बहादुरी का एक और उदाहरण सामने आया। एक पुरुष अपनी धोती से अपने आप को सर से पैर तक ढककर सूरज के नीचे गर्मी में जमीन पर सो रहा था। हमें पुलिस द्वारा एक बार बुरी तरह से पीटा गया था और इसके कुछ घंटों बाद जब हम फिर से शहर में जुलूस निकालेंगे तो हमारे फिर से पिट जाने की पूरी संभावना थी। फिर भी, इस आदमी ने पुलिस के बारे में चिंता करने के बजाय अपनी खोई हुई नींद को पूरी करना और महत्वपूर्ण समझा! दूसरी जुलूस शांतिपूर्ण तरीके से गुजरी, मुख्यतः इसलिए कि अनुविभागीय दंडाधिकारी दिल से अच्छे थे। उन्होंने पुलिस को सख्त आदेश दिया था कि जब तक हम कोई कानून और व्यवस्था की समस्या नहीं बनाते, हमारे खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं होनी चाहिए। अगले दिन समाचार पत्रों में हमारी कहानी सूरखियों में थी। परिणामस्वरूप, पुलिस महानिरीक्षक को प्रशासन के कार्यों की अवैधता का आकलन करने के लिए इंदौर आना पड़ा।

पूरी कवायद हमारे सीमित स्थानीय दृष्टिकोण से सफल रहा। लेकिन यह प्रदर्शन, उसी दिन बड़वानी में बाबा आमटे के नेतृत्व में हुई धरना और उप-विभागीय मजिस्ट्रेट के कार्यालय के गेट पर ताला लगाना और मेधा का मुंबई में भूख हड़ताल से बांध पर काम नहीं रुक सका। मेधा पाटकर और अन्य लोगों ने महाराष्ट्र सरकार द्वारा आश्वासन दिए जाने के बाद कि किसी को भी उचित पुनर्वास के बिना जलमग्न करने की अनुमति नहीं दी जाएगी, अपनी भूख हड़ताल वापस ले ली। लेकिन बाद में महाराष्ट्र सरकार अपने आश्वासन से पीछे हट गई और बांध पर काम रोकने से इनकार कर दिया।

गांधीवादी राजनीतिक कार्रवाई में, भूख हड़ताल सत्याग्रहियों की अंतिम रणनीतिक कार्रवाई है। यह एक करो या मरो की कार्रवाई है और या तो जीत से या आंदोलनकारी की मृत्यु से खत्म होती है। इसकी सफलता के लिए एक महत्वपूर्ण आवश्यकता यह है कि राज्य पर पर्याप्त नैतिक दबाव डालने के लिए इसके समर्थन में लोगों का भारी जमावड़ा होना चाहिए। जैसा कि हम बाद में देखेंगे, बड़े पैमाने पर

समर्थन के बावजूद, भूख हड़ताल केवल कुछ अवसरों पर ही मांगों को पूरा करने में सफल रही है। इस प्रकार, इस रणनीति को ऐसे प्रारंभिक चरण में नहीं अपनाया जाना चाहिए था जब बड़े पैमाने पर जन समर्थन उपलब्ध नहीं था। भूख हड़ताल एक अतिरिक्त कार्रवाई है जो सामूहिक लामबंदी की प्रक्रिया को मजबूत और पुष्ट करती है और इस तरह की लामबंदी का विकल्प नहीं हो सकती है। एक व्यापक और मजबूत जन आंदोलन के निर्माण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के बजाय, शुरुआत में ही भूख हड़ताल करना, राज्य की तुलना में बांध-विरोधी आंदोलन की कमजोरी को रेखांकित करता है। यह नबआ के लिए बाद में जब जन समर्थन और काम हो गया तब यह एक आम प्रक्रिया बन गई और कई भूख हड़ताल और जल समरपन के कार्यक्रम किए गए, जो हमेशा किसी न किसी आश्वासन पर वापस ले लिए गए या प्रतिभागियों के की गिरफ़्तारी में समाप्त हुए।

28 सितंबर, 1989 को विनाशकारी विकास के खिलाफ पहली राष्ट्रीय स्तर की सामूहिक जुलूस हरसूद में आयोजित की गई थी, जो अब आईएसपी के जलाशय में जलमग्न है। इस देश में पर्यावरण आंदोलन के इतिहास में पिछले कुछ समय के संघर्ष, जैसे उत्तराखंड के चिपको और केरल के साइलेंट वैली आंदोलन, एकल-मुद्दे आंदोलन थे जो व्यापक रूप से आधुनिक विकास को चुनौती नहीं दिए थे। हरसूद में पहली बार, देशभर के हजारों लोग लोक-केंद्रित शासन और पर्यावरणीय रूप से टिकाऊ विकास की दिशा में लड़ने के संकल्प की घोषणा के लिए एक स्थान पर एकत्रित हुए थे।

कुष्ठ रोगियों के लिए जीवन भर सेवरत रहे बाबा आमटे के आगमन ने इस सम्मेलन को एक उच्च नैतिक स्तर तक पहुंचा दिया था। इस आधुनिक ऋषि ने उत्साह के साथ जन आंदोलन के क्षेत्र में कदम रखे थे यद्यपि इससे पहले वे सेवा कार्य के क्षेत्र में अधिक प्रसिद्ध थे। उन्होंने घोषणा की कि वे आदिवासियों को कुष्ठ रोगियों की तुलना में और बदतर स्थिति में पाया। उन्होंने नर्मदा की लड़ाई के लिए खुद को समर्पित करने का फैसला किया। इस रैली में जाने माने कन्नड़ उपन्यासकार शिवराम कारन्थ और प्रख्यात फिल्म अभिनेत्री और सामाजिक कार्यकर्ता शबाना आज़मी भी मौजूद थे। बाबा आम्टे ने इस नई लामबंदी के लिए एक स्वतंत्र पहचान निर्धारित किया जब वे एक राष्ट्रीय राजनीतिक दल के दो बिन बुलाए नेताओं को मंच से नीचे उतरने के लिए कह दिया। उन्होंने उन्हें जनता के साथ जमीन पर बैठने के लिए कहा। यह उस गंभीरता को दर्शाता है जिसके साथ एक नई तरह की सामूहिक राजनीतिक सक्रियता की शुरुआत की जा रही थी।

सामूहिक बैठक के बाद रात को कार्यकर्ताओं की एक बैठक में, यह निर्णय लिया गया कि दिसंबर 1989 की शुरुआत में भोपाल में दो दिवसीय सम्मेलन आयोजित किया जाएगा। यह 1984 में यूनियन कार्बाइड कारखाने से घातक गैस रिसाव में मारे गए लोगों को श्रद्धांजलि देने के लिए 3 दिसंबर को भोपाल गैस पीड़ित महिला उद्योग संगठन द्वारा आयोजित सभा के साथ आयोजित होने वाला था।

यह इस बात का भी संकेत था कि मध्य प्रदेश, देश के सबसे पिछड़े राज्यों में से एक होने के बावजूद, नए पर्यावरणीय जन आंदोलनों का केंद्र के रूप में उभर रहा था।

अध्याय 11 - दिल की सुनो

मूल रूप से भोपाल नवाबों का बोलबाला वाला एक पुराना शहर था। यह उन दो झीलों के बीच स्थित था, जो शहर की पानी की जरूरतों को पूरा करने के लिए, नज़दीकी पहाड़ी इलाकों से वर्षा के पानी को भंडारित करने के लिए बनाए गए थे। आजादी के समय भोपाल की प्रसिद्धि का एकमात्र दावा इसके क्रिकेट खेलने वाले नवाब थे।

1950 के दशक में राज्यों के पुनर्गठन के बाद भोपाल को नव गठित मध्य प्रदेश राज्य की राजधानी बनाया गया था। यह इसलिए कि इंदौर, ग्वालियर और जबलपुर जैसे अन्य अधिक विकसित दावेदारों की बीच सुलह न होने के बाद इसे एक समझौता के तहत चुना गया था। आज, भोपाल पुरानी और नई दोनों दुनियाओं को समाया हुआ है, क्योंकि नवाबों का पुराना शहर वर्तमान के शासक राजनेताओं और नौकरशाहों के आधुनिक निवासों से बना नया शहर से घिरा हुआ है।

एक बड़ा, विविधतामय राज्य, मध्य प्रदेश, प्राकृतिक संसाधनों जैसे जंगलों और खनिजों से समृद्ध है। राजनेता और व्यवसाय के दिग्गज के बबीच यहां सहजीवी संबंध हैं - राजनेता व्यवसायियों और उद्योगपतियों को प्राकृतिक संसाधन रियायती दरों पर उपलब्ध कराते हैं और बाद में अपने राजनीतिक अभियानों के लिए धन उनसे वापस लेते हैं। यह कोई संयोग नहीं है कि भारत के सबसे बड़े औद्योगिक घरानों में से एक, बिड़ला, ने सरकार द्वारा उन्हें मुफ्त में दी गई जमीन पर सत्ता के केंद्र के बगल में भोपाल के सबसे ऊंचे स्थान पर एक मंदिर बनाया है और गरीब आदिवासी निर्माण श्रमिक सड़क के किनारे रहने को मजबूर हैं।

इस तरह की असमानताओं के खिलाफ स्वाभाविक रूप से गरीबों मेहनतकश जनता संगठित होकर खड़े हुए है। प्रारंभ में इनका नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी ने किया था और दोनों ही दल निर्वाचित प्रतिनिधियों को राज्य विधानसभा और संसद में भेजने में सफल रहे। हालांकि, समय के साथ, इन दलों के संगठनों को भारी राज्य दमन के द्वारा हाशिए पर धकेल दिया गया और निर्वाचित प्रतिनिधियों को खरीद लिया गया। किसान आंदोलनों को कुचल दिया गया और ट्रेड यूनियनों ने अपने राजनीतिक चरित्र को खो दिया और केवल बेहतर मजदूरी के लिए आंदोलन करते रहे। कांग्रेस अपने शासन को चलाने के लिए अंग्रेजों की नीति का उपयोग कर औपनिवेशिक शासन की जन विरोधी तरीकों को और अधिक इस्तेमाल करने लगा।

1970 के दशक में शहडोल जिले में विदुषक कारखाना और होशंगाबाद जिले में किशोर भारती जैसे जन समूहों का उदय हुआ। उन्होंने पूंजीवादी आधुनिक विकास के प्रतिमानों के साथ-साथ साम्यवादियों और समाजवादियों द्वारा अपनाई जाने वाली सामाजिक और राजनीतिक कार्रवाई के तौर तरीकों को भी चुनौती दी। इन संगठनों ने एक विकेन्द्रीकृत और सहभागी ढांचे के तहत गरीब लोगों की समस्याओं के लिए नीचे से ऊपर तक विकास के तौर तरीकों के साथ प्रयोग करना शुरू किया। हालाँकि, यह प्रयास विफल रहा और जल्द ही कोई महत्वपूर्ण स्थानीय प्रभाव बनाए बिना विघटित हो

गया। पर भारत और विदेश के कुछ प्रसिद्ध शैक्षिक और वैज्ञानिक संस्थानों के बुद्धिजीवियों और वैज्ञानिकों द्वारा शुरू किया गया इस प्रयास के दौरान उत्पन्न जनपक्षीय राजनीति के सिद्धांत मूल्यवान साबित हुए हैं। बाद में यह सिद्धांत देश के पर्यावरण आंदोलनों के लिए एक वैकल्पिक विचारधारा विकसित करने का आधार प्रदान किया है।

इस उभरते पर्यावरणीय चेतना की पृष्ठभूमि में मध्य प्रदेश में 1984 में 3 दिसंबर की रात को, अमेरिकी बहुराष्ट्रीय निगम, यूनियन कार्बाइड कॉर्पोरेशन (यूसीसी) के एक कीटनाशक कारखाने से एक घातक गैस का रिसाव हो गया था। भोपाल के बाहरी इलाके में स्थित यह कारखाने से गैस के रिसने से हजारों लोग मारे गए। यूसीसी के अध्यक्ष वारेन एंडरसन आपदा के तुरंत बाद भोपाल आने पर मध्य प्रदेश सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया था।

हालाँकि, भारत सरकार ने उसे बीस हजार रुपये की जमानत पर कुछ ही घंटों में रिहा करने का फैसला किया। एंडरसन ने अमरीका वापस चले गए और फिर आपराधिक मामलों की सुनवाई से फरार रहे। कुछ साल पहले उनकी मौत अमरीका में हो गई। इस हत्याकांड का प्रकरण आज भी लंबित हैं। सरकार ने संसद में एक अधिनियम बनाया जिसमें सरकार को सभी प्रभावित लोगों की ओर से यूसीसी के खिलाफ अमरीका में हर्जाने के मामले को दर्ज करने की जिम्मेदारी दी गई। तब यह केवल 330 करोड़ अमरीकी डालर का दावा अमेरिकी न्यायालय में दायर किया जिसने अंततः निर्देश दिया कि इस मामले की सुनवाई भारत में ही होनी चाहिए और भारतीय अदालत द्वारा निर्णय यूसीसी पर बाध्यकारी होगा। इस प्रकार अमेरिका ने यूसीसी जैसे बड़े निगम को दिवालियापन और परिसमापन से बचा लिया जैसे कि मामला अमेरिका में चलने पर होता।

आखिरकार सर्वोच्च न्यायालय में हुए एक समझौता के तहत भारत सरकार ने केवल 45 करोड़ अमरीकी डॉलर का मुआवजा ही यूसीसी से निकाल पाई। भोपाल गैस त्रासदी एक आंख खोलने वाली विस्फोटक थी जो बहुराष्ट्रीय निगमों के द्वारा विकासशील देशों में खतरनाक उत्पादन प्रक्रियाओं को स्थानांतरित करने के तथ्य को उजागर कर दिया। दरअसल, कुछ साल बाद, विश्व बैंक के मुख्य अर्थशास्त्री ने अपने कुछ सहयोगियों के बीच परिचालित एक नोट में कहा था, " क्या विश्व बैंक को गंदे उद्योगों को कम विकसित देशों में स्थानांतरित करने के लिए प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए?" इस के समर्थन में तर्क यह दिया गया कि विकासशील देशों में प्रदूषण के कारण होने वाले नुकसान की लागत कम थी क्योंकि वहां मजदूरी कम थी और चूंकि उनका वातावरण प्रथम विश्व की तुलना में स्वच्छ था, इसलिए वे अधिक प्रदूषकों को अवशोषित कर सकते थे।

इकोनॉमिस्ट पत्रिका, जिसने इस नोट को उजागर किया, ने इस तर्क का समर्थन किया कि चूंकि विकासशील देश की सरकारें अपनी अर्थव्यवस्थाओं को विकसित करना चाहती थीं और उनके पर्यावरण को प्रदूषित किए बिना ऐसा करने का कोई तरीका नहीं था, इसलिए वे उन उद्योगों को भी ले सकते हैं जो अत्यधिक पर्यावरणीय सख्ती के कारण विकसित देशों में नहीं चल सकते। इसी तर्क से भोपाल में यूसीसी प्लांट को स्थापित किया गया था और इसका संचालन अमेरिका की तुलना में

कहीं कम सुरक्षा मानकों के साथ किया गया था। इस प्रकार भारत सरकार अपने गरीब नागरिकों के हितों की रक्षा करने के बजाय बहुराष्ट्रीय कंपनियों और उनके भारतीय पूंजीवादी मातहतों को लाभ प्रदान करने में और तत्परता दिखायी।

इसके विपरीत, गैस आपदा के बाद राहत पहुंचाने में भारत के नागरिक समाज की प्रतिक्रिया भारत में पर्यावरणवादी जन राजनीतिक कार्रवाई के सबसे उल्लेखनीय उदाहरणों में से एक रही है, जिसने पूरे देश में नए, अधिक लड़ाकू और प्रभावी जन पर्यावरणीय संघर्ष की धारा स्थापित की है। किशोर भारती के कार्यकर्ता तुरंत भोपाल आ गए और उन्होंने ट्रेड यूनियनों के साथ हाथ मिलाया और जहरीली गैस कांड संघर्ष मोर्चा का गठन किया। इस संगठन ने प्रभावित व्यक्तियों को उचित राहत देने और दुर्घटना में यूसीसी की जिम्मेदारी को तय करने के लिए पर्याप्त कानूनी कार्यवाही के लिए आंदोलन शुरू किया। चूंकि भारत सरकार स्पष्ट रूप से यूसीसी को अपराध से बरी करने पर तुली हुई थी, इसलिए इस संगठन ने अमरीका में नागरिक अधिकार संगठनों के साथ संबंध बनाए और वहां की सरकार पर दबाव बनाने और अदालतों में कानूनी कार्रवाई करने के लिए भी प्रयास किया। बाद में, मोर्चा ने कुछ अन्य संगठनों के साथ मिलकर गैस से पीड़ित लोगों को उपचार प्रदान करने के लिए एक क्लिनिक स्थापित किया। गैस रिसाव के बाद के शुरुआती दिनों में सरकार के सबसे काले कामों में से एक था, कारखाने के टैंकों से रिसने वाली गैस की प्रकृति के बारे में लोगों को गफलत में रखना। ऐसा यूसीसी के इशारे पर किया गया था क्योंकि उसकी उत्तरदायित्व की गंभीरता इस बात पर निर्भर थी कि गैस कितनी घातक है। जितना कम घातक गैस और लोगों पर इसका प्रभाव होगा, उतना ही कम यूसीसी की उत्तरदायित्व होगी। इसलिए इस बात को नकारने की लगातार कोशिश की गई कि बेहद घातक मिथाइल आइसो-सायनेट रिसी है। गैस के संपर्क में आने वालों के लिए उपचार स्वाभाविक रूप से गैस की प्रकृति के अनुसार अलग-अलग होगा। चूंकि सरकार इस बात से इनकार कर रही थी कि जो गैस रिसी है वह मिथाइल आइसो-सायनेट नहीँ थी इसलिए सरकारी अस्पतालों द्वारा प्रदान किया जा रहा उपचार भी दोषपूर्ण था। हालांकि, मोर्चा द्वारा चलाया जा रहा क्लिनिक ने इस धारणा के अनुसार उपचार देना शुरू कर दिया कि गैस मिथाइल आइसो-सायनेट है। आश्चर्य नहीं कि उनके उपचार के परिणाम अच्छे थे। सरकार ने इस क्लिनिक को बंद कर इसके डॉक्टरों को गिरफ्तार कर लिया। भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद द्वारा रिसी हुई गैस के प्रभाव को लेकर एक दशक से अधिक समय तक किए गए महामारी विज्ञान के तहत अध्ययन को बाद में अचानक रोक दिया गया था और इसके परिणामों को आज तक सार्वजनिक नहीं किया गया है।

मोर्चा को लगातार सरकार का दमन और उदासीनता का सामना करना पड़ा और कुछ आंतरिक मतभेदों के कारण इसमें विभाजन हो गया जिसके कारण इसने धीरे-धीरे अपना जनाधार खो दिया। 1989 में यूसीसी के साथ सरकार की समझौता होने के बाद दावों का भुगतान शुरू हुआ। प्रभावित लोग इस प्रक्रिया से जुड़ गए और आगे आंदोलन करना छोड़ दिए। हालांकि, भोपाल गैस पीड़ित महिला उद्योग संगठन नामक एक अन्य संगठन ने देश और विदेश में सड़कों पर और अदालतों में बेहतर

मुआवजा पाने और यूसीसी की आपराधिक देता तय करने के लिए लड़ाई जारी रखी। इस संगठन के प्रमुख कार्यकर्ता भोपाल की दो गैस प्रभावित महिलाएं - राशिदा बी और चंपा देवी के अनथक प्रयास और अदम्य साहस इस देश की साधारण जनता में छिपी हुई अपार ताकत का मिसाल है। उन्होंने न केवल हर साल गैस रिसाव की सालगिरह पर एक जुलूस और एक सभा आयोजित करके अपने संघर्ष और सामूहिक हत्या की याद को जीवित रखा, बल्कि अपने संगठन को अन्य सभी बड़े पर्यावरणीय संघर्षों में भाग लेने के लिए प्रेरित किया और सरकार की विनाशकारी विकास नीतियों के खिलाफ एक संयुक्त मोर्चा बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इनका एक विशेष रूप से महत्वपूर्ण कार्यक्रम था "झाड़ू मारो अभियान"। वे लगातार अपनी मांग के प्रतीक के रूप में अपने झाड़ू के साथ दुनिया के विभिन्न मंचों पर गए यूसीसी पर दबाव बनाया कि भोपाल के बंद पड़े कारखाने के चारों ओर फैले प्रदूषक रसायान को साफ करें और पीड़ितों को उचित मुआवजा भुगतान करें।

इन महिलाओं ने आपदा के दो दशक बाद सरकार को एक बहुत बड़ी नसीहत दी। केंद्र सरकार ने प्रभावित लोगों को यूसीसी मिले मुआवजे के बहुत कम राशि का भुगतान किया था। की राशी एक डॉलर के मूल्य वाले खाते में भारतीय रिज़र्व बैंक में जमा कर दी गई थी जो चक्रवृद्धि ब्याज के साथ रुपये के मूल्य में पंद्रह सौ करोड़ रुपये हो गई थी। बार-बार आवेदन के बावजूद इस धनराशि को प्रभावित लोगों को पूरी तरह से वितरित करने से सरकार ने इनकार कर दिया था। दोनों महिलाओं ने अपने संगठन की ओर से सुप्रीम कोर्ट में याचिका दायर कर मांग की कि प्रभावित लोगों को पूरी राशि दी जाए। मामले की सुनवाई लंबित रहने के दौरान अपने पक्ष में जन मत बनाने के लिए उन्होंने दिल्ली और भोपाल में कई धरने और भूख हड़ताल की। आखिरकार एक ऐतिहासिक फैसले में सुप्रीम कोर्ट ने 2004 में इस याचिका को मान्य किया जिससे सरकार को लोगों को उनका हक अनुसार पैसा देना पड़ा।

इसके अलावा, इस फैसले ने भोपाल गैस त्रासदी राहत और पुनर्वास विभाग के निष्कर्षों की पुष्टई की कि 5,54,895 अन्य घायलों के साथ गैस रिसाव के कारण होने वाली मौतों की संख्या 15,310 है। 1989 में यूसीसी के साथ समझौता सिर्फ 3,000 मौतों और 1,02,000 अन्य घायलों के अंदाजन अनुमान पर किया गया था। सच में, हताहतों में पांच गुना वृद्धि हुई है और इस प्रकार एक मजबूत कानूनी आधार बना कि यूसीसी को अधिक मुआवजा देना चाहिए। 2004 में, राशीदा बी और चंपा देवी को संयुक्त रूप से पर्यावरणीय न्याय के लिए उनके युद्ध के लिए प्रतिष्ठित गोल्डमैन पर्यावरण पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इससे पहले 1992 में नर्मदा को बचाने के लिए उनकी लड़ाई के लिए मेधा पाटकर को इस पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। आज यह दोनों बहादुर महिलायें हमारे बीच नहीँ है।

यह था भोपाल, भौगोलिक रूप से देश का केंद्र में स्थित और इसकी सबसे अच्छी और सबसे लंबे समय तक संघर्षरत पर्यावरण आंदोलनों में से एक का कार्यस्थल जहां हम विनाशकारी विकास के खिलाफ एक देशव्यापी आंदोलन का खाका खींचने के लिए एकत्रित हुए थे। हम दुनिया की सबसे

खराब मानव निर्मित पर्यावरणीय आपदा के खिलाफ इतनी बहादुरी से लड़ी गई लड़ाई की भूमी पर आगे की लड़ाई को तय करने वाले थे। बैठक अच्छी तरह से सम्पन्न हुई और इसमें देश भर के गैर-सरकारी संस्थाओं और जन संगठनों ने भाग लिया। इसके फलस्वरूप प्रथम राष्ट्रव्यापी पर्यावरण मंच, जन विकास आंदोलन, का गठन और इसकी कार्यकारी समिति के चुनाव हुआ। भविष्य के लिए एक कार्ययोजना भी बनायी गई। हालाँकि इसकी शुरुआत बहुत ही उत्साह के साथ हुई थी बहरहाल बाद में जन विकास आंदोलन अपने शुरुआती वादे को पूरा करने में विफल रहा क्योंकि इसके घटक संस्थाओं और संगठनों ने एक साथ चल नहीं पाएं।

बैठक के समापन के दिन, खबर आई कि पुनासा में इंदिरा सागर बांध के निर्माण के लिए ऋण आवेदन के संबंध में मध्य प्रदेश सरकार के साथ बैठक करने हेतु विश्व बैंक का एक दल भोपाल में आया हुआ था। कार्यकर्ताओं का एक गुप्त सम्मेलन बुलाया गया जहां यह निर्णय लिया गया कि विश्व बैंक का दल को अगली सुबह कार्यकर्ताओं के एक समूह जाकर घेर लेगा जब वह आधिकारिक बैठक में भाग लेने के लिए होटल से निकलेगा।

अगली सुबह हम होटल पहुँच गए। हमारे समूह में से एक कार्यकर्ता विश्व बैंक दल का एक भारतीय सदस्य को जानता था इसलिए वह और मैं होटल के अंदर गए, जबकि बाकी समूह बाहर इंतजार कर रहे थे। मुझे कुछ पूछताछ के बाद पता चला कि कौन सी गाड़ी विश्व बैंक दल के लिए आरक्षित थी और मैं ने खुद को इसके पास तैनात किया। विश्व बैंक दल के सदस्य को जानने वाला मेरा मित्र अंदर गया और दल के होटल छोड़ने के समय का पता लगाने के लिए उसके साथ बातचीत की। फिर, वह होटल के बाहर हमारे समूह के बाकी सदस्यों के साथ शामिल हो गया। जैसे ही विश्व बैंक का दल उनकी गाड़ी में सवार हुई और वाहन बाहर निकला मैंने होटल के बाहर खड़े लोगों को पूर्व निर्धारित संकेत के अनुसार अपना स्वेटर को हवा में लहराया। जैसे ही गाड़ी ने होटल से बाहर निकला कि हमारे समूह ने "वर्ल्ड बैंक गो बैक" के नारे लगाते हुए उसे घेर लिया। मैंने गाड़ी के पीछे दौड़ा और उसकी छत पर कूद गया! बीस मिनट के भीतर, पुलिस पूरी ताकत के साथ घटनास्थल पर पहुंची। हम सभी को एक बस में बंद कर भोपाल जेल ले जाया गया। ऐसी गिरफ्तारियां आमतौर पर एक औपचारिकता होती हैं और गिरफ्तार लोगों को जल्द ही छोड़ दिया जाता है। परंतु प्रशासन कोई कसर नहीं छोड़ना चाहता था और हम विश्व बैंक दल के भोपाल में रहने के तीन दिनों तक हमें जेल में ही रहना पड़ा।

भोपाल केन्द्रीय जेल में हमारा प्रवास बहुत ही मनोरंजक और शिक्षाप्रद साबित हुआ। हम पूरे भारत के लगभग तीस लोग थे - सभी विभिन्न जन आंदोलनों के कार्यकर्ता। चूंकि हमारे बीच मेधा पाटकर एकमात्र महिला थीं, इसलिए उन्हें महिला वार्ड में अकेले बंद कर दिया गया। हममें से बाकी लोगों के लिए एक विशेष बैरक खोला गया। हम अपने बैरक में घुसे ही थे कि खबर आई कि मेधा भूख हड़ताल शुरू कर दी है। हमने भी भूख हड़ताल करने का फैसला किया और हमें दिए गए दोपहर का भोजन को खाने से मना कर दिया। इतने सारे मजे हुए चरित्र और विचित्र पृष्ठभूमि के व्यक्तियों के

एक कमरे में एक साथ होना जो एक-दूसरे को बहुत अच्छी तरह से नहीं जानते थे जल्द ही आतिशबाजी पैदा कर दिया। पहला गंभीर विवाद दोपहर में हुआ जब जेल के एक नियमित कैदी ने गर्म चाय के साथ पहुँचा। जेल के ठंडी दीवारों से घिरे सर्दी काटने के लिए गरम चाय का प्याला अति लोभनीय था। पर बहस छिड़ गई कि भूख हड़ताल के दौरान चाय पीने की अनुमति थी या नहीं। अब, हम कट्टर गांधीवाद सहित अन्य विभिन्न विचारधाराओं के प्रति निष्ठा रखने वाले लोगों का एक मिश्रण थे। गांधीवादियों ने जोर देकर कहा कि भूख हड़ताल सत्याग्रह की एक शक्तिशाली कार्रवाई है और इसमें पानी को छोड़कर बाकी सब कुछ निषिद्ध है इसलिए चाय नहीं ली जा सकती है। दूसरों ने तर्क दिया कि भूख हड़ताल में केवल ठोस भोजन निषिद्ध था और चाय लेने की अनुमति थी।

ऐसा प्रतीत हो रहा था कि दोनों पक्षों में से कोई भी समझौता नहीं करेगा और भले चाय ठंडी हो जाएगी पर बहस की गर्मी कम नहीं होगी। अचानक जेल का कैदी, जो चाय लेकर आया था और बहस शुरू होने पर चला गया था, वापस आया और यह कहते हुए हस्तक्षेप किया कि भूख हड़ताल में चाय पीने की अनुमति है। चाय पीने के पक्ष के लोगों ने जीत की दुहाई दी और कहा कि इस साधारण जेल के कैदी को भी बुनियादी सच पता था कि भूख हड़ताल में चाय की अनुमति है और इसलिए गांधीवादियों को इस पर भरोसा करना चाहिए। लेकिन वे इतनी आसानी से हार नहीं मानने वाले थे और जेल के कैदी से पूछा कि उनके ज्ञान का स्रोत क्या है। कैदी ने कहा कि वह बहस के बारे में जेलर को सूचित करने गया था और समस्या को सुनकर जेलर ने उनसे कहा कि हमें सूचित करें कि उनकी राय में भूख हड़ताल में चाय पीना ठीक है। इस पर गांधीवादियों ने तिरछी निगाहों से चाय पीने के पक्ष वाले को देखा और कहा कि यदि वे जेलर की सलाह का पालन करना चाहते हैं, तो उनका स्वागत है। अंततः बहस समाप्त हो गया और चाय पीने वालों को अपने पसंदीदा पेय से इनकार करना पड़ा।

हमारे साथ कैद लोगों में से एक मार्क्सवादी था और चाय और शराब पीना उसकी दिनचर्या का हिस्सा था। इन दोनों के बिना जीना उसके लिए थोड़ा कठिन था। हालाँकि उन्होंने सामूहिक निर्णय को माना और चाय की चुस्की नहीं लिया क्योंकि उनकी पार्टी में अनुशासन का पालन करना ही नियम था। "चूंकि भौतिकवादी होने के कारण हम मार्क्सवादियों का कोई भगवान नहीं है", उन्होंने टिप्पणी की, "इसलिए हमें हमारे दुखों को, जो भारतीय क्रांति की न होने की स्थिति में कई हैं, दूर करने के लिए पीना पड़ता हैं"।

उनके अनुसार, चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के विपरीत भारत में भाकपा, भारतीय समाज का ठीक से विश्लेषण नहीं कर पाई थी और परिणामस्वरूप 1930 के दशक के महत्वपूर्ण समय में एक उचित जन क्रान्तिकारी कार्यक्रम तैयार करने में विफल रही थी। इसके कारण समय के साथ पार्टी हाशिए पर चली गई, विशेषकर मध्य प्रदेश जैसे अत्यधिक सामंती राज्य में। जिस तरह की अंधी गली में भाकपा पहुँच गई थी उसे देखकर वह इस्तीफा दे दिया था और इसके बजाय पर्यावरणीय आंदोलनों में काम करना शुरू कर दिया था।

एक अपेक्षाकृत युवा और उत्साही कार्यकर्ता के रूप में मैंने भोपाल जेल में हमारे समूह में भोपाल गैस आंदोलन के विभिन्न गुटों के बीच विचार-विमर्श के दौरान आंतरिक टकराव पाया। प्रत्येक गट अन्य गट को तोड़फोड़ करने और सरकार के साथ सहयोग करने के लिए दोषी ठहराया। बाद में, राज्य में इसी तरह के अन्य आंदोलनों के इतिहास का अध्ययन करते समय मैंने पाया कि यह असामान्य नहीं था क्योंकि कम्युनिस्ट और समाजवादी भी अलग अलग गुटों में बंट गए थे और नक्सली तो गुटबाजी में सब से अव्वल है ही। पहला पर्यावरण आंदोलन, चिपको, भी कुछ समय बाद विभाजित हो गया था। जल्द ही नबआ में भी ऐसा हुआ हालांकि इसके असंतुष्ट गुटों के नेताओं में एक संयुक्त सार्वजनिक मोर्चा रखने की परिपक्वता थी और इस प्रकार नबआ बाहर से आज भी एक ही दिखता है।

हमारे प्रवास के तीसरे और अंतिम दिन भूख हड़ताल के संबंध में एक गंभीर विवाद हुआ। हमारे भूख हड़ताल के बारे में अनजान हमारे बाहरी समर्थकों ने दूसरे दिन हमारे लिए फल और स्वादिष्ट व्यंजन भेजे थे, जिन्हें जेल प्रशासन ने हमारे पास भेज दिया। इन फलों और व्यंजनों को हमारे द्वारा चुने गए तीन वरिष्ठों की समिति को सुरक्षित रखने के लिए दिया गया था ताकि कोई भी भूख हड़ताल का उल्लंघन न करे। समिति ने पुनासा के इंदिरा सागर बांध के खिलाफ आंदोलन के एक वरिष्ठ नेता की निगरानी में इन लुभावने खाद्य पदार्थों को छुपाकर रखने का फैसला किया था। परंतु इस नेता ने विश्वासघात करते हुए जल्द ही कुछ "समान विचारधारा वाले" साथियों के साथ व्यंजन को चमकाने लगे। यह पता चला कि यह सज्जन पर्यावरण आंदोलन से जुड़े थे केवल इसलिए कि उनकी बहुत सारी भूमि बांध द्वारा जलमग्न होने वाली थी।

यह लोग धीरे धीरे और लोगों को अपने खाने के मुहिम में शामिल करने की कोशिश की और एक जींस और टी-शर्ट पहने हुए युवा कार्यकर्ता को उपवास तोड़ने के लिए लुभाया यह सोचते हुए कि वह हमसे कम कट्टर होंगे जो कुर्ता पायजामा वाले हैं। पर यह जीन्स वाला युवा भी दृढ़ गांधीवादी थे। तुरंत भयानक हंगामा हुआ और इसलिए यह आपस में मारपीट के साथ खत्म नहीं हुआ क्योंकि जेलर ने हमें रिहा करने का फैसला किया।

हमारी गांधीवादी राजनीतिक कार्रवाई के तुरंत बाद हम जेल से निकालकर एक शानदार मांसाहारी भोजन किया और महाराष्ट्र में आनंदवन में बाबा आमटे के आश्रम के लिए रेल से रवाना हो गए। जेल से रिहाई के बाद कैदियों को उनके निवास तक जाने के लिए रेल टिकट दिया जाता है। चूँकि मेरे मित्र जैकब नेल्लिथानम और मैंने पहले से तय किए थे कि हम आनंद वन जाएंगे इसलिए जेल में दाखिल होने के समय हम ने अपने निवास के पते आनंदवान लिखाये थे। हमें उस जगह जाने का किराया मिला जहाँ हम लंबे समय से धन की कमी के कारण यात्रा नहीं कर पा रहे थे। थोड़ी चतुराई के साथ राज्य से अराजकतावादी कामों के लिए पैसे निकाला जा सकता है!

मुझे लगता है कि जेल में उन तीन दिनों के दौरान होने वाली घटनाओं, जहां देश के पर्यावरणीय जन आंदोलनों के लगभग सभी प्रमुख कार्यकर्ता एक साथ थे, इन आंदोलनों के वर्तमान में हाशिए पर होने के बीज लिए हुए थे। हिंदू पौराणिक कथाओं के देवताओं के विपरीत, जिन्होंने खुद को अमर बनाने के

लिए, एक साथ मिलकर महासागरों से अमृत का मंथन किया था, हम अराजकतावादी आंदोलनकारी इतने अलग-अलग दिशाओं में खींच रहे हैं कि हम किसी भी तरह के अमृत का मंथन करने में अक्षम है विनाशकारी विकास के तूफानी ज्वार से दुनिया को बचाने के लिए।

सिसिफस, जिसके बारे में हम बाद में विस्तार से चर्चा करेंगे, एक यूनानी किंगवदंती के नायक थे जिन्होंने प्रतिकूल परिस्थितियों में स्थापित व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह किया था। समय के साथ वे एसे सभी मनुष्यों के विद्रोह का प्रतीक बन गया है जो कठिन बाधाओं के साथ संघर्ष से मुंह मोड़ने से इनकार करते हैं। भारत में विनाशकारी विकास के खिलाफ लंबी और कठिन लड़ाई में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले ऐसे कुछ वर्तमान युग के सिसिफस के सान्निध्य पाने का मेरा सौभाग्य रहा है।

बाबा आमटे निश्चित रूप से प्रेरणादायक व्यक्तियों में से एक थे जो अनगिनत प्रगतिशील युवक और युवतियों के आदर्श थे जिन्हें वे अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मदद करते थे। 1950 के दशक के मध्य में, बाबा आमटे ने महाराष्ट्र के चंद्रपुर जिले के आनंदवन में एक जंगल के बीच में अपना काम शुरू किया। वहां, वे कुष्ठ रोगियों का इलाज करते थे जो बाद में कुष्ठ रोगियों के लिए पूर्ण पुनर्वास कार्यक्रम बन गया, जिससे इन रोगियों का एक उत्पादक समुदाय का निर्माण हुआ जिन्हे इस से पहले अछूत माना जाता था। जैकब और मेरे जैसे आधुनिक विकास के झूठे धर्म को त्यागने वाले लोगों के लिए आनंदवन और इसके घने जंगल में गोंड आदिवासियों के बीच स्थित दो और केंद्र, सोमनाथ और हेमलकसा, तीर्थस्थल हैं। बाबा आम्टे ने कुष्ठ रोगियों की देखभाल करने तक ही अपने आप को सीमित नहीँ रखा, बल्कि भारत में आधुनिक विकास से पीड़ित आदिवासियों के लिए कुछ करने के लिए आगे बढ़े। बाबा आम्टे कुष्ठ रोगियों को अपंग कहने के बजाय उन्हें विशेष रूप से सक्षम कहते थे और उसी प्रकार उनका कहना था कि भारत में आदिवासी भी विशेष रूप से सक्षम है पर उन्हें आधुनिक विकास के "मंदिर-निर्माण" ने अपंग बना दिया है।

बाबा आमटे खुद को एक रीड़ विहीन आदमी कहते थे! वे इस बात की ओर इशारा करते थे कि उनकी रीढ़ की हड्डी एक चोट लगने के बाद निकालकर उसके बदले एक जानवर की हड्डियां प्रतिस्थापित कर दी गई थी। अपनी विशिष्ट मज़ाकिया शैली में वह टिप्पणी करते थे कि हड्डियां अवश्य ही एक बैल की रही होंगी, क्योंकि उन्हें अंदर डालने के बाद उनका चरित्र अधिक मजबूत और अधिक ढीठ हो गई। उन्होंने इस तथ्य को नजरअंदाज कर दिया कि ऑपरेशन के बाद वे केवल खड़े हो सकते थे या लेट सकते थे पर बैठ नहीं सकते थे। उनके दिल की भी बीमारी थी और इसलिए एक लगाया हुआ था पर फिर भी उन्होंने युवाओं और वंचितों को प्रेरित करने के लिए दो भारत जोड़ो यात्राएं निकाली थी।

मैं उनसे पहली बार हरसूद में मिला और अपना परिचय दिया। मेरे आश्चर्य की सीमा नहीँ रही जब उन्होंने हँसकर कहा, "तुम इतने सरल और कमजोर दिखते हो कि हत्यारा हो ही नहीँ सकते हो; पुलिस ने गलती की होगी"। मुझे बाद में पता चला कि हत्या के आरोप में मेरी गिरफ्तारी का उन्हें तुरंत पता चला और मुझे नहीँ जानते हुए भी वे लोगों को यह सुनिश्चित करने के लिए फोन किया कि मुझे जल्द से जल्द जमानत पर रिहा कर दिया जाए। इससे स्पष्ट है कि यह महान व्यक्ति ने सक्रिय युवा कार्यकर्ताओं के लिए, जो एक बेहतर समाज स्थापित करने के लिए कार्यरत है, कितनी

हमदर्दी दिखाते थे। उन्होंने उस पहली मुलाकात में मेरे कंधे पर हाथ रखा और कहा, "अब से मैं तुम्हें अपना 'बदमाश दोस्त' कहूँगा।"

1980 के दशक की शुरुआत में, आंध्र प्रदेश में गोदावरी नदी पर एक बांध बनाने की योजना बनाई गई थी। यह बांध गढ़चिरौली के अधिकांश जंगलों और आदिवासी गाँवों में पानी भर देता। बाबा आमटे ने आदिवासियों को इस बांध का विरोध करने का स्पष्ट आह्वान किया। आदिवासियों ने हजारों की संख्या में नदी के तट पर एकत्र हुए। तत्कालीन प्रधान मंत्री, इंदिरा गांधी को इस के इस बारे में मालूम पड़ा और उन्होंने परियोजना को रद्द करने का आदेश दिया जैसे कि वे इससे पहले केरल में साइलेंट वैली बांध को भी निरस्त किया था। बाबा इस सफलता के बाद और सक्रिय हो गए। उन्होंने बांधों द्वारा प्रकृति के बड़े पैमाने पर विनाश और आदिवासियों के अनैच्छिक विस्थापन के मुद्दे को उठाने का फैसला किया। इस समय तक, सरदार सरोवर बांध के खिलाफ आंदोलन ने गति पकड़नी शुरू कर दी थी, और इसने उनका ध्यान आकर्षित किया। इसलिए उन्होंने 1988 में आनंदवन में बड़े बांध निर्माण के विकल्पों की खोज के लिए देश भर के पर्यावरणविदों की एक बैठक बुलाई। यह इस तरह की पहली बैठक थी। इस बैठक में सरकार की ओर से नर्मदा घाटी में किए जा रहे जल संसाधन प्रबंधन के प्रयासों की तुलना में एक अधिक जनोन्मुखी जल संसाधन उपयोग नीति हेतु व्यापक सिफारिशें की गई। इस प्रकार बाबा विशेष रूप से नर्मदा घाटी के संघर्ष और सामान्यतः विनाशकारी विकास के खिलाफ व्यापक संघर्ष में सक्रिय हो गए।

बाबा और उनकी पत्नी साधना ताई 1990 में नर्मदा घाटी में आए और बड़वानी जिले के, जो उस समय नबआ का प्रमुख केंद्र था, कसरावद गाँव में नदी के किनारे बंजर भूमि पर एक निवास बनाए और दोनों संघर्ष का हिस्सा बन गए। बाद में 1993 में जब मुझे विश्वास हो गया कि आधुनिक विकास के खिलाफ लड़ाई नहीं जीती जा सकती, तो मैंने उनकी ओर रुख किया। साधना ताई ने मुझे तिल और गुड़ से बनी पारंपरिक मिठाइयाँ खाने को दी और उन्हें मेरे दुविधा बतायी। बाबा ने मेरे मन के उथल-पुथल को महसूस किया और अपनी विशिष्ट शैली में कहा, "तुम जन्में हो बदमाशी करने के लिए और जब तक जींदा रहोगे बदमाशी ही करोगे"। एक साधारण प्रेरणादायक उद्बोधन कभी नहीं हार मानने के लिए जैसे कि वे खुद नहीं माने थे। उनके निधन के साथ हमने स्वतंत्र भारत के महान सेनानियों में से एक को खो दिया है।

एक अन्य ऐसे स्मरणीय गुरु जिनसे मैंने बहुत कुछ सीखा और जिन्होंने आधी शताब्दी से अधिक समय तक पश्चिमी मध्य प्रदेश की राजनीतिक पटल पर प्रभुत्व बनाए रखा, वह थे मामा बालेश्वर दयाल दीक्षित। उन्होंने एक साहसिक जीवन जीया। अपने राजनीतिक कार्य की शुरुआत वे सोलह वर्षीय युवा के रूप में 1923 में अपने ब्रिटिश स्कूल शिक्षक की पिटाई करके की क्योंकि उसने गांधी को गाली दी थी। इसके बाद अपने पिता के क्रोध से भयभीत होकर वे उज्जैन के पास खाचरौद में अपने मामा के यहाँ भाग गया। दलितों को मंदिर में प्रवेश के लिए गांधी के सत्याग्रह से प्रेरित होकर, उन्होंने स्थानीय मंदिर में कुछ दलितों द्वारा भक्तों को प्रसाद वितरित करवाया था। एक बार फिर

उन्हें भागना पड़ा। उन्हें प्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी चंद्रशेखर आज़ाद की माँ ने झाबुआ जिले के भाबरा में एक स्कूल चलाने के लिए आमंत्रित किया। बाद में वे पास के थांदला में एक स्कूल के प्रिंसिपल बन गए।

मामाजी अपने विरोध के अनोखे तरीकों के लिए जाने जाते थे। जब उन्हें पता चला कि ब्राह्मण और क्षत्रिय, भीलों के विपरीत, राजाओं के लिए बेगार या जबरन श्रम करने से मुक्त थे, तो वे भीलों की "शुद्धि" समारोह आयोजित कर हिंदू धर्म के चार उच्च पुजारियों में से एक पुरी के शंकराचार्य से मंजूरी ली। इसमें उन्होंने आदिवासियों को जनेऊ जिससे वे क्षत्रियों में परिवर्तित हो गए। शंकराचार्य की धार्मिक प्रतिष्ठा को देखते हुए राजाओं ने इस पर सवाल नहीं उठा सके और उन्हें भीलों को बेगार से मुक्त करने पड़े। इससे भीलों के हक के लिए आंदोलन में बहुत तेजी आई।

राजकुमारों और जागीरदारों के सामंती अधिकारों के उन्मूलन के लिए अपने संघर्षों के दौरान, मामाजी समाजवादी आंदोलन के दिग्गजों - राममनोहर लोहिया और आचार्य नरेंद्र देव के संपर्क में आए और उनकी विचारधारा को अपनाया। आजादी के तुरंत बाद जब वे जमींदारों और राजाओं की ज़मीनें भील कृषकों को बांटने के लिए आंदोलन छेड़ा तो नेहरू ने उन्हे जेल में डाल दिया। आठ महीने बाद ही उन्हें रिहा किया गया।

समाजवादी पार्टी से जुडने के बाद भी, वे भील मातृभूमि के लिए समर्पित रहे और लाल टोपी आंदोलन का नेतृत्व करते रहे जो निश्चित रूप से मध्य प्रदेश के इतिहास में सबसे बड़े किसान आंदोलनों में से एक है। हालांकि, समाजवादी पार्टी की नेतृत्व ने चुनावी राजनीति में भागीदारी पर जोर दिया और आंदोलन के कैडर-आधारित जनसमूह के कार्यों को कम कर दिया। सोशलिस्ट पार्टी के कई बंटवारे होने के कारण इसके प्रभाव कम होते गए और झाबुआ के कई स्थानीय नेताओं ने सत्ता पाने के प्रलोभनों के कारण कांग्रेस पार्टी का रुख किया जिससे कि आंदोलन कमजोड़ पड़ गया।

मामाजी ने लगातार राष्ट्रीय राजनीति में आने से इनकार करते रहे और लोहिया द्वारा दबाव डाले जाने के बाद केवल 1962 में एक साल के लिए अखिल भारतीय समाजवादी पार्टी के अध्यक्ष पद को अनिच्छा से स्वीकार किया। फिर, 1975 और 1977 के बीच आपातकाल के दौरान 19 महीने के जेल प्रवास के बाद, जयप्रकाश नारायण ने उन्हें 1978 में राज्य सभा का सदस्य बनने के लिए मजबूर किया। वे राज्यसभा की कार्यवाही को प्रहसन करार देते थे और वे विशेष रूप से इस बात से खफा थे कि काम के अधिकार को संविधान में मौलिक अधिकार नहीं बनाया गया था। उन्होंने एक बार मुझे हँसते हुए विस्तार से बताया कि कैसे उन्होंने अपने छह वर्ष के सदस्यता के दौरान संसद में अपने स्तर पर काम का मौलिक अधिकार संविधान में लाने की पूरी कोशिश की थी और कैसे उनकी अपनी पार्टी के सदस्यों ने उन्हें इसमें कोई साथ नहीं दिया और अंततः उनसे पूरी तरह परहेज करना शुरू कर दिया था। आखिरकार उन्होंने खुद को संसद में अकेला पाया क्योंकि जनता पार्टी का विभाजन हो गया था और उनके साथी सांसद एक पार्टी से दूसरी पार्टी में जाने में व्यस्त थे।

हालाँकि, वे एक विरोधाभासी व्यक्ति थे, और संसदीय राजनीति से मोहभंग होने के बावजूद, उन्होंने 80 के दशक के अंत में भी जनता दल के उम्मीदवारों के लिए प्रचार करना जारी रखा।

मामाजी ने स्वतंत्रता सेनानी की पेंशन और विशेषाधिकारों को अस्वीकार कर दिया, यह कहते हुए कि देशभक्ति के कामों के लिए मौद्रिक लाभ स्वीकार करना बेतुका है। जब वे 1998 में अपने जीवन के अंतिम दिनों में गंभीर रूप से बीमार थे तब वे दिल्ली के अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में उपचार के लिए जाने से यह कहकर इनकार कर दिया कि वे केवल वही सुविधाएं लेंगे जो एक साधारण भील आदिवासी को उपलब्ध है। वे बामनिया में उनका भील आश्रम की एक छोटी सी झोपड़ी में रहते थे जो एक ऐसी कृषि भूमि पर थी जो एक नाले को पत्थरों से रोक कर बनायी गई थी। इस छोटी सी भूमि के उत्पादन से उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को वे पूरा करते थे। वे हमेशा उन सभी के लिए एक दिशारी रहेंगे जो नये और समानता के लिए लड़ने में विश्वास रखते हैं।

एक और समाजवादी कार्यकर्ता, जिनसे पहली बार इंदौर में 1987 में मानवाधिकार संगठन पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज (पीयूसीएल) की बैठक में मेरा मिलना हुआ था, ओम प्रकाश रावल थे। जब उन्होंने सुना कि मैं आईआईटी का इंजीनियर होने के बाद भी सामाजिक काम में आ गया था तो मेरी पीठ थपथपाते हुए उन्होंने कहा, "तुम्हारे जैसे प्रतिबद्ध युवाओं को देखकर मेरे बूढ़े दिल में गरम जोशी पैदा होती है"। संयोग से 1978 में जनता पार्टी की सरकार के दौरान वे कुछ समय के लिए मध्य प्रदेश के शिक्षा मंत्री थे पर बाद में पार्टी विभाजित हो गई और मध्य प्रदेश विधायिका भंग हो गई। इसके बाद उन्होंने भोपाल गैस आंदोलन के साथ काम किया और फिर इंदौर में नबआ का मुख्य कार्यकर्ता बन गया। 1993 में अचानक दिल का दौरा पड़ने से वे चल बसे जब हमें उनकी सबसे ज्यादा जरूरत थी। उनके जैसा विचारशील और ईमानदार व्यक्ति मैंने पहले कभी नहीं देखा था। उसकी प्रेरणा से मैं आज भी जीवन में भारी बाधाओं का सामना करते रहने का साहस जूटा पाता हूँ।

रावलजी ने एक शिक्षक के रूप में अपना कार्य जीवन शुरू किया था और एक ऐसे समय शिक्षकों के अधिकारों के लिए लड़ाई लड़ी जब उन्हें अत्यंत दयनीय परिस्थितियों में कम वेतन पर काम करना होता था। स्वतंत्रता के बाद, उन्होंने सरकारी नौकरी करने से इनकार कर दिया और इसके बजाय अपने राजनीतिक काम को आगे बढ़ाते हुए अपने संघर्षों में कृषि और औद्योगिक श्रमिकों को भी शामिल किया। 1951 में वे समाजवादी पार्टी में शामिल हो गए। वे उस समय मध्य प्रदेश में समाजवादी पार्टी के अधिक होनहार युवा नेताओं में से थे।

पार्टी में अपने कार्य की शुरुआत में, वे एक अवसर पर उज्जैन के पास बड़नगर शहर गए। स्थानीय पार्टी के कार्यकर्ता के साथ वे शहर में एक हाथठेला और बैटरी से चलने वाली ध्वनिवर्धक यंत्र के साथ घूमते हुए घोषणा की कि शाम को समाजवादी पार्टी की एक सामूहिक बैठक होगी, जिसमें इंदौर के युवा नेता ओम प्रकाश रावल भाषण देंगें!

उन्होंने एक बार शरारती मुस्कान के साथ मुझे बताया कि वह जानते थे कि मंत्री के रूप में वे बहुत कम समय काम कर पाएंगे और इसलिए उन्होंने जल्द एक कानून पारित करवाया जो सरकारी वित्तीय मदद से चलाया जा रहा निजी स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षकों को विभिन्न लाभ और आर्थिक सुरक्षा प्रदान किया। । हालाँकि उन्होंने शिक्षकों के अधिकारों के लिए अपने चार महीने का मंत्री रहने का समय का बढ़िया उपयोग किया बहरहाल उनकी पार्टी की आंतरिक कलह से उनका मोहभंग हो गया और वे मुख्यधारा की चुनावी राजनीति से हमेशा के लिए हट गए।

वे नबआ के एक प्रमुख समर्थक के रूप में काम करने लगे। वे जुलूसों में भाग लेने, दूर-दराज के गांवों का दौरा करने, जमीनी स्तर पर बैठकें करने, इंदौर में समर्थन हासिल करने और प्रेस में लिखने जैसे विभिन्न महत्वपूर्ण काम को संभालते थे। बाद में, जब, हरसूद रैली के बाद, भोपाल में जन विकास आंदोलन का गठन किया गया, तो वे इसकी राष्ट्रीय कार्यकारिणी का सदस्य बन गए। एक अवसर पर, हम ट्रेन से बैंगलोर में जन विकास आंदोलन की एक बैठक से लौट रहे थे। वे उस समय 65 वर्ष के थे और समूह का सबसे बुजुर्ग सदस्य थे लेकिन उन्होंने हमारी हंसी मज़ाक में बराबरी से भाग लिया जैसे कि वे हमारे समान उम्र के थे। हम हिंदी फिल्मी गाने गा रहे थे। किसी ने गीत गाना शुरू किया - "आ चल के तुझे, मैं ले के चलूँ, इक ऐसी गगन के तले, जहां गम भी न हो, आँसू भी ना हो, बस प्यार ही प्यार पले। वे भी गाने में शामिल हो गए और जब गीत समाप्त हो गया, तो मुस्कुराते हुए कहा कि प्यार और गम तो एक दूसरे के पर्याय है, इसलिए ग़म के बिना प्यार कैसे हो सकता है। उनके अनुसार, यह गीत उतने ही सपनों से भरा था जितना कि हमारे द्वारा अभी-अभी बैंगलोर में बनाया गया एक बेहतर भारत के लिए योजना!

1987 में इंदौर में पीयूसीएल की ही बैठक में मैं जन आंदोलनों के एक और वरिष्ट कार्यकर्ता महेंद्रभाई जैन से मिला। वे मंजे हुए गांधीवादी थे जो विनोबा भावे के मालवा निमाड़ क्षेत्र में भूदान यात्रा के दौरान सर्वोदय आंदोलन में शामिल हो गए थे। विनोबा ने उन्हें सलाह दी कि वे जीवन में एक लक्ष्य का चयन करें और विभिन्न बाधाओं के बावजूद उसे हासिल करने के लिए काम करते रहे। इसलिए उन्होंने गांधीवादी मूल्यों से संबंधित समाचार और लेख को प्रकाशित करने के लिए समर्पित एक समाचार सेवा शुरू की जिसका नाम सर्वोदय प्रेस सेवा रखा गया। इसके अतिरिक्त, उन्होंने गांधी शांति प्रतिष्ठान के एक कार्यकर्ता के रूप में भी काम किया। उस समय गांधीवाद के प्रचार के लिए विशेष रूप से समर्पित कोई प्रेस सेवा नहीं थी और मुख्यधारा के समाचार पत्रों में इस तरह के मुद्दों के लिए ज्यादा जगह नहीं थी। फिर भी महेंद्रभाई ने लोगों से आग्रह किया कि वे ऐसे लेख लिखें और संपादकों और पत्रकारों को उनके द्वारा भेजे गए लेखों को प्रकाशित करने के लिए दबाव डालें। बिल्कुल कम पैसों पर काम करते हुए उन्होंने सब कुछ खुद संभाला - लेखों का संपादन से लेकर उनका टंकण और फिर स्वयं द्वारा प्रेस नोटों को साइक्लॉस्टाइल कर डाक से भेजने तक। आखिरकार वे सर्वोदय प्रेस सेवा को पर्यावरण और वैकल्पिक विकास के मुद्दों पर गुणवत्ता वाले लेखों और समाचारों के अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रसिद्ध सेवा के रूप में स्थापित करने में सफल रहे। उन्होंने गांधी

शांति प्रतिष्ठान के एक कार्यकर्ता के रूप में अपने स्वयं के अल्प वेतन और समाचार पत्रों और पत्रिकाओं द्वारा प्रेस नोटों के लिए किए गए किंचित भुगतान के न्यूनतम संसाधनों पर इस सफलता को हासिल की। उन्होंने कभी भी किसी बाहरी पैसों को स्वीकार नहीं किया।

कई सालों बाद कंप्यूटर, स्कैनर और प्रिंटर से लैस एक आधुनिक कार्यालय से पर्यावरण के मुद्दों पर काम करने वाले एक अंतरराष्ट्रीय समाचार सेवा, पैनोस, के एक प्रतिनिधि महेंद्रभाई से मिलने आए। वे जब महेंद्रभाई को एक दस फुट चौड़ा और बारह फुट लंबा छोटा सा कमरा में बैठकर टाइपराइटर और साइक्लोस्टाइलिंग मशीन पर किताबों, पत्रिकाओं और पत्रों के ढेर से घिरा हुआ श्रम करते हुए देखा तो हैरान हो गए कि कैसे वे इतने प्रसिद्ध समाचार सेवा को इतने काम साधनों से चला रहे थे।

आपातकाल के दौरान किए गए कठोर दमन के विरोध के कारण उन्हें जेल में कैद कर दिया गया था। रिहाई के बाद वे मध्य प्रदेश में पीयूसीएल के गठन के लिए एक प्रमुख प्रस्तावक थे। महेंद्रभाई ने महसूस किया कि बहुसंख्यक गांधीवादियों द्वारा टकराव वाले जमीनी स्तर की राजनीति की उपेक्षा एक बड़ी गलती थी। चूंकि प्रेस सेवा के साथ उनकी जिम्मेदारियों ने उन्हें जमीनी स्तर पर आंदोलनों में सक्रिय रूप से भाग लेने से रोका, इसलिए उन्होंने उन्हें समर्थन द्वारा उनकी यथासंभव मदद करने का फैसला किया। इस प्रकार, इंदौर में महेंद्रभाई का निवास मालवा क्षेत्र में चल रहे विभिन्न आंदोलनों के बारे में जानकारी का केंद्र बन गया।

नबआ को विशेष रूप से उनकी मदद से लाभ हुआ, क्योंकि उसे अपने कार्यों या राज्य की दमनकारी कार्रवाइयों पर बाहरी दुनिया तक खबरों का त्वरित संचार के लिए महेंद्रभाई पर बहुत भरोसा करना पड़ा। उन दिनों में, 1980 के दशक के अंत और 1990 के दशक की शुरुआत में, मध्य प्रदेश में इंटरनेट न के बराबर था। इसलिए अंदरूनी दूरदराज स्थानों से फोन कॉल किए जाते थे और महेंद्रभाई उसको लिख लेते थे। इनके आधार पर एक प्रेस नोट टाइप करके वे पूरी दुनिया में प्रसारित कर देते थे! नर्मदा घाटी के बाहर से आने वाले विभिन्न लोगों और आंदोलनों के साथ समन्वय भी इस कुशल एकल सेना के माध्यम से होता था।

सुभद्रा और मैं हमेशा के लिए उनके प्रति ऋणी रहेंगे कि वे हमें, जब हम बिल्कुल ठन ठन गोपाल थे और मैं गंभीर रूप से बीमार था, माचला स्थित सर्वोदय शिक्षण समिति के आश्रम में रहने की अनुमति दी थी। हमने माचला के शांत, प्राकृतिक और पेड़-पौधों वाले वातावरण में लगभग एक दशक बिताया और इस दौरान महेंद्रभाई के साथ अक्सर मिलते रहते थे। हर बार जब हम मिलते थे, तो वे कुछ मजाक करते थे जिसमें बड़ी चतुराई से शब्दों का दूसरा अर्थ निकालते थे। एक बार उसने मुस्कुराया और कहा "तुम और हम जैसे अ-सरकारी क्षेत्र के लोग इसलिए सरकार की आँख की किरकिरी बैन है क्यूंकी हम अनसे ज्यादा असरकारी है!"

महेंद्रभाई को इस तरह के शब्दों के साथ खेल का एक और अवसर मिला जब मुझे 2001 में महेन्दीखेड़ा संघर्ष के बाद नक्सली होने के गलत आरोपों में गिरफ्तार किया गया था। जब सम्भागीय

आयुक्त ने उन्हें कहा कि क्योंकि मैं रात में लोगों के साथ गुप्त बैठकें आयोजित करता था इसलिए प्रशासन को संदेह था कि मैं नक्सली हूँ तो महेंद्रभाई ने जवाब में कहा: " आप रात और दिन के बीच अंतर नहीं समझते हैं इसलिए रात दिन का अंतर है हमारे बीच!" दुर्भाग्य से महेंद्रभाई भी आज और हमारे बीच नहीं है।

रामचंद्र भार्गव एक अन्य गांधीवादी थे जिन्होंने इस क्षेत्र में आंदोलनों के समर्थन में शानदार भूमिका निभाई है। भार्गवजी भोपाल में गांधी भवन के समन्वयक के रूप में एक महत्वपूर्ण स्थान पर तैनात हैं। भवन राजधानी के केंद्रस्थल पर स्थित होने के कारण हमेशा विभिन्न संगठनों द्वारा बैठक और सम्मेलन आयोजित करने के लिए किराए पर लिया जाता है। फिर भी, भार्गवजी बैठकों और सम्मेलनों के लिए हमेशा जमीनी आंदोलनों को यह मुफ़्त में उपलब्ध कर देते थे। ऐसे मौके भी आए हैं जब आंदोलनों द्वारा आयोजित किए जाने वाले कुछ आकस्मिक सम्मेलन के लिए बाहरी लोगों द्वारा की गई वाणिज्यिक बुकिंग रद्द कर दी गई है। कई बार गांधी भवन के बगल में भोपाल के उच्च-सुरक्षा क्षेत्र में यातायात को अवरुद्ध करने के लिए योजना बनाई गई है और वहां से शुरू किया गया है पर फिर भी भार्गवजी प्रशासनिक दबाव में नहीं आए और हमेशा हमारे जैसे लोगों का खुले दिल से स्वागत किया।

1990 से 1992 तक सुंदरलाल पटवा के मुख्यमंत्रित्व काल में भारतीय जनता पार्टी की सरकार के दौरान भार्गवजी अपने तेवर दिखा दिए। राज्य में बढ़ते सामाजिक आंदोलनों को कुचलने के लिए भाजपा सरकार ने दमन शुरू कर दिया था। इसलिए भोपाल में लगातार विरोध में जुलूस या बैठकें होती थी। ये सभी गांधी भवन में आयोजित होते थे। सरकार के दबाव के बावजूद, न केवल भार्गवजी ने कभी ऐसी बैठकों को मना नहीं किया बल्कि मुख्यमंत्री को यह समझाया कि एकतरफा दमनकारी कार्रवाई के बजाय उन्हें सामाजिक आंदोलनों के कार्यकर्ताओं से मिलकर बात करना चाहिए।

जब सुभद्रा और मैंने शादी करने का फैसला किया तो हमने भोपाल को चुना। भारतीय विशेष विवाह अधिनियम यह कहता है कि विवाह के पंजीकरण के लिए आवेदन करने वाले दो लोगों में से कम से कम एक व्यक्ति को उस स्थान का निवासी होना चाहिए जहां वे अपना पंजीकरण करानेवाले हैं। इसके अलावा, हमें अपनी उम्र के प्रमाण देने थे, जो हमारे पास नहीं था, क्योंकि हम दोनों ने हमारे बोर्ड परीक्षा के प्रमाण पत्रों को खो दिए थे। भार्गवजी ने न केवल मूल निवासी होने का हलफनामे और आयु प्रमाण-पत्र की व्यवस्था की, बल्कि शादी का खर्च भी वहन किया और हमें सुभद्रा के अभिभावक के रूप में आशीर्वाद दिया। भार्गवजी भी आज और हमारे बीच नहीं है।

1986 की गर्मियों की एक दोपहर में हम नर्मदा के किनारे आंजनबारा गाँव में अलीराजपुर जिले के सरदार सरोवर बांध में जलमग्न होने वाले सभी गाँवों के लोगों की एक बैठक कर रहे थे। अचानक हमने एक बूढ़े आदमी को देखा, जो पारंपरिक धोती और कुर्ता पहने हुए हमारे बैठक स्थल पर हाँफते लँगराते हुए पहुंचे थे। बमुश्किल चलने में सक्षम वे दो पुरुषों के कंधों का सहारा लेकर चल रहे थे। यह डॉ ब्रह्मदेव शर्मा थे, जो उस समय भारत सरकार के अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति

आयुक्त थे। यह अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के अधिकारों के संरक्षण के लिए एक संवैधानिक पद था। उन्होंने हमारी बैठक के बारे में सुना था और पांच किलोमीटर तक पहाड़ों में पगडंडियों पर चलकर आँजनबारा पहुँच गए थे। शर्माजी एक किंवदंती हैं और उन्होंने यह सुनिश्चित करने के लिए बहुत कुछ किया है कि मेरे जैसे जमीनी कार्यकर्ता कुछ प्रासंगिकता बनाए रख पाए एक ऐसे माहौल में जिसमें आदिवासियों के हित में काम करना मुश्किल है। गणित में पी.एच.डी. हासिल करने के बाद वे 1956 में भारतीय प्रशासनिक सेवा में शामिल हो गए और जल्द ही उन्होंने अपने कार्यों के लिए मशहूर हो गए। बस्तर के जिला मजिस्ट्रेट के रूप में सरकारी अधिकारियों और व्यापारियों के खिलाफ वे सख्त कदम उठाए जो क्षेत्र के आदिवासियों का शोषण कर रहे थे। 1981 तक सरकारी सेवा से वे इस्तीफा डे दिए जब सरकार के साथ उनका गहरा मतभेद हो गया। इसके बाद वे कुछ दिनों तक मेघालय में पूर्वोत्तर पहाड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति रहे।

इसके बाद वे आयुक्त, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति नियुक्त किए गए और 1986 में भारत के राष्ट्रपति को भेजी गई वैधानिक रिपोर्टों में वे आदिवासियों को न्याय नहीं मिलने पर सरकार की कड़ी आलोचना की। उन्होंने सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका दायर की और रिपोर्ट पर सरकारी कार्रवाई की मांग की। 1991 में अपने पद से सेवानिवृत्त होने के बाद, वे बस्तर के गांवों में वापस चले गए, जहां से उन्होंने आदिवासियों के लिए ग्राम स्वराज्य के लिए लोगों के जमीनी स्तर पर आंदोलन शुरू करने के लिए धर्मयुद्ध शुरू किया। यह वह चरण था जिसमें उन्होंने प्रसिद्ध अराजकतावादी नारा - "हमरा गाँव में हमरा राज" - दिया था, जो अब आदिवासी क्षेत्रों में आम बन गया है। उस समय उन गांवों में एक स्टील प्लांट स्थापित करने की योजना थी और उन्होंने इसके खिलाफ आंदोलन शुरू कर दिया। स्टील कंपनी द्वारा काम पर रखे गए गुंडों ने श्रमाजी को जगदलपुर की सड़कों पर उतारकर उन्हें निर्वस्त्र कर परेड करवाया जिससे पूरे देश में हंगामा मच गया।

शर्माजी के साथ मेरी मुलाकातें, जो आंजनबारा में शुरू हुई थी, बाद में भी होती रही। आयुक्त के रूप में अपने कार्यकाल के दौरान, उन्होंने लगातार प्रशासन को अधिक सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाने के लिए सलाह देते रहे जिससे कि खेमचेस और नबआ बहुत मदद मिली। अपनी सेवानिवृत्ति के बाद, वे भारत जन आंदोलन की स्थापना की जो सतत विकास और स्वशासन के लिए लड़ने वाले जन आंदोलनों का एक सशक्त मंच के रूप में उभरा। न केवल उन्होंने इस मंच का नेतृत्व किया है, बल्कि उन्होंने ग्रामीण और विशेष रूप से आदिवासी विकास और उनकी समस्याओं के समाधान के तरीकों पर बहुत कुछ लिखे भी। उन्होंने "सहयोग" नामक एक संगठन की स्थापना की, जो युवा कार्यकर्ताओं को उनके संघर्ष के काम में मदद करने के लिए बड़े पैमाने पर समाज से संसाधन जुटाने की कोशिश की।

झाबुआ के तत्कालीन सांसद श्री दिलीप सिंह भूरिया की अध्यक्षता में गठित संसदीय समिति के सदस्य के रूप में उन्होंने आदिवासी क्षेत्रों में सच्चे लोकतांत्रिक स्वशासन की स्थापना के लिए प्रगतिशील सिफारिशें की। बाद में, भारत जन आन्दोलन के अध्यक्ष के रूप में उनके लगातार प्रयासों

के कारण 1996 में पंचायत प्रावधान अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार अधिनियम (पेसा) पारित किया गया था। यह अनुसूचित क्षेत्र में आदिवासी वर्चस्व को कायम करने के लिए एक बहुत ही शक्तिशाली कानून है। पांचवीं अनुसूची के सराहनीय प्रावधानों के विपरीत, जिनके कार्यान्वयन को राज्य सरकारों के विवेक पर छोड़ दिया गया है, यह अधिनियम आदिवासियों को उनके अधिकारों को स्थापित करने के लिए कानूनी समर्थन देता है। हम इस अधिनियम के कार्यान्वयन में इतने सफल हो गए थे कि राज्य व्यवस्था को एक पूरी तरह से अवैध दमनकारी कार्यवाही कर मेहणदिखेड़ा में हमारे संगठन को कुचलना पड़ा था। महेन्दीखेड़ा की घटना के बाद मैं जब जेल में बंद था तब शर्माजी मुझसे जेल में मिलने आए। उन्होंने मुझे इस अधिनियम को जमीन पर लागू करने के लिए सराहा कि उन्होंने कागज पर जो कल्पना की थी वह मैं व्यस्तवायित कर दिखाया था।

सुभद्रा और हमारे छोटे से सात महीने के बच्चे की सुरक्षा के बारे में मुझे चिंतित देख उन्होंने मुझे साहस देते हुए कहा कि - "फिकर मत करो, कुछ ही दीनों की बात है, हम तुम्हारे साथ हैं"। बाकी सभी बुजुर्ग साथियों जैसे ही शर्मजी भी आज और हमारे बीच नहीं है। आज हम भी बूढ़े हो गए है पर हम इन सभी प्रतिभावान दिशरिओं की तुलना में फीके पड़ते है और यह ही कारण है कि फिलहाल जन आंदोलनों की स्थिति बहुत कमजोर है।

अध्याय 13 – संघर्ष यात्रा और उसकी विफलता

1990 तक नबआ का भारत और विदेशों में समर्थकों का एक विस्तृत नेटवर्क बन गया था। उस वर्ष 25 दिसंबर को, नबआ ने सरदार सरोवर बांध के निर्माण के खिलाफ पर्यावरण आंदोलनों द्वारा तब तक के सबसे बड़े जन कार्यवाही के आयोजन में इस समर्थन का बखूबी इस्तेमाल किया। बांध स्थल तक जाने के लिए एक लंबी पैदल यात्रा, संघर्ष यात्रा, बड़वानी के पास नर्मदा के किनारे राजघाट से शुरू की गई थी जहां निमाड़ और घाटी के बाहर के लोगों ने इसे हरी झंडी दिखाई। महाराष्ट्र और अलीराजपुर के आदिवासियों को अलीराजपुर में इस यात्रा में शामिल होना था। बाबा आमटे अपनी विशेष गाड़ी में यात्रा का नेतृत्व कर रहे थे।

सुभद्रा और उनके साथियों ने यात्रा के बीस दिन पहले से निमाड़ में गाँव-गाँव घूमकर लोगों को उचित तैयारियों के साथ बड़ी संख्या में यात्रा के लिए निकलने के लिए प्रेरित किया। सर्दियों की ठंड में यात्रा की जानी थी और एक महीने या उससे भी अधिक समय तक चल सकती थी। गर्म कपड़े, जलाने के लिए लकड़ी और खाना पकाने के लिए राशन जैसे प्रावधान भी साथ ले जाने थे। इन्हें ट्रैक्टरों पर ले जाने थे जो पैदल चलने वालों के साथ जाने वाले थे।

मैं महाराष्ट्र और अलीराजपुर के आदिवासियों के साथ यात्रा शुरू होने के पाँच दिन बाद इसमें शामिल हुआ। अगले दिन, सुबह-सुबह अलीराजपुर से यात्रा शुरू हुआ। दिन के अंत तक, हम गुजरात सीमा पर फेरकुवा गाँव तक पहुंच गये। अलीराजपुर में हमें पता चला था कि गुजरात सरकार ने सीमा पर लोग और पुलिस को तैनात की थी। पुलिस के बलों के पीछे लोगों का एक समूह सड़क पर उतर आया गुजरात के मुख्यमंत्री की पत्नी उर्मिलाबेन के नेतृत्व में हमें बांध तक पहुंचने से रोकने के लिए।

उस रात फ़रकुवा में यात्रा का निर्णायक दल ने तय किया कि बाबा आमटे के नेतृत्व में एक छोटा समुह सीमा पार करेगा। जैसा कि अपेक्षित था, उन्हें पुलिसकर्मियों के एक दल द्वारा रोका गया, जिन्होंने बाबा को आदरपूर्वक आगे बढ़ने से मना किया क्योंकि आगे गुजरात के लोगों से टकराव होने की संभावना थी। बाबा ने वापस जाने से इंकार कर दिया और तुरंत वहाँ एक धरना शुरू किया। इस प्रकार सीमा पर एक तरफ हम लोग थे और दूसरी तरफ गुजरात के लोग और बीच में गुजरात की पुलिस।

गुजरात के राजनेताओं ने वाणिज्यिक संस्थाएं, प्रबुद्धजन, एनजीओ और प्रेस के समर्थन से बांध के निर्माण के पक्ष में माहौल बनाया था और इसको “जीवाडोरी” या जीवन रेखा के रूप में देखा गया था ताकि राज्य के सूखे क्षेत्रों में पानी पहुंचाया जा सके। इस प्रकार बड़ी चतुराई के साथ बांध के पर्यावरणीय, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को नजर अंदाज कर दिया गया और इसे एक गुजरात बनाम मध्य प्रदेश का विवाद में तब्दील कर दिया गया। बांध की पर्यावरणीय निरन्तरता के अभाव के तथ्य और जल संसाधन प्रबंधन के विकेंद्रीकृत और निरंतर विकल्पों को गुजरात सरकार द्वारा

खारिज कर दिए गए थे। इसके बजाय गुजरात के लोगों और पुलिस को सीमा के उस पार लामबंद कर इसे एक अंतर-राज्य टकराव में बदल दिया गया था।

एसएसपी के प्रति कट्टर प्रतिबद्धता ने गुजरात सरकार को बांध के निर्माण को बाधित करने वाले हर कदम को रोकने पर उतारू बना दिया था। बांध बनाने वाली कंपनी जयप्रकाश एसोसिएट्स, उत्तर प्रदेश और बिहार से मजदूरों को लाई थी और उन्हें कम वेतन दे रही थी। वडोदरा कामदार यूनियन नामक एक श्रमिक संघ ने श्रमिकों को संगठित कर हड़ताल करवाया जिससे कि बांध निर्माण का काम रुक गया।

हालांकि, गुजरात पुलिस की सहायता से, जयप्रकाश एसोसिएट्स ने हड़ताली श्रमिकों को उनकी झोपड़ीयों में बंद कर दिया और बांध पर काम जारी रखने के लिए नए श्रमिकों को लाया। श्रमिक संघ के कार्यकर्ताओं को डराने-धमकाने के लिए गुंडों को लगाया गया। संगठन के अध्यक्ष को छुरा भी घोंपा गया था, हालांकि वे बच गए थे। कुछ महीनों के बाद, गुजरात सरकार द्वारा बरपाये गए दमन से हड़ताल को तोड़ दिया गया, यद्यपि श्रमिकों की मांग वैध थी। बांध के निर्माण के रास्ते में कोई भी कानूनी या मानवीय न्याय की मांग को आने नहीं दी गई।

हम सीमा पर शिविर लगाकर "संघर्ष गाँव" स्थापित करके बैठ गए। निमाड़ से आने वाले प्रत्येक गाँव के लोगों के पास अपने ट्रैक्टर के आसपास अपना स्थान होता था जहाँ भोजन पकाया जाता था। रात के समय, वहाँ आग जलायी जाती थी जिसके चारों ओर गायन और बात चीत चलती थी। घाटी के बाहर से आने वाले लोगों और आदिवासियों के लिए बड़े पैमाने पर तंबू ताने गए थे। छोटे छोटे जतथे पुलिस के बैरिकेड्स को तोड़ने की कोशिश की पर वे नाकाम रहे। इसके बाद मेधा पाटकर और महाराष्ट्र के एक बांध प्रभावित खाजियाभाऊ सहित कुल सात पुरुष और महिलाएं, एसएसपी की एक स्वतंत्र समीक्षा की मांग करते हुए 7 जनवरी, 1991 को भूख हड़ताल शुरू कर दिए। बाकी के हजारों लोग भूख हड़ताल करने वालों के समर्थन में बैठ गए।

1970 के दशक से झारखंड में आदिवासियों के साथ काम करने वाले वरिष्ठ कार्यकर्ता मेघनाद भी मेधा के साथ भूख हड़ताल पर थे। उस पर भी मेरी तरह हत्या का झूठा आरोप लगा हुआ था। वे एक बहुत बढ़िया गायक और मनोरंजन करने वाले वाले व्यक्ति है। बाद में वह फिल्म निर्माण में लग गए और अब पर्यावरण और आदिवासी विषयों पर वृत्तचित्र फिल्मों के एक बहु पुरस्कृत निपुण निर्माता हैं।

मेघनाद को, संभवतः अपनी झारखंडी उग्रवादी इतिहास के कारण, यात्रा की सुरक्षा, विशेष रूप से अपने प्रमुख नेताओं बाबा आमटे और मेधा पाटकर की सुरक्षा की जिम्मेदारी गई थी। फेरकुवा में पहुँचने के बाद वह एक दिन मेरे पास आया यह कहते हुए कि मेधा ने एक प्रेस कांफ्रेंस के दौरान उसके पीछे खड़े होने पर उसे कही थी कि वह प्रेस फोटोग्राफरो से उसके साथ फोटो खिंचवाने की कोशिश कर रहा था। उन्होंने मेधा की आलोचना का हवाला देते हुए सुरक्षा प्रमुख के पद से इस्तीफा दे दिया और गायन और मनोरंजन में व्यस्त हो गया।

मेघनाद, झारखंड में अपने अनुभवों के कारण, स्वतंत्र भारत में गांधीवादी जन कार्रवाई की सीमाओं के बारे में अच्छी तरह से वाकिफ थे। उसके जैसे मदिरा प्रिय व्यक्ति के लिए फेरकुवा में सिर्फ पानी पीकर जीना मुश्किल था। उन्होंने हँसते हुए टिप्पणी की कि वह फेरकुवा में झारखंड से हवा बदलने आया था और इस अवसर को अपने कई पापों के लिए प्रायश्चित करने में उपयोग कर रहा था!

गुजरात सरकार कुछ भी मानने को तैयार नहीं थी लेकिन अंतरराष्ट्रीय प्रसार माध्यमों में प्रचार और जबरदस्त सद्भावना ने नबआ के पक्ष में विश्व बैंक पर दबाव बनाया। विश्व बैंक ने एसएसपी की समीक्षा के लिए एक स्वतंत्र आयोग के गठन की घोषणा की। यह विश्व बैंक के लिए अभूतपूर्व था। 28 जनवरी को भूख हड़ताल समाप्त हो गई, और मेधा ने घोषणा की कि हर कोई अपने गांवों में लौट जाएगा और वहां लड़ाई जारी रखेगा। शर्माजी का नारा जिसे मेधा ने अपनाया - "हमारा गाँव में हमारा राज" सुनने में तो अच्छा था पर यह ज्यादातर लोगों को रास नहीं आया। उन्होंने महसूस किया कि फेरकुवा से बिना अपनी मांगों को मनवाकर वापस लौटना हार है। इसके बाद से नर्मदा घाटी में नबआ के जन समर्थन में भारी गिरावट आने लगी।

इससे एनबीए के भीतर के निहित विरोधाभास सामने आ गया। एक तरफ शहरी मध्यम वर्ग के आदर्शवादी युवा थे जो नबआ को आधुनिक विनाशकारी विकास के खिलाफ संघर्ष और एक वैकल्पिक विकेंद्रित विकास लाने के माध्यम के रूप में देखते थे। दूसरी तरफ आदिवासियों और अन्य पिछड़े वर्ग के किसान थे जो आंदोलन से यह उम्मीद करते थे कि इससे उनकी भूमि और आजीविका बच जाएंगे। उन्हें उन ताकतों की बहुत कम समझ थी जिसके कारण वे संकट में आ गए थे।

नबआ दो स्तरों पर काम कर रहा था। एक था सामूहिक संघर्ष और प्रदर्शन घाटी में और भोपाल, मुंबई और दिल्ली जैसे प्रमुख सत्ता केंद्र में। दूसरा था शहरी जनता, प्रेस और सत्ताधारी लोगों के साथ राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पैरवी का काम। बांध से प्रभावित होने वाले घाटी के लोग पहली तरह के काम में प्रमुख भूमिका निभाई, पर वे लगातार दूसरी तरह के काम में हाशिए पर चले गए, और इस काम की जिम्मेदारी शहरी माध्यमवर्गीय कार्यकर्ताओं पर आ गई। स्वाभाविक रूप से, दुनिया को ये कार्यकर्ता नेता के रूप में दिखाई दिए और उनके बीच सबसे करिश्माई और कड़ी मेहनत करने वाली, मेधा पाटकर, नबआ की प्रमुख नेता बन गईं। आंदोलन तब तक ठीक चलीं, जब तक कि घाटी के विस्थापित होने वाले लोगों को यह महसूस हुआ कि कार्यकर्ताओं के नेतृत्व के परिणामस्वरूप बांध का काम रुक जाएगा। इस कारण से, संघर्ष यात्रा में अभूतपूर्व पैमाने पर लोगों की भारी भीड़ और भागीदारी थी। वे सोचते थे कि कार्यकर्ताओं की नेतृत्व में इस सामूहिक कार्रवाई निश्चित रूप से बांध का काम रुकवा देगा।

पर यात्रा के बाद मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र में बहुसंख्यक आदिवासी बांध प्रभावित लोगों ने "हमारा गाँव में हमारा राज" का नारा पर भरोसा नहीं किया और भूख हड़ताल की वापसी और फेरकुवा से लौटकर आने को अपनी हार मान ली।

संघर्ष यात्रा के तुरंत बाद नबआ से बड़े पैमाने पर आदिवासी बांध प्रभावित निकाल गए। सभी राज्यों की सरकारों द्वारा पुनर्वास के लिए अच्छे विकल्प दिए गए और आदिवासी बांध प्रभावित संघर्ष को छोड़ वैकल्पिक जमीन और पुनर्वास को स्वीकार किया। यहां तक कि खाज्याभाऊ ने भी, जो मेधा पाटकर के साथ बाईस दिनों तक भूख हड़ताल पर बैठे थे, सरकार द्वारा दिए गए वैकल्पिक भूमि को स्वीकार कर लिया।

जब विस्थापित लोगों ने माना कि वे बांध को रोक नहीं सकते हैं, तो उन्होंने सरकार द्वारा वैकल्पिक भूमि पर पुनर्वास के विकल्प को चुना। पुनर्वास प्रक्रिया की पेचीदगियों के बावजूद इन लोगों ने महसूस किया है कि जलमग्न होकर सब कुछ खोने से बेहतर है की कम से कम वैकल्पिक पुनर्वास अपनाया जाए। अलीराजपुर के एक बांध प्रभावित आदिवासी कार्यकर्ता, धानकीया ने कहा, "अगर गाँव ही नहीं रहेगा तो राज कहाँ करेंगे"।

इसके बाद, सरकार ने नबआ के बाकी बचे सदस्यों पर दमन शुरू किया। नबआ इसके लिए पूरी तरह से तैयार नहीं था। प्रमुख स्थानीय नेताओं को पुलिस थानों में ले जाया गया और निर्वस्त्र कर मारपीट करने के बाद जेल भेज दिया गया। इसने नबआ का प्रभाव को गंभीर रूप से कम कर दिया। जन कार्रवाई करने या जुलूसों में शामिल होने के लिए लोगों की संख्या घटने लगी। एक तरफ पुनर्वास का लालच और दूसरी तरफ दमन की नीति, जिसका उपयोग इससे पहले लाल टोपी आंदोलन और ज़हरेली गैस कांड संघर्ष मोर्चा को हाशिए पर डालने के लिए किया गया था, अब नबआ को कमजोर करने के लिए इस्तेमाल किया गया।

खेमचेस को भी नहीं बख्शा गया। कीटी गांव में वृक्षारोपण के लिए पारंपरिक चारागाह को घेरने की कोशिश कर रहे वन विभाग के साथ समस्या पैदा हो गई। वन विभाग के कर्मचारियों की मदद के लिए सशस्त्र पुलिस बलों को तैनात की गई। गाओं के लोगों ने वन बिभाग को जमीन देने से मना कर दिया। प्रशासन द्वारा शंकर और मुझे, कुछ और लोगों के साथ, चर्चा के लिए अलीराजपुर बुलाए गए। और हमें वहाँ गिरफ्तार कर लिया गया जेल भेज दिया गया। इसके बाद मध्यरात्रि में, विभिन्न स्थानों में बिखरे हुए सभी अन्य कार्यकर्ताओं को भी गिरफ्तार किया गया और जेल भेज दिया गया। पर इस कार्यवाही से प्रशासन के उद्देश्य को पूरा नहीं हुआ क्योंकि हमारी गिरफ़्तारी के बाद भी गाँव के लोगों ने पुलिस बलों का विरोध और प्रदर्शन किया जिसमें पुलिस ने गोली चला दी। इस बीच, इंदौर में हमारे वकील और कुछ अन्य कार्यकर्ता, जो गिरफ्तार होने से बच गए थे, ने हमारी रिहाई के लिए उच्च न्यायालय में बंदी प्रत्यक्षीकरण आवेदन दायर किया। इससे प्रशासन में खलबली मच गई। सामुदायिक चारागाह का घेराव का विरोध बांध के निर्माण को रोकने की तुलना में सरकार के लिए बहुत कम नुकसानदायक था। इसलिए आखिरकार, वन विभाग ने प्रशासन के दबाव में अपनी वृक्षारोपण योजना को त्याग दिया और इस मुद्दे पर आदिवासियों से संघर्ष खत्म हो गया।

इस बीच, नबआ को कुछ सफलता हाथ लगी, जब विश्व बैंक द्वारा नियुक्त समीक्षा समिति ने विश्व बैंक को सरदार सरोवर परियोजना से पीछे हटने की सिफारिश दी और परियोजना उस पर नए सिरे

से विचार करने को कही। समीक्षा समिति ने नबआ द्वारा बताया गया पर्यावरण संबंधी शर्तों के उल्लंघन, योजना में दर्शाए गए स्तर से जलमग्नता अधिक होने की संभावना और मौजूदा कानूनों और नीतियों के तहत सही विस्थापन न हो पाने की आशंकाओं की पुष्टि की। हालांकि, जीत काफी हद तक प्रतीकात्मक थी क्योंकि विश्व बैंक ने परियोजना पीछे हटने से इनकार कर दिया और इसके बजाय समिति के निष्कर्षों को सत्यापित करने के लिए परियोजना के कार्यों पर निगरानी की छह महीने की अवधि निर्धारित की। इसने भारत सरकार पर यह सुनिश्चित करने के लिए दबाव डाला कि बांध से विस्थापित होने वाले परिवारों के बारे में सही जानकारी एकत्र किए जाये और एक उचित पुनर्वास योजना बनाई जाए। इसके अलावा पर्यावरण और वन मंत्रालय द्वारा 1987 में दी गई सशर्त मंजूरी के बाद से लंबित जलग्रहण क्षेत्र उपचार और वनीकरण योजनाएं भी इसी छह महीने के समय में पूर्ण की जानी थीं। इसका मतलब था कि जलमग्न होने वाले क्षेत्र का विस्तार से सर्वेक्षण किया जाना था।

अलीराजपुर के गाँव, जहाँ खेमचेस सक्रिय थे, मध्यप्रदेश में सबसे पहले डूबने वाले थे। इसलिए अक्टूबर 1992 से, मध्य प्रदेश की सरकार ने इन गाओं के सर्वेक्षणों को पूरा करने के लिए एक अभियान चलाया ताकि लोगों को नबआ से अलग किया जाए। झाबुआ के जिला मजिस्ट्रेट ने 30 अक्टूबर को नर्मदा किनारे स्थित ककराना गांव में एक तथाकथित "समस्या निवारण शिविर" आयोजित किया, ताकि लोगों को गुजरात में बसने के लाभों के बारे में बताया जा सके। उन्होंने न केवल लोगों को गुजरात जाने के लिए उकसाया, बल्कि खेमचेस के कार्यकर्ताओं के साथ मिलकर राज्य की ताकत को चुनौती देने से बाज आने के लिए उन्हें लगातार चेतावनी दी। खेमला उस बैठक में बहुत सारे लोगों के साथ मौजूद थे। वह तुरंत उठ खड़ा हुआ और जिला मजिस्ट्रेट को यह पूछना शुरू कर दिया कि क्यों वह लोगों को गुजरात जाने के लिए मजबूर कर रहा था जब नर्मदा जल विवाद प्राधिकरण ने यह प्रावधान किया था कि मध्य प्रदेश में लोगों को उनकी पसंद के स्थान पर ही बसाया जा सकता है। बड़ी तादाद में वहां मौजूद पुलिस ने खेमला को गिरफ्तार किया और उसे जिलाधिकारी के पास ले गई, जिसने उसे थप्पड़ मारा और आदेश दिया कि उसे गिरफ्तार करके अलीराजपुर ले जाया जाए। इससे खेमचेस के अन्य कार्यकर्ताओं और लोग नाराज हो गए और पुलिस के साथ संघर्ष हो गया। चार और लोगों को गिरफ्तार कर लिया गया और उनकी पिटाई की गई।

अलीराजपुर में पुलिस थाना में खेमला के हाथों को उसके टखनों के पीछे बांधकर उसकी बुरी तरह पिटाई की गई। यह पिटाई एक आईएएस अधिकारी, अलीराजपुर के अनुविभागिया दंडाधिकारी, द्वारा की गई जिन्होंने पुलिस को बताया कि वे ठीक से मारना नहीं जानते थे और वह उन्हें सिखाएगा की कैसे लोगों को पीटा जाता है! दूसरों को भी बेरहमी से पीटा गया और सभी को कान पकड़नकर उठ बैठ कराकर अपमानित किया गया। जैसा कि ऐसे मामलों में होता है, उनके खिलाफ झूठे आपराधिक आरोप लगाए गए और उन्हें जेल भेज दिया गया। खेमला पूरी तरह से उस पिटाई से उबर नहीं पाया और बाद में ज़िंदगी भर उसकी पीठ दर्द होती रही। इसके बाद, नर्मदा के किनारे कुछ ऐसे गाँवों में अस्थायी पुलिस शिविर लगाए गए, जो सड़क मार्ग से पहुंचे जा सकते थे। फिर गाँवों का जबरन

सर्वेक्षण करने के प्रयास किए गए। इससे और अधिक टकराव हुआ क्योंकि लोगों ने इन शिविरों के तंबू उखाड़ दिए और उनमें तैनात सीमित पुलिस बल को भगा दिया। प्रशासन ने और अधिक पुलिस लाकर शिविरों को फिर से स्थापित किया।

संवर्धित पुलिस बल के साथ सर्वेक्षण दलों द्वारा जनवरी 1993 में गांवों के जबरन सर्वेक्षण एक बार फिर शुरू हुई। गाँव के बाद गाँव का सर्वेक्षण किया गया और विरोध करने वालों को बुरी तरह पीटा गया। आंजनबारा गाँव के ग्रामीण 29 जनवरी को अपने पटेल के घर पर इंदल का महत्वपूर्ण धार्मिक उत्सव मना रहे थे। वहाँ आस-पास के गाँवों के लोग भी बहुत संख्या में थे। उत्सव के बीच में, सर्वेक्षण दल पहुंची और पुलिसकर्मियों ने महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार करना शुरू कर दिया। ग्रामीणों ने पुलिस का सामना किया और बड़ी संख्या में होने के कारण सर्वेक्षण दल को पीछे हटने के लिए मजबूर किया। इस की खबर उच्च अधिकारियों को भेजा गया और अगले दिन, कुछ दो सौ की एक बहुत बड़ी पुलिस दल गाँव में आई और लोगों को पीटना शुरू कर दिया, उनके बर्तनों को तोड़ दिया और उनके घरेलू सामान को लूट लिया। कुछ समय बाद मारपीट के कारण पुरुष भाग गए। इसका फायदा उठाते हुए, पुलिस ने कुछ महिलाओं को गिरफ्तार किया और उन्हें साथ ले जाने लगा। इससे पुरुषों और पुलिस के बीच एक और संघर्ष हुआ जिसके परिणामस्वरूप एक व्यक्ति पुलिस की गोलीबारी में घायल हो गया। एक बार फिर, पुलिस ने लोगों और खेमचेस के सभी कार्यकर्ताओं को झूठे आपराधिक मामलों में फंसाया और उन्हें एक-एक कर गिरफ्तार किया, थानों में उनके साथ मारपीट की और उन्हें अलीराजपुर की गलियों में हथकड़ी पहनाकर घुमाने के बाद जेल भेज दिया।

प्रशासन ने खेमचेस के खिलाफ अलीराजपुर के लोगों की एक जुलूस का आयोजन किया, जिसमें खेमचेस को विश्व बैंक का विरोध करने के लिए राष्ट्र-विरोधी संगठन कहा गया! इस भारी दमन के बावजूद, खेमचेस ने अलीराजपुर में प्रशासन की इन अवैध गतिविधियों के खिलाफ एक पलट जुलूस निकाली। इस जुलूस और इसके पहले हुए भारी दमन को राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रसार माध्यमों द्वारा बहुत प्रचारित किया गया था। इसके कारण विश्व बैंक पर बहुत दबाव बना कि वह सरदार सरोवर परियोजना से हट जाए। अंततः भारत सरकार ने 30 मार्च 1993 को घोषणा की कि वह विश्व बैंक ऋण की शेष राशि का लाभ नहीं उठाएगी। इसके बाद, जापानी सरकार ने भी, बिजलीघर की टर्बाइनों के लिए अपना ऋण वापस ले लिया। लेकिन इससे किसी भी तरह से गुजरात और केंद्र सरकारों का बांध के निर्माण कार्यक्रम नहीं रुका।

छत्तीसगढ़ में भी इसी प्रकार का दमन शुरू हो गया। छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा के नेता शंकर गुहा नियोगी ने भिलाई इस्पात संयंत्र के आसपास के कारखानों के श्रमिकों को संगठित करने का काम 1990 से शुरू कर दिए थे। इन कारखानों में श्रम कानूनों का घोर उल्लंघन हो रहा था और श्रमिकों को न तो सही वेतन मिल रहे थे, न ही उन्हें नियमित किया जा रहा था और न ही अन्य सुविधाएं दी जा रही थी। संघर्ष बढ़ गया और कई कारखानों में श्रमिक अपनी मांगों को लेकर हड़ताल पर चले गए। इन कारखानों के मालिकों ने श्रमिकों के मांगों को मानने के बजाय उनके संघर्षों को कुचलने का

निर्णय लिया। वे उत्तर प्रदेश के एक भाड़े के हत्यारा, पलटन मल्लाह, से अपने घर में सोते हुए नियोगी को 28 सितंबर 1990 के रात को गोली मारकर मरवा दिया। प्रशासन ने छमुमो के इस मांग को ठुकरा दिया कि नियोगी की हत्या का अपराध की प्राथमिकी में कारखाना मालिकों के नाम दर्ज किया जाय। पर इसके बाद देश और विदेश में बहुत हंगामा मच गया और केन्द्रीय सरकार के दबाव के कारण केन्द्रीय जांच ब्युरो को अपराध की जांच सौंप दी गई।

इसके बाद भी छमुमो का संघर्ष जारी रहा भिलाई के कारखानों में श्रम कानून लागू कराने के लिए। पर कारखाना मालिकों के दबाव के कारण सरकार श्रम कानूनों को लागू करवाने के लिए तैयार नही थी। अंततः छमुमो के सदस्यों ने भिलाई के पावरहाउस रेल्वे स्टेशन के पास धरना पर बैठ गए। छमुमो का नियमित एवं सही वेतन पर काम के लिए यह संघर्ष एक ऐसे समय पर जोर पकड़ रहा था जब विश्वभर में वैश्वीकरण के तहत कारखाना में निर्माण का काम को ऐसे स्थानों पर स्थानांतरित किया जा रहा था जहां श्रम कानून लागू नहीं है और इसलिए अस्थायी तौर पर कम वेतन पर श्रमिकों से काम लिया जा सकता है। इसके कारण मालिकों को किसी भी समय पर श्रमिकों को काम पर लगाने और उन्हें बर्खास्त करने का छूट होता है और काम के न्यूनतम कानूनी शर्तों को लागू नहीं करना होता है। इन श्रम कानूनों को सरकारों द्वारा इसलिए बनाए गए थे क्योंकि श्रमिक संघों ने एक सदी से भी अधिक समय तक इसके लिए संघर्ष किए थे। 1930 के दशक में दुनिया भर में आर्थिक मंदी आने के बाद सरकारों को यह भी समझ में आया था कि पूँजीपतियों को अगर श्रमिकों का बेलगाम शोषण की छूट दी जाती है तो एक समय श्रमिक इतने गरीब हो जाते है कि उनके पास उत्पादित वस्तुओं को खरीदने के लिए पैसे नहीं होते और आर्थिक मंदी आ जाती है।

मार्क्स ने पूंजीवाद की यह बुनियादी समस्या के बारे में पहले ही आगाह कर चुके थे। क्योंकि पूँजीपतियों के बीच उनके उत्पाद को सस्ते से सस्ते दामों पर बेचने की प्रतिस्पर्धा होती है इसलिए वे एक तरफ नई नई तकनीक का ईजाद करते है उत्पादकता बढ़ाने के लिए और दूसरी तरफ श्रमिकों का वेतन कम देते है उत्पादन खर्च को कम करने के लिए। पर एक ही देश में ज्यादा समय तक ऐसा नहीं किया जा सकता है क्योंकि एक समय ऐसा आता है जब बाजार में उत्पादित वस्तुओं की संख्या अधिक होती है और उसे खरीदने वाले कम और इसलिए मंदी आ जाती है। पूंजीवाद की शुरुआती दौर में इस समस्या का समाधान के लिए औद्योगिक देशों द्वारा अपने उपनिवेशों में उत्पादित वस्तुओं और अतिरिक्त श्रमिकों को निर्यात किया गया था और वहाँ से सस्ते में कच्चा माल खरीदकर लाया गया था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भी औद्योगिक विकसित देशों के कंपनियों ने अपने श्रमिकों को अच्छे वेतन और सुविधाएं इसलिए देते रहे कि वे विकासशील देशों में अपने उत्पाद बेचते रहे और वहाँ से सस्ते में कच्चा माल खरीदते रहे। पर धीरे धीरे विकासशील देश भी विकसित और औद्योगीकृत होने लगे जिसके कारण प्रतिस्पर्धा बढ़ गई और विकसित देशों के कंपनियों के लिए अधिक वेतन देकर श्रमिकों से उत्पादन करना महंगा साबित होने लगा। इसलिए

औद्योगिक उत्पादन को विकासशील देशों में स्थानांतरित किया जाने लगा और विकसित देशों में पहले जैसे अच्छे वेतन वाले स्थायी रोजगार कम हो गई।

चीन और पूर्वी एशिया के अन्य देशों में औद्योगिक उत्पादन का स्थानांतरण होने लगा तेजी से 1980 के बाद से और भारत के अंदर भी कलकत्ता और मुंबई जैसे स्थापित औद्योगिक केंद्रों से उत्पादन भिलाई जैसे नए स्थानों पर स्थानांतरित होने लगा जहां न तो श्रमिक संघ सक्रिय थे और न ही श्रम कानूनों का पालन हो रहा था। ऐसे में भिलाई के कारखाना मालिकों को लगा कि अगर छमुमो ने श्रमिकों के वेतन बढ़ाने में सफल रहा और उनकी नौकरियां स्थायी हो गई तो वे भारतीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्धा नहीं कर पाएंगे। और इसलिए वे सरकार पर दबाव डाला कि न केवल छमुमो की श्रम कानून लागू करने की मांगों पर ध्यान न दे बल्कि इस संगठन को हमेशा के लिए कुचल दे।

जब कुछ दिनों तक हड़ताल पर बैठने के बाद भी सरकार छमुमो की मांगें नही मानी तो प्रदर्शनकारी 1 जुलाई 1992 को धरना स्थल के पास से गुजर रहा मुंबई हावड़ा रेल मार्ग पर जाकर बैठ गए और रेल यातायात को अवरुद्ध कर दिए। क्योंकि सरकार की समस्या को वार्तालाप से सुलझाने की कोई मंशा नही थी इसलिए उसे दिन शाम को पुलिस ने लोगों पर अंधाधुंध गोली चलायी जिसमें 17 लोगों की मौत हो गई। इसके बाद पुलिस ने एक दमन चक्र चलाया जिसमें छमुमो के कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर पुलिस थानों में बेरहमी से पीटने के बाद जेल में बंद कर दिया गया। गोली चालन के बाद के अफरातफरी में एक पुलिस उपनिरीक्षक की मौत हो गई थी। उसकी हत्या का झूठ मुकद्दमा छमुमो के नेताओं पर लगा दिया गया जिसके कारण वे सब भूमिगत हो गए। भिलाई औद्योगिक क्षेत्र में श्रमिक आंदोलन को इस दमन से बहुत बड़ा झटका लगा जिससे वह कभी उभर नहीं पाया।

इसका असर छमुमो की दल्ली इकाई पर भी पड़ा। दल्ली में लौह अयस्क का भंडार धीरे-धीरे समाप्त हो रहा था। भिलाई स्टील प्लांट प्रबंधन मशीनों से खनन करना चाहता था बाकी अयस्क को निकालने के लिए। उन्होंने छमुमो को प्रस्ताव दिया कि वे अधिकांश श्रमिकों को एक मुश्त पैसे देकर काम से बैठा देंगे और कुछ ही लोगों को स्थायी कर्मचारी बनाए रखेंगे। यह देखते हुए कि बदले हुए वैश्विक परिवेश में इस प्रस्ताव के खिलाफ एक सफल आंदोलन की संभावना कम थी, छमुमो इस प्रस्ताव पर सहमत हुए। इस के बाद के वर्षों में, छमुमो का मुख्य दल्ली स्थित जन आधार भी इस वजह से कम हो गया है। अयस्क के खत्म होने के कारण खानों के बंद होने के साथ, एक जीवंत शहर और श्रमिक बस्ती, जहां सबसे प्रेरणादायक जन आंदोलनों में से एक ने जड़ें जमा ली थीं, अब एक भूत शहर दिखता है।

प्रयोग से जुड़े विभिन्न कार्यकर्ताओं, जिन्होंने 1991 में अपनी सभी जन इकाइयों को एकता परिषद के तहत समेकित किया था, को भी पुलिस दमन भुगतना पड़ा। एक विशेष रूप से जुझाड़ू कार्यकर्ता, सीताराम सोनोवने को रायपुर जिले में वन विभाग द्वारा अपहरण कर लिया गया था, जहां वे आदिवासियों के साथ जंगल पर उनका अधिकार को लेकर काम कर रहे थे। लगभग एक हफ्ते तक

उसकी कोई खबर नहीं थी। राष्ट्रीय मानवाधिकार संगठनों द्वारा हल्ला मचाने के बाद ही वन विभाग के कर्मचारियों ने मजिस्ट्रेट के सामने सीताराम को पेश किया। सतना जिले के ग्राम मानपुर में एकता परिषद के कुछ सदस्यों की एक बैठक को अनुविभागिया दंडाधिकारी ने मनमाने ढंग से अवैध घोषित कर दिया और पुलिसकर्मियों के दल के साथ जाकर कार्यकर्ताओं और वहां एकत्र हुए लोगों के साथ मारपीट की। फिर, उसने उनमें से कुछ को गिरफ्तार कर जेल भेज दिया।

सुभद्रा और उनके साथी कार्यकर्ताओं को भी पुलिस दमन का स्वाद मिला। एक दिन, एक पुलिसकर्मी डही में उनके कार्यालय में आया और सुभद्रा और उसके सहकर्मी श्रद्धा को पुलिस स्टेशन बुलाया, जहाँ उन्हें "आदिवासियों को उकसाने" का काम से बाज आने को कहा गया। उन्हें डही छोड़ने का भी आदेश दिया गया। सुभद्रा और श्रद्धा ने एक अन्य कार्यकर्ता से संपर्क किया जिसे वे जानते थे और इंदौर में पुलिस महानिरीक्षक से उप-निरीक्षक के विरुद्ध शिकायत की। पुलिस महानिरीक्षक ने उपनिरीक्षक के खिलाफ कोई कार्रवाई करने से इनकार कर दिया और चेतावनी दी कि वह डही में युवतियों की सुरक्षा के लिए जिम्मेदार नहीं है।

हालांकि भार्गवजी के हस्तक्षेप के बाद उस समय के महिला मुख्य सचिव से आश्वासन मिला की मामले की जांच की जाएगी और सुभद्रा और श्रद्धा डही वापस आ गईं। लेकिन कुछ दिनों के भीतर, एक पुलिस कांस्टेबल उनके कार्यालय में आया और उन्हें फिर से पुलिस स्टेशन में बुलाया। उप निरीक्षक ने उन्हें बताया कि भले ही वे उच्च अधिकारियों को उसके खिलाफ शिकायत की होगी पर उसकी जांच उसे ही करना है। इसलिए अगर उन्हें उनके खिलाफ शिकायत में कुछ भी कहना है, तो उन्हें यह कहना चाहिए और वह उनके बयान को लिख लेंगे! यह उन्हें बेतुका लगा और वे किसी भी बयान को दर्ज किए बिना वापस आ गए। यह विभागीय पूछताछ के लिए बराबर है। इस देश में शिकायतों की जांच इसी प्रकार से होती है। दिल्ली के अधिकारियों द्वारा आदेशित काकराना की घटनाओं की जांच भी उसी अनुविभागिय पुलिस अधिकारी ने की जिन्होंने खेमला की पिटाई की थी! स्थितियां इतनी बदतर हो गई थी कि 28 सितंबर, 1992 को, नियोगी की हत्या की पहली वर्षगांठ पर प्रदेश के सभी संगठनों ने मिलकर पुलिस दमन के विरोध में भोपाल में एक विशाल जुलूस का आयोजन किया था।

पिछले कुछ वर्षों के संगठनात्मक कार्यों से शोषणकारी व्यवस्था के खिलाफ एक व्यावहारिक चुनौती प्रस्तुत करने की जो आशाएं बंधी थी वह राज्य दमन के कारण केवल एक वर्ष में ध्वस्त हो गई। सभी जन संगठनों ने खुद को अपने अस्तित्व के लिए लड़ते हुए पाया। बढ़ने के बजाय, जन आधार लगातार सिकुड़ने लगा। एक संप्रभु लोकतांत्रिक गणराज्य के संविधान में दर्ज सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय को वास्तवायित करने की संभावनाएं इस प्रकार क्षीण हो गई। इस सबका परिणाम यह था कि पूरे मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ में विनाशकारी विकास के खिलाफ जो आंदोलन खड़ा हुआ था वह धीमा पड़ गया।

व्यक्तिगत रूप से एक अच्छी बात यह थी कि इन मुश्किलों के बीच सुभद्रा और मैं उन दिनों करीब आ गए थे। एक बार जब दिल्ली के एक पत्रकार ने मुझसे आदिवासी महिलाओं के साथ मेरे रिश्तों के बारे में सवाल पूछा था तो मैंने इसे यह कहते हुए खारिज कर दिया था कि उनके साथ किसी भी प्रेम संबंध रखना राजनीतिक रूप से खतरा भरा था और इसलिए मैंने इसके बारे में सोचा ही नहीं था। सुभद्रा और मैं, दोनों ने हमारे काम पर ध्यान केंद्रित करते हुए अपने आप को प्रेम संबंधों से अलग रखा था। हालांकि, कुछ अन्य कार्यकर्ता जो सुभद्रा के साथ डही आए थे, अपने काम के दौरान प्रेम की जोड़ी बना चुके थे, सुभद्रा ऐसा नहीं की थी।

पर सरकार द्वारा शुरू किए गए आक्रमण ने हमारी राजनीतिक कामों में इतना खलल डाल दिया कि हम दोनों की प्रेम संबंध बन गए। हम 1992 में भिलाई में छमुमो कार्यकर्ताओं की हत्या के विरोध में भोपाल में एक बैठक से एक साथ वापस आए और हमें बस में एक दूसरे से बात करने के लिए बारह घंटे मिले। इस यात्रा ने हमें एक दूसरे के करीब लाया और बहुत जल्द हम काम के बहाने बनाकर अधिक मिलने लगे। इस तरह हमने 1993 में भोपाल में शादी की और बाद में खुद को माचला के आश्रम में पाया, शारीरिक रूप से बीमार, राजनीतिक रूप से अधर में लटके हुए, आर्थिक रूप से गरीब लेकिन प्यार के मामले में समृद्ध और ज़िंदगी जीने के लिए उत्साह से भरपूर!

अध्याय 14 - प्यार है पर चैन नहीं

भील आदिवासी दुनिया के सबसे प्रेमी लोगों में से हैं। वे जीवन में जल्दी प्यार करने लगते हैं। भीलों के लिए विवाह प्रजनन सुनिश्चित करने के लिए एक ढीली व्यवस्था है और लड़कों और लड़कियों के बीच अनगिनत पूर्व-वैवाहिक संबंध और पुरुषों और महिलाओं के बीच विवाहेतर संबंध पारिवारिक जीवन को मसालेदार बना देते है। जब तक लोग ऐसे संबंधों में पकड़े नहीं जाते, तब तक इस पर कोई ध्यान नहीं देता है। लेकिन एक बार जब इस तरह के संबंध उजागर हो जाते हैं, तो भीली समाज इसे नियंत्रित करने के लिए कदम उठाता है। पर नियंत्रण की यह प्रक्रिया भी उन्हें बहुत मनोरंजन प्रदान करता है। इसके अलावा, लड़कियों और विवाहित महिलाओं को जबरन शादी के लिए उठा ले जाने के भी कुछ मामले आते है। हालांकि बलात्कार के मामले दुर्लभ हैं। क्योंकि कई बार शादी के बाद मियां बीवी में अनबन हो जाता है इसलिए तलाक के भी मामले होते हैं। आधुनिकीकरण के विनाश से बचे हुए भीली समाज के एक महत्वपूर्ण पहलू है उनकी पारंपरिक पंचायत व्यवस्था जिसमें स्त्री-पुरुष संबंधों से जुड़े सभी तरह के विवादों को सुलझाएं जाते है।

विवाद से संबंधित सभी पक्ष, अगर यह सिर्फ एक जोड़े का विवाद है तो दो पक्ष और अगर सगाई की हुई या शादी शुदा महिला को ले जाने या विवाहेतर संबंध या एक महिला या पुरुष का विवाह तोड़कर किसी अन्य से शादी करने का मामला है तो तीन पक्ष, विवाद को सुलझाने के लिए एक जगह बैठते है। सभी पक्ष आम तौर पर एक दूसरे से दूरी बनाकर बैठते हैं, और दूतों के माध्यम से संवाद करते हैं जिन्हें "वातार" कहा जाता है। यह विरोधी पक्षों के बीच सीधे टकराव न हो यह सुनिश्चित करने के लिए एक सुरक्षा व्यवस्था है क्योंकि लोग अक्सर इन पंचायतों में तीर - धनुष और और बंदूक से लैस होकर आते हैं। लेकिन इसके कारण वातारों को गालियों की बौछाड़ झेलना पड़ता है क्योंकि शुरू में दोनों पक्षों में समझौता करने की कोई इच्छा नहीं होती है और वे अनाप शनाप आरोप लगाते है और मुआवजा के रूप में बहुत पैसे मांगते है। फिर बाद में वे सौदेबाजी के माध्यम से समाधान पर पहुंचते हैं। इसीलिए भिलाली में एक कहावत है कि भैंस और वातार के गांड मारी जाती हैं!

भीलों में युवाओं को नियंत्रण में रखने और बेलगाम यौन और वैवाहिक अराजकता को रोकने के लिए ते किए हुए विवाह की व्यवस्था भी है। इसलिए भले ही शादी करने के लिए लड़के के साथ लड़की के भाग जाने का रिवाज काफी आम है और इसे सामाजिक स्वीकृति है, ऐसे मामलों में लड़के के परिवार को दुल्हन के परिवार को मौजूदा दर से अधिक उलट दहेज देना पड़ता है। यह उलट दहेज की राशि समय के साथ बढ़ती रहती हैं। विवाहेतर और पूर्व-वैवाहिक मामलों में, लड़के या आदमी को जुर्माना भरना पड़ता है, जो अपराध की गंभीरता और नाराज परिवार की प्रतिष्ठा पर निर्भर करता है। तो प्रेम विवादों को निपटाने की प्रक्रिया एक अत्यधिक मनोरंजक मामला है जिसमें लोगों को रंगीन किस्से, पैसे के लिए अतिशयोक्तिपूर्ण मांग और तरह तरह के गालियां सुनने को मिलता हैं। कभी कभी ऐसा भी होता हैं कि इन विवादों के निपटारे के लिए एक से अधिक बैठकों की जरूरत होती है। इन मामलों

में एक प्रकार की "इज्जत की राजनीति" भी शामिल है, जो कभी-कभी इन विवादों को गांवों के बीच राजनीतिक विवाद खड़ा कर देता है।

खेमचेस के प्रति निष्ठा न रखने वाले लोग अक्सर इन विवादों को खेमचेस के सदस्यों को नीचा दिखाने के लिए उपयोग करने की कोशिश करते हैं। हम कार्यकर्ताओं को अक्सर इन पंचायतों में भाग लेना पड़ता था यह सुनिश्चित करने के लिए कि खेमचेस के सदस्यों की बेइज्जती न हो। मैं इन बैठकों का भरपूर मज़ा लेता था।

थोड़ी देर के लिए इन पंचायतों ने 1990 के दशक की शुरुआत में एक अधिक राजनीतिक चरित्र प्राप्त किया, जब खेमचेस ने लगातार बढ़ती उलट दहेज राशि को सीमित करने का फैसला किया। एक विशाल बैठक आयोजित की गई और उलट दहेज तय करने की पूरी प्रक्रिया की छान बिन के बाद इस की राशि और साथ में दिए जाने वाले उपहार को कम करके तय किया गया। लोगों को इन तय किए गए मानकों पर सहमत कराना एक कठिन कार्य था। खेमचेस के दायरे के बाहर के ग्रामीणों ने स्वाभाविक रूप से इस सुधारात्मक कदम के पीछे के तर्क को मानने से इनकार कर दिया और इस पहल को असफल करने की पूरी कोशिश की। कई बार हम पंचायतों में अधिक उलट दहेज देने से इनकार कर वापस आ जाते थे। इससे अनिवार्य रूप से मामला पुलिस और दलालों के हाथ में चला जाता था। स्थानीय विधायक की अगुवाई में ये लोग खुश होकर खेमचेस का इस अभियान को असफल करने में लग गए। इसलिए निरंतर प्रयास के बावजूद, आखिरकार यह अभियान कुछ वर्षों के बाद ठप्प हो गया। अब उलट दहेज की मात्र इतनी बढ़ चुकी हैं कि कुछ क्षेत्रों में शादी करना लड़कों के लिए एक बहुत ही महंगा काम बन गया है और कभी-कभी शादी के बाद वे अपनी जमीन को गिरवी रख कर प्रवासी मजदूर बन जाते हैं।

अट्ठा में हमारे मुख्यालय के पास एक गाँव में विवाहेतर संबंध अत्यधिक होते थे। लगभग हर हफ्ते, गाँव के लोगों को इन विवादों को सुलझाने के लिए बैठे देखा जा सकता था, जिसमें दोषी को मामूली जुर्माना लेकर छोड़ दिया जाता था। अब जिस आदमी के पत्नी से किसी और आदमी ने अवैध संबंध किया था, वह केवल इस मामूली जुर्माना लेकर संतुष्ट नही होता था। को पलट वार करता था दोषी आदमी की पत्नी या अविवाहित बहन के साथ संबंध बनाकर। इसके बाद एक बार फिर पंचायत बैठता था और उस आदमी को भी जुर्माना लगाया जाता था और यह यौन प्रतिशोध का सिलसिला चलते रहता था। इस तरह से पूरा गाँव “पड़ोसन को पटाने” के एक भद्दे खेल में शामिल रहता था। बूढ़े लोग भी इसमें शामिल होते थे। पचास से अधिक उमर की एक आदमी था, जो लगातार गाँव की अन्य महिलाओं के साथ संबंध बनाता था और उन पर नियमित रूप से जुर्माना लगाया जाता था, लेकिन उनकी पत्नी हमेशा उनके प्रति सच्ची रही, एक बार भी किसी अन्य आदमी से संबंध नहीं बनायी। जब उनकी इस सती सावित्री पत्नी की मृत्यु हुई, तो इस व्यक्ति ने दूसरी शादी की। उसकी दूसरी पत्नी युवा थी और अन्य पुरुषों के लिए एक आसान शिकार थी। इस बूढ़े आदमी के ऐसे न होने देने के लाख कोशिशों के बावजूद, एक उद्यमी आदमी ने जल्द ही उसकी नई युवति पत्नी के साथ संबंध

बनाया। यह सुनिश्चित करने के लिए कि बूढ़े को अच्छी तरह सबक मिले, इस आदमी ने अपनी गर्दन को एक धारिया, एक प्रकार की धारदार हथियार, से थोड़ा सा काट लिया और फिर पुलिस स्टेशन में रिश्वत देकर एक झूठी शिकायत दर्ज कराई, कि बूढ़े व्यक्ति ने उसकी हत्या का प्रयास किया है और उसे गिरफ्तार करवाकर जेल में डाल दिया।

गाँव में उत्सव का माहौल बन गया क्योंकि आखिरकार बूढ़े को सबक सिखाया जा सका है और उसे जेल से रिहा कराने के लिए कोई नहीं गया। मैं उस समय एक आंदोलन के बाद जेल गया था और उस बूढ़े आदमी ने मुझे अपनी दर्द भरी कहानी सुनाते हुए मुझसे उसे जमानत पर रिहा करवाने के लिए विनती की। लगभग दो दशक बाद, जब मैं एक यात्रा पर अट्ठा गया तो पूछताछ करने के बाद मालूम पड़ा कि वह बूढ़ा मार चुका था। हालाँकि, मुझे बताया गया कि उनके गाँव में विवाहेतर संबंधों की परंपरा तब भी जारी था क्योंकि नई पीढ़ी भी उस नक्शे कदम पर चल रहा था। अन्य गाँव उतने बुरे नहीं थे लेकिन इस तरह के मामलों की लगातार होने की पुष्टी इस बात से होती है कि 1975 में आपातकाल के दौरान जिन पुरुषों की जबरन नसबंदी कर दी गई थी, बाद में उनकी पत्नियों को और भी बच्चे हुए थे। यही कारण है कि भील पुरुष नसबंदी कराना पसंद नहीं करते हैं, इस डर से कि उनकी पत्नियों को अन्य पुरुषों से वैसे भी अधिक बच्चे होंगे!

प्रेम आनंद और मनोरंजन की इस बेहतरीन तस्वीर को खराब करने के लिए कुछ बुरे लोग भी है और ये वही पुराने खलनायक हैं - दलाल और पुलिस। अन्य विवादों के मामले की तरह, पुलिस ने आदिवासियों के प्रेम संबंधों के विवादों में भी अपनी गंदी उंगलियां डाल दी हैं। भारतिय दंड संहिता के प्रावधानों के अनुसार, लड़की के साथ भागने वाले लड़के पर अपहरण और बलात्कार का आरोप लगाया जा सकता है, अगर लड़की पुलिस थाने में ऐसी शिकायत दर्ज कराती है। दलालों और पुलिस ने इसका इस्तेमाल किया। कभी-कभी, लड़की का परिवार पंचायत में विवाद को सुलझाने के बजाय, दलालों की बात सुनकर पुलिस में शिकायत दर्ज करता है। पुलिस लड़के को गिरफ्तार कर लेता है और लड़की को आतंकित कर उससे लड़के द्वारा अपहरण और बलात्कार किया गया है ऐसा बयान लिया जाता है। चूंकि भारत में बलात्कार की बढ़ती घटना गंभीर चिंता का कारण बन गई है, अदालतें इन मामलों में बेहद सख्त हैं, और लड़के को तब तक जमानत नहीं मिलती है जब तक कि मामले का निपटारा नहीं हो जाता है। आखिरकार, ज्यादातर मामलों में लड़की और लड़के के परिवार के बीच समझौता हो जाता है, जिससे लड़की और अन्य सभी गवाह अपने बयान लड़के के पक्ष में बदल देते हैं। लड़का बरी हो जाता है और उनकी शादी हो जाती है। लेकिन इस प्रक्रिया में दलाल, पुलिस और वकील मोटी रकम कमा लेते हैं।

इस तरह के मामलों में सबसे खतरनाक बात यह है कि जो लोग भागने वाले दंपति को किसी भी तरह की मदद करते हैं, वे सब भी अपराध में आरोपी बन जाते है अगर लड़की बाद में शिकायत दर्ज करती हैं कि उसका अपहरण कर उसके साथ बलात्कार किया गया है। मुझे याद है, एक बार अलीराजपुर में, एक युवा आदिवासी दंपति भागकर अट्ठा में हमारे कार्यालय में आए, क्योंकि लड़की के

माता-पिता उनकी शादी के विरोध में थे। सौभाग्य से लड़का और लड़की दोनों शिक्षित और कानूनी विवाह योग्य उम्र के थे, जो उन दिनों भीलों में दुर्लभ था। इसलिए, मैंने उन्हें अलीराजपुर जाने और एक नोटरी के सामने शादी का हलफनामा तैयार करने की सलाह दी। लड़की के माता-पिता, एक दलाल के साथ, इस बीच बखतगढ़ में पुलिस के पास गए और मांग की कि लड़के और संगठन के कुछ अन्य सदस्यों के खिलाफ अपहरण और बलात्कार की शिकायत दर्ज की जाए और मुझ पर भी यह इल्जाम लगाया जाए।

सौभाग्य से, इस संबंध में कानून को अच्छी तरह से जानते हुए, मैंने हमारे कार्यकर्ता को लड़के और लड़की के साथ अनुविभागिय अधिकारी पुलिस से मिलने और एक ज्ञापन सौंपने के लिए कहा था जिसके साथ विवाह का शपथ पत्र की प्रति संलग्न हो। अनुविभागिया अधिकारी ने बखतगढ़ पुलिस स्टेशन के अधिकारी को इस आशय का एक वायरलेस संदेश भेजा कि उसने लड़के और लड़की की बात सुनी है और संतुष्ट है कि यह दो वयस्कों के बीच प्रेम विवाह है और इसलिए लड़के के खिलाफ कोई शिकायत दर्ज नहीं की जानी चाहिए। मैं इस तरह मैं बाल बाल बच गया बलात्कार के आरोपी बनने से जब कि पहले ही मेरे ऊपर हत्या और हत्या के प्रयास के कई झूठे आरोप लगे हुए थे!

एक अन्य अवसर पर, वडोदरा कामदार यूनियन से जुड़े एक नुक्कर नाटक मंडली के दो सदस्यों ने गुजरात के वड़ोदरा में एक आर्य समाज मंदिर में शादी कर ली अपने परिवारों को बताए बिना। अलीराजपुर के हमारे एक युवा कार्यकर्ता ने उन्हें हमारे कार्यालय के कमरे में हनीमून बिताने के लिए आमंत्रित किया जब तक कि उनके परिवारों को इततेला कर मनाया नही जाता। उस निराशाजनक समय में, जब बांध के खिलाफ लड़ाई गर्दिश में थी, खेमचेस प्रेमी जोड़ों के लिए एक विवाह ब्यूरो में बदल गया था!

मैंने पूरे समूह को हमारे युवा मित्र की दरियादिली के कानूनी परिणामों के बारे में आगाह किया कि ऐसी परिस्थितियों में एक आर्य समाज विवाह का कोई कानूनी मूल्य नहीं होगा। गुजरात सरकार कहेगी कि उनके "जीवा डोरी" को विफल करने के हमारे प्रयास में निराश हम रावण जैसे उनके सीता का अपहरण करना शुरू कर दिया था! हमने दंपति को एक दूरदराज के गाँव में भेज दिया और तब बहुत राहत महसूस की जब लड़की के माता-पिता ने इस शादी को मंजूर कर ली। हत्या या हत्या का प्रयास जैसे आरोप लगना एक बात है, लेकिन औरतों का अपहरण और बलात्कार का आरोप लगना कुछ और बात है।

भीलों के लिए उनके त्योहार बहुत खुशी और मनोरंजन के माध्यम है। प्रमुख त्योहार भगोरिया है जो होली के ठीक पहले मनाया जाता है पूरे वर्ष के कृषि कार्य सम्पन्न होने के बाद। एक और महत्वपूर्ण त्यौहार है इंदल। इंदल वास्तव में प्राचीन भील अराजकतावाद की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति है। छोटे पारंपरिक भीली ग्रामीण समुदाय जीवन के लगभग सभी पहलुओं में घनिष्ठ सहयोग से बंधे हुए थे, जो कृषि कार्यों से शुरू होकर उनके सामाजिक समारोहों तक विस्तृत था। यह सहयोग तभी बरकरार रह सकता है जब परिवारों के बीच समानता हो। इसे सुनिश्चित करने की उनकी तरीका थी कृषि और

अन्य गतिविधियों से एकत्रित व्यक्तिगत अधिशेषों को समुदाय के बीच वितरित करना। इंदल पारंपरिक रूप से ऐसा करने का अवसर था। यह एक ऐसा उत्सव है जिसमें परिवार ईश्वर को धन्यवाद देता है उसकी मदद से प्राप्त संपन्नता के लिए। हर पांच साल में एक परिवार अपने कमाए हुए धन को समुदाय के बीच वितरित करता है एक दावत देकर। देवताओं की स्तुति में “गायना” या महाकाव्य इस समय तीन दिन और रात तक गाए जाते हैं; अंतिम रात में, लोग, विशेष रूप से युवा लड़के और लड़कियां, ढोल की थाप पर रात भर नृत्य करने के लिए एकत्रित होते हैं। सुबह में, वे दावत में भाग लेते हैं। इंदल के दौरान गाए जाने वाले गीतों की कहानी अलग-अलग जगहों पर अलग होती है, लेकिन वे सभी प्रकृति की विशालता और प्राकृतिक प्रक्रियाओं की ताकत का एहसास कराते हैं और इन के लिए श्रोता में एक सम्मान पैदा करते हैं।

प्रमुख गायक “गायन” और उनके साथी एक अंधेरे कमरे में दीपक के सामने बैठे, एक धीमे ताल में गाते हुए धीरे-धीरे ढाक की थाप पर अपने गाने की गति को बढ़ाते हैं जिसे सुनकर श्रोता एक अलग दुनिया में पहुँच जाते है जहां दैनंदिन प्रतिद्वंद्विताएं और इच्छाएं मायने नहीं रखती हैं। उस माहौल में तुरंत समझ आता है कि लालच और लाभ के आधार पर विकास से पारंपरिक भील समाज क्यों दूर रहा है जिसके लिए आधुनिक दुनिया के लोग इतने तरसते हैं। नर्मदा नदी से सटे अलीराजपुर के उन पहाड़ियों में बहुत शांति का अनुभव होता है। भले ही जीवन बहुत कठिन हो, लेकिन यह बहुत सरल है। लोग खुशी से खेती के मौसम में हर दिन अपने खेतों तक पहुंचने के लिए और बाद में अपने सिर पर कटे हुए फसल के भारी बोझ को घर लाने के लिए ऊंची पहाड़ियों पर चढ़ते उतरते है। "आधुनिक" दुनिया के साथ उनका अपरिहार्य संपर्क, जो अक्सर कुछ क्रूर स्थानीय सरकारी अधिकारी या लूटने वाले साहुकर के माध्यम से होता है, उनके लिए बहुत तकलीफदेह होता है। इसीलिए, गुस्से में, जलसिंधी के बावा ने एक बार एक बैठक में कहा कि जंगलों, नदियों और भूमि देवताओं का हैं जो उन्हें सौंपा गया है सुरक्षित रखने के लिए और सरकार को यह अधिकार नहीं है कि वह इस खजाने को अपने कब्जे में कर ले। खेमचेस के एक कार्यकर्ता ने इभाषण का हिंदी अनुवाद एक खुले पत्र के रूप में मुख्यमंत्री और प्रचार माध्यमों को भेज दिया। यह आज तक बांध के खिलाफ संघर्ष से उत्पन्न सबसे प्रामाणिक और स्पष्ट पारिस्थितिक बयान है।

युवा भीलों के पास, हालांकि, गायना सुनने के लिए बहुत कम समय होता है और वे प्यार, गायन और नृत्य का आनंद लेने में अधिक रुचि रखते हैं। इंदल का आयोजन वर्तमान में बहुत कम हो गया है क्योंकि भील परिवार शोषण के शिकार होकर अधिक कमाई नहीं करते हैं और वे अक्सर ऋणों के बोग़ से पीड़ित होते हैं। तो पहले के पांच साल की अवधि के स्थान पर, इन दिनों एक परिवार अपने घर के मुखिया के जीवनकाल में केवल एक इंदल कर पाता है। मिसाल के तौर पर, शंकर अपने खुद के एक इंदल मनाने में सक्षम नहीं है और आखिरी बार तब मनाया था जब उसके पिता जीवित थे। खेमला अपना खुद का इंदल मनाने में कामयाब रहे क्योंकि उसे संगठन से इसके लिए मदद मिली। यही कारण है कि जब सर्वेक्षण दल ने आँजनबारा का इंदल को बाधित किया, जो नौ साल के अंतराल

के बाद आयोजित किया जा रहा था, तो वहाँ के लोग बहुत नाराज हुए। लेकिन जब इंदल समारोह का आयोजन होता है तो वह बहुत भव्य होता है। अंतिम रात को बकरों की बलि देने का रिवाज है। इंदल का जश्न मनाने आए करीबी रिश्तेदार और पारिवारिक मित्र अपने अपने बकरियों को बलि के लिए लाते हैं। वे अपने ढोल भी लाते हैं। इस प्रकार, अंतिम रात नृत्य, गायन और दावत का एक शानदार प्रदर्शन है, जो इतना मनोरंजक है कि हज़ारों लोग दूर-दूर से इकट्ठा होकर इसमें शामिल होते हैं।

खेमचेस के शुरुआती वर्षों में, हम इस बात से चिंतित रहते थे कि आदिवासी आधुनिक आर्थिक और राजनीतिक प्रणालियों से इतने अनभिज्ञ थे कि उन्हें सरकार और प्रशासन के साथ बात चीत के लिए हम पर बहुत अधिक निर्भर रहना पड़ता था। इसलिए हम युवाओं के लिए दो-दिवसीय कार्यशालाएँ आयोजित करते थे जहाँ उन्हें आधुनिक राजनीतिक अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओं को समझाया जाता था। एक बार, अट्ठा में युवाओं के लिए सात दिवसीय कार्यशाला की योजना बनाई गई थी, क्योंकि हमने पाया कि दो दिन उन्हें ठीक से प्रशिक्षित करने के लिए पर्याप्त नहीं है। ऐसा हुआ कि पास के एक गांव में एक इंदल उत्सव चल रहा था और कार्यशाला के चौथे दिन अंतिम रात का उत्सव मनाया जा रहा था। रात के दौरान, सभी प्रतिभागियों ने इंदल जाने के लिए कार्यशाला स्थल से भाग गए और कभी वापस नहीं आए। यह था हश्र ऐसे लोगों का आधुनिकीकरण के हमारे प्रयास का जिनके खून में प्राचीन अराजकतावादी प्रवृत्तियां थीं! बेशक, हमने हार नहीं मानी और माचला स्थित आश्रम में सप्ताह भर चलने वाली प्रशिक्षण कार्यशालाओं का आयोजन शुरू किया जहाँ से कोई पलायन नहीं कर सकता था!

इंदल के दौरान गाये जाने वाले महाकाव्य की एक महत्वपूर्ण कड़ी देवी कंसरी की आराधना है। कंसरी भीलों के प्रधान अनाज ज्वार के प्रतीक हैं और इसलिए उनके जीवन दाता है। कंसरी की प्रार्थना यह सुनिश्चित करने के लिए बेहद महत्वपूर्ण है कि भविष्य की फसलें पहले की तरह ही भरपूर हों। इस देवी की महत्ता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि परंपरागत रूप से भीलों के बीच शपथ कंसरी माता या ज्वार माता के नाम से दी जाती है। शपथ लेने वाले को अपने हाथ में ज्वार के कुछ दाने लेकर शपथ लेनी होती है। मान्यता यह है कि कंसरी के नाम पर ली गई शपथ अगर पूरी नहीं की गई तो यह शपथ लेने वाले के लिए बुरा साबित होगा।

ऐतिहासिक रूप से, भीलों ने अपने आवास और पारंपरिक जीवन शैली को बनाए रखने के लिए बहादुरी से लड़ाई लड़ी थी, लेकिन समय के साथ, वे हार गए थे। बीसवीं शताब्दी के अंत आते तक वे नकली सिक्कों की तरह इधर उधर फेंके जाने की उनकी खोटी तकदीर को मान लिए थे जब बांध के खिलाफ संघर्ष शुरू हुआ था। प्रारंभ में, वे इस संघर्ष में शानदार रूप से आगे बढ़े लेकिन कुछ वर्षों के बाद उन्हें एहसास हुआ कि विस्थापन की पुरानी कहानी फिर से घटित होगी। इसलिए, बावा जैसे कुछ लोगों को छोड़कर, अधिकांश लोगों ने जो कुछ भी पुनर्वास प्राप्त कर सकते थे, जो इस संघर्ष के कारण दूसरे बांधों के विस्थापितों की तुलना में बहुत अच्छा था, उसे ले लिए। हालाँकि, संघर्ष के चरम पर भी, वे जानते थे कि बांध को रोका नहीं जाएगा। नबआ में एक प्रथा थी एक साथ खड़े होकर शपथ लेना

कि कोई भी अपने घरों और भूमि को नहीं छोड़ेगा भले कुछ भी हो - "डूबेंगे पर हटेंगे नहीं।" जब तक इन शपथों को खाली हाथ लिया गया, तब तक ज्यादातर लोग उन्हें लेने के लिए तैयार थे, लेकिन वे इन शपथों को कभी भी अपने हाथों में जवार के साथ कंसरी माता के नाम पर नहीं लिए।

भीलों का विश्वदृष्टि इस प्रकार भौतिकवादी है, जो उनके कृषि आधारित आजीविका पर बुना गया है। उनके देवता उनके निवास और आजीविका को संचालित करने वाली ताकतों के प्रतिनिधि हैं। वे व्यावहारिक लोग हैं जो उनके भौतिक आवश्यकताओं द्वारा शासित हैं। भीलों ने हिंदू उपनिषद के दार्शनिकों द्वारा कमोबेश समान भौतिक आधार से लिया गया आध्यात्मिक छलांग का अनुकरण नहीं किया था। प्राचीन हिंदू ऋषियों के आध्यात्मिक दर्शन को कठ उपनिषद में सबसे स्पष्ट रूप से चित्रित किया गया है, जो एक युवा राजकुमार नचिकेता की कहानी बताता है। अपने पिता द्वारा ब्राह्मणों को भेंट के रूप में बूढ़ी गायों को वितरित करने पर दुःखी होकर नचिकेता मृत्यु के देवता यम को खुद को बलिदान में दे देता है। जब नचिकेता वहाँ पहुँचता है तो यम घर पर नहीं होता है और युवा लड़के को उसकी वापसी के लिए तीन दिनों तक इंतजार करना पड़ता है। एक ब्राह्मण पुत्र को भोजन और पानी के बिना अपने घर के दरवाजे पर इंतजार करवाने के लिए शर्मिंदा होकर यम उसे तीन वरदान देते हैं, इंतज़ार के प्रत्येक दिन के लिए एक।

पहले वरदान के रूप में, नचिकेता ने यह मांगा कि पृथ्वी पर लौटने पर उनके पिता उन्हें पहचान कर स्वीकार करना चाहिए। यम इस वरदान को आसानी से दे दिया। फिर वह यम को उस आग के बारे में बताने को कहता है जो सभी दुख, भूख और प्यास से परे स्वर्ग की ओर ले जाती है और यह वरदान भी उसे प्रदान किया जाता है। लेकिन जब नचिकेता अमरत्व का रहस्य जानना चाहता है तो यम हैरान हो जाता है। वह लड़के को इसके बजाय ब्रह्मांड की पूरी संपत्ति प्रदान करने का पेशकश करता है। नचिकेता अपनी मांग पर अडिग रहता है और यम उसे अमरत्व के मार्ग के बारे में बताता है, जो उसके अनुसार उस्तरा की धार के समान तीक्ष्ण होता है जिसमें भोग करने के विपरीत उचित कार्य करना श्रेयस्कर होता है। एक सुंदर रूपक में यम कहते हैं कि व्यक्ति का शरीर एक रथ है जिसका स्वामी उसके अंदर बैठा हुआ आत्मा है। उसकी बुद्धि उस रथ की सारथी है और उसका दिमाग वह लगाम है जिससे वह इंद्रिय रूपी घोड़ों को नियंत्रित करता है ताकि वह लालच से भरी दुनिया के सड़कों पर संभलकर चलकर ज्ञान प्राप्त करता है। वह व्यक्ति जो अपनी आत्मा, बुद्धि, मन और शरीर को नियंत्रित कर इंद्रियों को सरपट दौड़ने से रोकता है, वह ही सच्चा ज्ञानी होता है!

यह भौतिक इच्छाओं के त्याग का उच्च आध्यात्मिकता है जो गांधीवादी राजनीतिक सिद्धांत और कार्रवाई का दार्शनिक आधार है। अतः भीलों की अराजक प्रकृति पूजक विश्वदृष्टि और गांधीवादी विचारधारा के बीच बहुत अंतर है। प्रकृति के प्रति प्यार और सम्मान के कारण भीलों ने संस्कृति और आजीविका की ऐसी प्रणाली विकसित किए है जो प्रकृति का दोहन को एक बिन्दु तक सीमित रखती है ताकि उसका विनाश न हो और वे अपनी भौतिक इच्छाओं को भी पूरी कर लें। गाँधीवादियों के अनुसार भौतिक इच्छाओं और उपभोग को पूरी तरह से नियंत्रित कर भौतिक विकास की जरूरत को

कम कर प्रकृति का विनाश रोका जाना चाहिए। स्वाभाविक रूप से, भौतिकवादी होने के कारण, भीलों ने अपने क्षेत्रों में घुसपैठ करने वालों के खिलाफ और उनकी संस्कृति के भौतिक आधारों - आदिम कृषि, पशुपालन और शिकार, को बचाने के लिए लड़ाकू संघर्ष किए है। दूसरी ओर, गांधीवादियों ने आध्यात्मिक विचार से प्रेरित होकर उत्पीड़कों के दिलों को जीतने के लिए अहिंसक प्रतिरोध पर बल दिए है। हम बाद में देखेंगे कि आधुनिक औद्योगिक विकास के खिलाफ लड़ने की तरीकों में यह भिन्नता के कारण किस प्रकार नबआ का प्रभाव नर्मदा घाटी के आदिवासियों पर कम हो गया।

इस महत्वपूर्ण अंतर के बावजूद, भीलों की अराजकतावाद और गांधीवाद के बीच एक समानता है उनके गांव और कृषि-उन्मुख और पर्यावरण-केंद्रित विश्वदृष्टि में जो "वसुधैव कुटुम्बकम" के सिद्धांत पर आधारित है। पूरी दुनिया में इस विश्वदृष्टि को धीरे-धीरे हाशिए पर डाल दिया गया है आधुनिक औद्योगिक विकास को बढ़ावा देने के लिए। आजकल अधिक उत्पादन और उपभोग करने की धारा है और इस प्रक्रिया में प्रकृति और इसके साथ सद्भाव में रहने वाले आदिवासियों को बर्बाद किया जा रहा है। लगातार बढ़ रहे उत्पादन को बेचने के लिए, पश्चिमी उपभोक्तावादी संस्कृति को टेलीविजन के कार्यक्रम, खेल प्रसारण और विज्ञापनों के माध्यम से दुनिया भर में लोकप्रिय बनाया जा रहा है। इसलिए छत्तीसगढ़ के गाँव के युवा तालाबों को गहरा करने के बजाय सूखे तालाबों में क्रिकेट खेलना पसंद करते हैं। 2003 में क्रिकेट विश्व कप के दौरान, देवास के एक गाँव की एक बूढ़ी भील महिला ने इस बात के लिए दुःखी थी कि भारत ऑस्ट्रेलिया से फाइनल मैच हार गया था। उसके गाँव में हो रही पारिस्थितिक विनाश से वे इतना चिंतित नहीं थे।

इसलिए जब सुभद्रा और मैं 1994 की शरद ऋतु में इंदौर पहुंचे, तो हम एक दूसरे के लिए प्यार। प्रकृति के प्रति प्यार और अपने साथी मनुष्यों के लिए प्यार में डूबे हुए थे पर फिर भी हमें चैन नहीं थी क्योंकि दुनिया के सत्तारूढ़ अभिजात वर्ग में इस तरह की प्यार की भावनाओं को फैलाने की हमें कोशिश करनी थी जो युद्ध करने पर आमादा थे।

बावा का भाषण (मुख्यमंत्री को एक पत्र में प्रेषित)

मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री महोदय, हम, जलसिंधी गाँव के लोग आपको यह पत्र लिख रहे हैं। हम नदी के किनारे रहने वाले लोग हैं। हम महान नर्मदा नदी के तट पर रहते हैं। इस वर्ष, हमारा गाँव जलसिंधी सरदार सरोवर बांध से डूबने वाला मध्य प्रदेश का पहला गाँव होगा। हम अपनी जान दे देंगे, लेकिन हम अपने गांव से नहीं जाएंगे। जब पानी हमारे गाँव में आएगा, जब हमारे घरों और खेतों में पानी भर जाएगा, तो हम भी डूब जाएँगे; यह हमारा दृढ़ संकल्प है। यह पत्र हम आपको यह बताने के लिए लिख रहे हैं कि जलसिंधी के आदिवासी किसान खुद क्यों डूबने की तैयारी कर रहे हैं। आप

और वे सभी जो शहरों में रहते हैं, सोचते हैं कि हम जो पहाड़ियों में रहते हैं, वे गरीब और पिछड़े हैं, वानर जैसे। "गुजरात के मैदानों में जाओ। तुम्हारी हालत सुधर जाएगी। तुम प्रगति करोगे" - यही आप हमें सलाह देते हैं। अगर यह सच है कि गुजरात में हमारी स्थिति में सुधार होगा, तो क्या बात है कि हम सभी वहां जाने के लिए तैयार नहीं हैं? हम पीढ़ियों से जंगल में रह रहे हैं। जंगल हमारे पोषक हैं। कठिन समय में हम जंगल में जाते हैं। हम अपने घर इसकी लकड़ी से बनाते हैं। इसकी बांस और घाँस से हम चटाई बुनते हैं। जंगलों से हम टोकरी और तख्त, हल और कुदाल, और कई अन्य उपयोगी चीजें बनाते हैं ... हमें विभिन्न प्रकार की घास मिलती हैं; और जब गर्मियों में घास सूख जाती है, तब भी हमें पत्ते मिलते हैं ... अगर अकाल पड़ता है, तो हम जड़ और कंद खाकर जी जाते हैं। जब हम बीमार पड़ते हैं, तो हमारे वैद हमें जंगल से पत्ते, जड़ें, छाल देकर स्वस्थ करते हैं। हम गोंद, तेंदू के पत्ते, बहेड़ा, चिरौंजी और महुआ बेचते हैं। जंगल हमारी माँ की तरह है; हम इसकी गोद में पले-बढ़े हैं। हम जानते हैं कि उसके स्तन पीकर कैसे जीना है। हम प्रत्येक पेड़, झाड़ी और जड़ी बूटी का नाम जानते हैं; हम उनके उपयोग जानते हैं। अगर हमें जंगलों के बिना रहने के लिए मजबूर किया जाएगा, तो यह सब ज्ञान जो हमने पीढ़ियों से पोषित किया है, वह बेकार हो जाएगा, और धीरे-धीरे हम यह सब भूल जाएंगे। नदी पर भी हमारी जीविका निर्भर है। नर्मदा के पेट में कई तरह की मछलियाँ हैं। जब अनपेक्षित मेहमान हमारे घर आते हैं तो मछली ही उनकी मेजबानी का साधन होता है। नदी ऊपर से गाद लाती है, जो तट पर जमा होती है जिससे कि हम सर्दियों में मक्का, ज्वार और साथ ही कई प्रकार के खरबूजे उगा सकें। हमारे बच्चे नदी के किनारे खेलते हैं, तैरते हैं और वहाँ स्नान करते हैं। हमारे मवेशी साल भर वहां पानी पीते हैं, क्योंकि नदी कभी सूखती नहीं है। नदी के पेट में, हम संतुष्टी भरी जीवन जीते हैं। हम कई पीढ़ियों से यहां रह रहे हैं; क्या इस नदी और हमारे जंगलों पर हमारा कोई अधिकार नहीं है? पहाड़ों, जंगलों और नदी के पास रहने के बाद, हम मैदानों में या शहरों में कैसे रह सकते हैं? आप शहर के लोग अलग अलग घरों में रहते हैं। आप एक-दूसरे की खुशियों और दुख को नजरअंदाज करते हैं। हम अपने कबीले, अपने रिश्तेदारों, अपने परिजनों के साथ रहते हैं। हम सभी अपने श्रम को साझा करते हैं और एक ही दिन में एक घर बनाते हैं, अपने खेतों में खरपतवार को नींदते हैं, और किसी भी छोटे काम को करते हैं जो सामने आता है। गुजरात में कौन हाथ बंटाने और हमारे काम को हल्का करने के लिए आएगा? क्या बड़े पाटीदार हमारे खेतों में खरपतवार नींदने या हमारे घर बनाने के लिए आएंगे? ... गुजरात में, अगर कोई समस्या के कारण हम परेशान होते है, तो हम अपनी परेशानियों के बारे में किसे बता सकते हैं? ... आप हमसे कहते हैं कि गुजरात में जमीन ले लें। आप कहते हैं कि हमारे नेता हमें उकसा रहे हैं, कि हमें उनकी बातों में नहीं बहना चाहिए ... हम उनकी बातों में नहीं बह रहे हैं। हम हमारी जमीन, हमारे जंगल, हमारी नदी और हमारे पशुधन की बातों में बह रहे है। वे हमें भटका रहे हैं। आप हमें गुजरात में जमीन लेने के लिए कह रहे है। आप हमें मुआवजा लेने के लिए कह रहे है। हमारी जमीनों के लिए, हमारे खेतों के लिए, हमारे खेतों के पेड़ों के लिए ... लेकिन आप हमारे जंगल की भरपाई कैसे करेंगे? ... आप हमारी नदी के लिए - उसकी मछली, उसके पानी, उसके किनारे उगने वाली सब्जियों के लिए, उसके बगल में रहने

की खुशी के लिए हमें कैसे मुआवजा देंगे? इसकी कीमत क्या है? ... हमारे देवता, और हमारे परिजनों का समर्थन - आप उस पर क्या कीमत लगाते हैं? हमारा आदिवासी जीवन - उस का आप क्या मूल्य आंकते हैं? गुजरात में जमीन हमें स्वीकार्य नहीं है। आपका मुआवजा हमें स्वीकार्य नहीं है। हम नर्मदा के पेट से पैदा हुए थे, और हम उसकी गोद में मरने से नहीं डरते। बारिश से पहले गर्मियों में, हमारा गांव पानी से भर जाएगा, और हम डूब जाएंगे। हम डूबेंगे, लेकिन हम नहीं हटेंगे।

- बावा महरिया

अध्याय 15 – उपेक्षित नारी शक्ति

1996 की सर्दियों में एक ठंडी सुबह, खरगोन जिले के राजना गांव की एक भील महिला नग्न होकर अपनी टूटी फूटी झोपड़ी के फर्श पर लेटी हुई थी। उसके बगल में, एक सिकुड़ा हुआ नवजात शिशु भी कांप रहा था। महिला ने पूरी रात वैसे ही लेटी हुई थी और उसकी दर्द खत्म नहीं हुई थी। उसके गर्भ में उसका जुड़वाँ बच्चे पैदा होने की प्रतीक्षा कर रहा था लेकिन पिछले तीन घंटों से अंदर कोई हलचल नहीं हुई थी क्योंकि बच्चा गर्भ के अंदर फंस गया था। महिला के नीचे की धरती रक्त और गर्भ के पानी से गीली थी, लेकिन न तो वह और न ही दाई इससे परेशान लग रही थी। तभी कस्तूरबा ट्रस्ट की चलित डिस्पेंसरी पास से गुजरी और उसे गांव के लोगों ने रोक लिया। हालांकि पांच नर्सें डिस्पेंसरी में मौजूद थीं, लेकिन उन्होंने उपकरणों की कमी के कारण मदद करने में असमर्थता व्यक्त की। जब ग्रामीणों ने महिला और बच्चे को बरवाह शहर स्थित प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र में ले जाने के लिए उन्हें कहा, तो उन्होंने पल्स पोलियो प्रतिरक्षण कार्यक्रम के तहत टीके लगाने के लिए अलग-अलग गांवों में जाने की जरूरत को देखते हुए अपनी असमर्थता जता दी।

दूसरी जीप में एक डॉक्टर वहाँ से गुजरा तो उसे भी ग्रामीणों ने रोका और मदद की गुहार लगाई पर उसने भी कहा कि हजारों बच्चों की जान दांव पर लगी थी और वह उनके टीकाकरण को नजर अंदाज कर एक महिला और बच्चे की खातिर उन्हें खतरे में नहीं डाल सकता था। आखिरकार, महिला के पति को एक साहूकार से अत्यधिक ब्याज दर पर पैसा उधार लेना पड़ा और उसे बरवाह ले जाने के लिए एक जीप किराए पर लेनी पड़ी। महिला बच गई लेकिन उसके जुड़वां बच्चे मर गए। परीक्षणों से पता चला कि महिला के खून में केवल 4 ग्राम प्रति डेसिलीटर हेमोग्लोबिन थी, जो खतरनाक रूप से कम थी क्योंकि उसका स्तर 12 या उससे ऊपर होना चाहिए था। स्पष्ट रूप से, स्वास्थ्य लाभ करना, जो विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार, पूर्ण मानसिक, शारीरिक और सामाजिक कल्याण की स्थिति है, गरीब आदिवासी महिलाओं के लिए विशेष रूप से प्रजनन स्वास्थ्य के मामले में एक कठिन लक्ष्य है।

1995 की गर्मियों में, जब मैं अपनी बीमारी के बाद माचला में स्वस्थ होने की प्रक्रिया में था और कुछ रिपोर्ट लिख रहा था, तब सुभद्रा ने बैठे रहने के बजाय, स्वेच्छा से इंदौर से लगभग पचास किलोमीटर दूर खरगोन जिले के बरवाह तहसील और देवास जिले की बागली तहसील में कस्तूरबा गांधी राष्ट्रीय स्मारक ट्रस्ट के लिए काम करने लगी। ट्रस्ट एक चिकित्सक के साथ एक चलित स्वास्थ्य क्लिनिक चलाता था और सप्ताह में तीन दिन क्षेत्र के गांवों का दौरा करता था। इसके अतिरिक्त इसने समय-समय पर तेरह दाईयों को बेहतर प्रसव तरीकों और बुनियादी चिकित्सा में प्रशिक्षण प्रदान किया था। ट्रस्ट ने उन्हें सौ रुपये का मासिक वजीफा देता था। सुभद्रा ने ट्रस्ट के दो महिला पर्यवेक्षकों के साथ काम करना शुरू किया जो वहां के एक गांव में रहती थीं। इस प्रकार, वह पहले से ही उस क्षेत्र और लोगों से परिचित थी जब हमने 1996 की शरद ऋतु में वहाँ के महिलाओं के साथ अपना संगठनात्मक काम शुरू करने का फैसला किया।

संघर्ष यात्रा की विफलता और उसके बाद के सरकारी दमन ने मध्य प्रदेश में पर्यावरणीय जन आंदोलनों के बढ़ते प्रभाव को धीमा कर दिया था। अलीराजपुर में काम करते वक्त काफी समय तक

यह मुझे परेशान किया करता था। मुझे माचला में जो खाली समय मिला मैंने उसका उपयोग हमारे द्वारा अपनाए गए तौर-तरीकों की समीक्षा करने के लिए किया। हम, पर्यावरण आंदोलनों के कार्यकर्ता, हमारी पारिस्थितिकीय समझ से कह रहे थे कि प्रकृति का संरक्षण केवल आधुनिक औद्योगिक विकास को त्याग कर ही संभव हो सकता है और साथ ही यह भी कह रहे थे कि इस विकास के कारण नकारात्मक रूप से प्रभावित लोगों की उनकी आजीविका को लेकर चिंताओं के बारे में भी सोचना आवश्यक है। इस प्रकार हम जिस पर्यावरणीय जन आंदोलन में भाग ले रहे थे, वह "गरीबों का पर्यावरणवाद" आधारित था जो भारत और पश्चिम के अमीरों के पर्यावरणवाद से अलग था। अमीरों का पर्यावरणवाद केवल राष्ट्रीय उद्यान और वन्यजीव अभयारण्यों में वन्य जीवों और वनस्पतियों को सुरक्षित रखने तक सीमित है और उनके निकट रहने वाले लोगों के प्रति उदासीन है।

अपने पिछले संघर्षों की समीक्षा से मुझे एहसास हुआ कि मार्क्सवादियों के विपरीत हमने राज्य की मजबूत शक्ति की ठीक से आकलन नही किया था और इसलिए राज्य दमन के विरुद्ध जवाबी लामबंदी में हम असफल रहे। इसके अलावा हमने महिलाओं के अपने अधिकारों और जरूरतों को भी नजरअंदाज कर दिया था।

आधुनिक नारीवाद की शुरुआत 1792 में मैरी वोलस्टोनक्राफ्ट के पुस्तक “विन्डिकैशन ऑफ द राइट्स ऑफ वुमेन” यानि महिलाओं के अधिकारों की पुष्टी के प्रकाशन के साथ हुई थी। यूरोपीय पुनरजागारण के कारण सदियों से धार्मिक रूढ़ीवाद से बंधे महिलाओं को मुक्ति मिली। पश्चिम में तब से महिलाओं की स्थिति में ठोस सुधार हुआ है। 1960 के दशक के बाद से नारीवाद की नई लहर अलग-अलग धाराओं द्वारा समृद्ध हुई है - उदारवादी, मार्क्सवादी, समाजवादी और प्रगतिशील। प्रगतिशील महिलवादियों ने पितृसत्ता की अवधारणा को स्थापित की - पुरुषों द्वारा बनायी गई महिलाओं के उत्पीड़न की संरचना, जो अब सर्वमान्य हो गया है।

गरीब पृष्ठभूमि से आने वाली अश्वेत महिलाओं ने इस यूरो-अमेरिकी नारीवाद को एक नया आयाम प्रदान किया जब वे इसकी आलोचना करते हुए इसे और समृद्ध किया। इसके साथ ही, तीसरी दुनिया की महिलाओं ने औपनिवेशिक और नव-औपनिवेशिक शोषण के ऐतिहासिक संदर्भ में अपने अनुभवों का विश्लेषण करके नारीवाद के दायरे को काफी बढ़ा दिया है। 1970 के दशक के मध्य में रोज़मेरी रुएथर की पुस्तक “न्यू वुमन, न्यू अर्थ” यानि नई महिला, नई धरती के प्रकाशन के साथ पारिस्थितिक नरीवाद का उदय हुआ। यह प्रकृति और महिलाओं के ऊपर पुरुष वर्चस्व और पुरुषों द्वारा निष्क्रिय वस्तुओं के रूप में उनके चित्रण को चुनौती देता है। उनका तर्क है कि दूसरों को नियंत्रित करने की प्रवृत्ति और इससे उत्पन्न होने वाली आक्रामकता पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण है जो पुरुषों और महिलाओं दोनों को गुलाम बनाती है। यह विचारधारा दुनिया भर में चल रहे पारिस्थितिकी और शांति आंदोलनों से उभरा है और वर्तमान में एकमात्र नारीवादी विचारधारा है जो विकास और शासन के प्रचलित ढांचा को अस्वीकार करता है।

महिलाओं की पहचान स्थापित करने के लिए वर्षों से किया गया यह सैद्धांतिक और व्यावहारिक कार्य के फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संगठन ने 1979 में “महिलाओं के खिलाफ सभी प्रकार के भेदभाव के

उन्मूलन का घोषणापत्र" को पारित कर महिलाओं के अधिकारों को सार्वभौमिक मान्यता दी। 1995 में, महिलाओं के प्रजनन अधिकारों को मान्यता दी गई और जनसंख्या नियंत्रण नीतियों में, जिसमें इससे पहले महिलाओं को उनके निर्णय के बिना नसबंदी के लिए लक्षित किया जाता था, परिवर्तन लाया गया। पूर्ण प्रजनन और यौन स्वास्थ्य की उपलब्धि के लिए महिलाओं द्वारा अपनी यौनिकता का आनंद लेने का महत्व को 1995 में बीजिंग में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय महिला सम्मेलन में पहली बार मान्यता मिली। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इन नीतिगत परिवर्तनों के कारण भारत सरकार ने भी महिलाओं के प्रजनन स्वास्थ्य और अधिकार के पक्ष में अपने पहले के लक्ष्य आधारित नसबंदी का जनसंख्या नियंत्रण कार्यक्रम को बंद कर दिया। विभिन्न देशों के पुरुष-प्रधान सरकारों ने उसके बाद से फिर से संयुक्त राष्ट्र को कोई अंतर्राष्ट्रीय महिला सम्मेलन के आयोजन करने से रोक दिया है।

स्वतंत्र भारत में महिला आंदोलन की शुरुआत 1970 के दशक के मध्य में पुरुष हिंसा के खिलाफ लामबंदी से हुई। बाद में यह आंदोलन ने सरकार की नीतियों की हिंसा के खिलाफ मोर्चा खोल दिया। , विकास नीतियों की आलोचना की गई क्योंकि उसके कारण महिलाएं आर्थिक रूप से सीमांतिकृत हो रही थी। महिलाओं के आंदोलन के कारण सरकार उनकी सुरक्षा के लिए कानूनों को लागू किया और उनके कल्याण के लिए नीतियों बनायी। पश्चिम की तरह, यहां भी, आंदोलन के भीतर बहुत सारे मतभेद हैं, लेकिन शुक्र है कि जब रणनीतिक विकल्प खोजने की बात आती हैं तो सहमति बन जाती हैं। सरकार की जनसंख्या नीतियों और विशेष रूप से 'डेपो प्रोवेरा' और 'नॉरप्लांट' जैसी हानिकारक गर्भ निरोधकों का इस्तेमाल और प्रजनन-रोधी टीकों के परीक्षण के खिलाफ संघर्ष हुए हैं। राजस्थान राज्य के देवराला में अपने पति की चिता पर विधवा को जलकर सती होना, राजस्थान में ही महिला विकास कार्यक्रम कार्यकर्ता भंवरी देवी का बलात्कार और संसद और विधानसभाओं में महिलाओं के लिए सीटों का आरक्षण जैसे मुद्दे भी उठाये गए। 1996 से, काहिरा में जनसंख्या सम्मेलन के बाद, महिलाओं के स्वास्थ्य सुनिश्चित करने की सोच में बदलाव के कारण जनसंख्या नियंत्रण के लिए नए लक्ष्य-मुक्त दृष्टिकोण के कार्यान्वयन शुरू हुई। महिलाओं के घटते लिंग अनुपात, जिसे "लापता भारतीय महिलाएं" करार दिया गया है, जैसी गंभीर समस्या पर नारीवादियों ने आवाज उठाई और इसके खिलाफ न केवल कानून बना है बल्कि उसका सख्ती से क्रियान्वयन भी कराया।

पितृसत्ता न केवल अधिकांश महिलाओं को घर पर रहने के लिए मजबूर करती है, बल्कि उनके द्वारा इसका आंतरिकीकरण उन्हें संगठित करना मुश्किल बनाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में, अशिक्षा और चिकित्सा का बुनियादी ढांचा की कमी और विशेष रूप से प्रजनन स्वास्थ्य सुविधाओं का अभाव के कारण समस्याएं अधिक जटिल है। स्वास्थ्य, एक ऐसा मुद्दा है जो सभी को प्रभावित करता है, जिससे इस मुद्दे पर महिलाओं को संगठित करना थोड़ा आसान हो जाता है और उन्हें अपने समाज के भीतर खुद की जगह बनाने में मदद मिलती है।

हालांकि, महिलाओं का स्वास्थ्य, पर्याप्त स्वास्थ्य सेवाओं के प्रदाय से कहीं अधिक जटिल मुद्दा है। इसके लिए श्रम सघन रोजगार का निर्माण, सभी प्रकार की सामाजिक असमानताओं का खात्मा, पारंपरिक और आधुनिक मिथकों के खिलाफ अभियान का संचालन और प्राथमिक और उच्चस्तरीय

सेवाओं से सज्जित एक व्यापक सामुदायिक स्वास्थ्य प्रणाली के माध्यम से गरीबी उन्मूलन के लिए एक बहु-आयामी कार्यक्रम की आवश्यकता है। यानि बड़े पैमाने पर संगठनात्मक कार्यों किए बिना मात्र सेवा प्रदाय से महिलाओं का स्वास्थ्य में सुधार लाना संभव नहीं है। यह कस्तूरबा ट्रस्ट के अनुभव से स्पष्ट है। पश्चिमी मध्य प्रदेश के मालवा और निमाड़ क्षेत्रों में ग्रामीण महिलाओं के लिए अनुकरणीय स्वास्थ्य और शिक्षा सेवाएं प्रदान करने का पचास साल के काम के बावजूद यह संस्था पितृसत्तात्मक संरचनाओं में कोई ठोस सेंध नहीं लगा पाई है।

महिलाओं की अस्वस्थता का प्राथमिक कारण समाज में उनकी निम्न औकात है, जो उन्हें जन्म से ही अधीनता की स्थिति में डाल देती है। लड़कियां आखिर में और सबसे कम खाना खाती हैं, अधिक काम करती हैं, कम पढ़ी-लिखी हैं और उन्हें कम उम्र से ही बच्चे पैदा करने पड़ते हैं। बीमार होने पर उन्हें अपर्याप्त चिकित्सा प्राप्त होती हैं और अक्सर उनका टीकाकरण नहीं होता हैं। जैविक रूप से महिलाओं की उम्र पुरुषों की तुलना में अधिक लंबी होने के बावजूद ग्रामीण इलाकों में, जहां लड़कों की तुलना में अधिक लड़कियों की मृत्यु होने की संभावना है, जनसंख्या में महिलाओं का लिंगानुपात कम हो गया है। उन्हें संपत्ति के अधिकारों का न होने के कारण बुढ़ापे में सहारा के लिए पुरुष संतान के लिए चाहत बनी हुई है। इसलिए महिलाएं बार-बार गर्भधारण और बच्चे को जन्म देने की तकलीफ से गुजरती हैं ताकि वे पर्याप्त पुरुष बच्चे पैदा कर सकें जो वयस्क होने तक बच सकें। कुपोषण, यौन स्वच्छता की कमी, बार-बार गर्भधारण, और अधिक काम करने से ज्यादातर ग्रामीण महिलाएं खून की कमी का शिकार हो जाती हैं और इसलिए वे अन्य बीमारियों से भी पीड़ित हो जाती है।

विकास का प्रचलित ढांचा महिलाओं के लिए विशेष रूप से निर्दयी है। संसाधनों के विनाश ने भोजन के पोषण स्तर में कमी लाने के साथ काम का बोझ बढ़ा दिया है। कृत्रिम रसायन आधारित, मशीनीकृत कृषि की शुरूआत ने पारंपरिक कृषि के उत्पादन प्रक्रियाओं में महिलाओं की जो यहां भूमिका और नियंत्रण थी उसे कम किया है। इस से पितृसत्तात्मक व्यवस्था और मजबूत हुई है। प्रवासी मजदूरी, चाहे मौसमी हो या स्थायी, ने अपरिचित परिवेश में महिलाओं को यौन हिंसा के शिकार बनाया है। पारंपरिक आजीविकाओं का खात्मा के साथ साथ इसके कारण बेरोजगार हुए महिलाओं को अनौपचारिक क्षेत्र में कम वेतन वाली नौकरियों में काम दिया गया है, जहां माहौल अस्वास्थ्यकर है और काम का बोझ अधिक है। समाज में हिंसा का सामान्य स्तर बढ़ गया है, जिससे उनके घरों से महिलाओं का बाहर निकलना बाधित हुआ है और रोजगार के अवसरों में कमी आई है।

प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं को पर्याप्त वित्तीय समर्थन नहीं मिला है और न ही सहभागी स्वास्थ्य प्रणालियों का विकास हुआ है। पल्स पोलियो कार्यक्रम जैसे विदेशी वित्त पोषित टीकाकरण अभियानों के अलावा, ग्रामीण आबादी को शायद ही कभी सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं से कोई प्रभावी चिकित्सा प्राप्त होती है। नतीजतन, गरीबों के लिए, शिशु मृत्यु दर, मातृ मृत्यु दर और रुग्णता स्तर अभी भी खतरनाक रूप से अधिक हैं। आधुनिक विकास की अवधारणा में एक आम मिथक के अनुसार, जनसंख्या वृद्धि गरीबी के लिए जिम्मेदार है और इसे मानकर सरकार ने 1970 के दशक में एक आक्रामक जनसंख्या नियंत्रण कार्यक्रम शुरू किया था जो महिलाओं को नसबंदी और विभिन्न

असुरक्षित और अस्वास्थ्यकर गर्भनिरोधक उपायों के उपयोग के लिए लक्षित करता था। 1996 के बाद से नसबंदी लक्ष्य-मुक्त प्रजनन स्वास्थ्य दृष्टिकोण की शुरुआत के साथ, जनसंख्या नियंत्रण और मातृ और बाल स्वास्थ्य सेवा में नीति के स्तर पर एक तथाकथित बदलाव हुआ है। हालाँकि, ग्रामीण क्षेत्रों में जमीनी हकीकत पहले की तरह ही बनी हुई है।

जब हमने इस क्षेत्र में काम करना शुरू किया, तो हमने पाया कि न केवल आदिवासी महिलाएं कई तरह के अत्याचारों को सह रही थीं, बल्कि विशेष रूप से प्रजनन स्वास्थ्य के क्षेत्र में, एक चुप्पी की संस्कृति मौजूद थी जिसके विरुद्ध हमें संघर्ष करना था। हम ने गाँवों का दौरा प्रारंभ किया और घर-घर जाकर महिलाओं से बात करने में कई सप्ताह बिताए।

चैनपुरा में पहली बैठक में सिर्फ पांच महिलाओं ने भाग ली और वे भी शुरू में कोई खास उत्साह नहीं दिखायी। पर जब योनि से सफेद स्त्राव जैसी विशिष्ट समस्याओं का उल्लेख किया गया तब एक महिला ने कही कि वह इससे पीड़ित थी और साथ ही कमर दर्द से भी। एक अन्य ने खुलासा किया कि जब भी वह कड़ी मेहनत करती है तो उसका गर्भाशय थोड़ा सा बाहर आ जाता है।

गोलनपाटी गाँव में उस समय दुर्भाग्य से बिजली नहीं थी। मालवा पठार के ऊपर, अमीर किसानों के खेतों में काम करने के लिए अधिकांश पुरुष और युवा अविवाहित महिलाएँ प्रवास पर चले गए थे। वे अपने इंजन से चलने वाले पंपों को चलाने के लिए डीजल के पैसे इस तरह से जुटाते थे ताकि वे अपनी सर्दियों की फसलों की सिंचाई कर सकें। एक छोटी बैठक के बाद, कुछ महिलाओं ने कनाड़ नदी में मछली पकड़ने का फैसला किया, जिसके लिए वे डवालिया नामक छोटे जाल को लेकर चल पड़ी। वहाँ के लोग इस प्रकार कभी कभी मछली के साथ अपने सरल आहार को बेहतर बनाते हैं।

आकीया गांव भी उस समय बिजली विहीन था। सुखड़ी नदी के तट पर स्थित इस गाँव के लोग पहले से ही डीजल प्राप्त कर चुके थे और गेहूं और चने की खड़ी फसल की सिंचाई में व्यस्त थे। एक बार फिर हमने महिलाओं के घरों और खेतों में जाकर उनसे मिलने में दिन बिताया। यहां के घर, खेतों पर होने के कारण, लगभग तीन किलोमीटर की दूरी पर बिखरे हुए हैं। बैठक में तीस से अधिक महिलाओं ने भाग लिया। उनमें से तेईस ने न केवल विभिन्न प्रकार की प्रजनन स्वास्थ्य समस्याओं की सूचना दी, बल्कि उपचार की भी मांग की। महिलाओं ने शिकायत की कि स्थानीय झोलछाप चिकित्सक उन्हें उनकी प्रजनन तंत्र की समस्याओं के लिए अप्रभावी इंजेक्शन देते है या गर्भाशय को निकाल देने का सुझाव देते है। सरकारी स्वास्थ्य कार्यकर्ता शायद ही कभी गांव का दौरा करते थे।

ओखला और चंदुपुरा के दो गांव एक साथ सटे हुए है और वहाँ एक एक हनुमान मंदिर है जिसमें पिछले पच्चीस वर्षों से लगातार रामायण का पाठ किया जा रहा है। इन दो गाँव में दलितों और आदिवासियों के घर है जो बिजली के पंपों और पाइपों का उपयोग करके कनाड नदी से सिंचाई के लिए पानी खींचते हैं। प्रारंभिक दौरे के दौरान, चंदुपुरा में एक महिला ने कही कि अगर हम उसे कुछ पैसे देंगे तो वे सभी महिलाओं को बुला कर एक बैठक करवा देगी! यहां, पहली बार, हम ऐसी महिलाओं से मिले जिन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि उनके शराबी पुरुषों की वासना और हिंसा ही उनकी अच्छे

स्वास्थ्य के लिए प्रमुख बाधा थी। उन्होंने एक स्वास्थ्य क्लिनिक लगाने की आवश्यकता जताई जिसमें विशेषज्ञ डॉक्टर द्वारा उनकी समस्याओं का निदान हो सके।

लिंबी जाट किसानों का गाँव है। मूल रूप से राजस्थान से आए है और गाँव में अधिकांश भूमि के मालिक हैं जिस पर दलित और आदिवासी मजदूर के रूप में काम करते हैं। जाट महिलाओं को व्यक्तिगत रूप से मिल कर बैठक में आने के लिए तैयार किया गया था लेकिन उनमें से कोई भी नहीं आई। जातिगत समीकरणों को ध्यान में रखते हुए उनके लिए एक अलग आयोजन किया गया था फिर भी वे नहीं आई। एक जाट महिला ने अपना मानसिक संतुलन खो दिया था क्योंकि बार-बार लड़कियों के जन्म देने के बाद लड़का पैदा करने के लिए उस पर बढ़ते दबाव को वह सह नहीं पायी। एक अन्य महिला की सत्तर साल के एक बूढ़े जाट से शादी हुई थी, जो बाद में मर गया था और यह युवा महिला विधवा होकर उसकी पांच साल की बेटी के साथ जी रही थी।

मुंडला में, जहाँ डांगि जाती के लोग लिम्बी के जाटों के जैसे ही वर्चस्व में थे, हमने पाया कि आदिवासियों और दलितों को मजदूरी के रूप में केवल बीस रुपये प्रति दिन मिल रहा था, जो उस समय के वैधानिक न्यूनतम वेतन से आधे से भी कम था। यहां शाम की बैठक में पुरुषों ने भाग लिया और कोई महिला नहीं आए। पुरुषों ने बातें सुनी और कहा "हा बहेनजी सच बहेनजी", लेकिन खुद की कोई टिप्पणी नहीं की। जब उन्हें विस्तार से बताया गया कि उन्हें अपनी महिलाओं के स्वास्थ्य के बारे में अधिक सचेत होनी चाहिए तब वे अपनी महिलाओं को सुबह होने वाली बैठक में भेजने का वादा किया लेकिन कोई भी महिला इसमें भाग लेने नहीं आयी।

पलसूद गाँव इन दो गाँवों के बीच स्थित है, और यहाँ के दलितों और आदिवासियों को पास के गाँव के जाटों और डांगियों द्वारा लगातार परेशान किया जाता है। जानलेवा झगड़े हुए हैं और पलसूद के दो दलित लोग लिंबी के जाट की हत्या करने के जुर्म में इंदौर जेल में आजीवन कारावास की सजा काट रहे थे। इस गाँव की महिलाओं ने उत्साह से बैठक में हिस्सा लिया और अपनी प्रजनन स्वास्थ्य समस्याओं के बारे में खुलकर बात की। पास में दो और गाँव हैं, बरगना और बड़खेड़ा, लेकिन इन दोनों में, बैठकें केवल चार या पाँच महिलाओं के साथ हुई। एक जाट महिला अपनी गोद में कपड़े की बेल्ट लगाकर घूमती थी ताकि गर्भाशय को बाहर आने से रोक सकें। वह गर्भाशय को निकालना चाहती थी लेकिन पास के सनावद कस्बा के निजी डॉक्टरों पर उसकी भरोसा नहीं थी, जहां अधिकांश अन्य महिलाओं ने अपने गर्भाशय निकलवाई थी। स्थानीय बोली में इसे "बड़ा ऑपरेशन" कहा जाता है ताकि इसे नसबंदी ऑपरेशन से फरक किया जा सके जिसे केवल "ऑपरेशन" कहा जाता है और जिसे सरकारी चिकित्सकों द्वारा परिवार नियोजन कार्यक्रम के तहत मुफ्त में किया जाता है।

गांवों का अंतिम समूह चोरल नदी के किनारे बसे हुए है। अरोनदा और कुंडिया गाँव नदी के पश्चिम में स्थित हैं, जबकि सेंधवा और करोंदिया गाँव पूर्व में स्थित हैं। सेंधवा गाँव में, उच्च जाति के ब्राह्मण और पाटीदार दलितों को सार्वजनिक हैंडपंप से पानी नहीं पीने देते है और उन्हें चोरल नदी का पानी पीना पड़ता है। बारिश के मौसम में गंदे पानी पीने से उपजी बीमारियों की वार्षिक महामारी इन लोगों को परेशान करती है। 1995 में, गैस्ट्रो-एंटरटाइटिस के कारण तीन मौतें हुईं। यहाँ भी, बैठकों में बहुत

कम महिलायें आई लेकिन जो भी आती थीं, वे प्रजनन स्वास्थ्य समस्याओं और अपने पुरुषों की असंवेदनशीलता की शिकायत करती थीं। उपसरपंच मुस्लिम समुदाय से था और उसकी पत्नी स्वयं हीमोग्लोबिन की कमी से पीड़ित थी, हालांकि उसका परिवार आर्थिक रूप से सक्षम था। उन्होंने व्यक्तिगत रूप से अपनी समस्याओं के बारे में बात की, लेकिन बैठक में नहीं आईं।

काटकुट गांव लगभग इस क्षेत्र के भौगोलिक केंद्र में स्थित है। साप्ताहिक बाज़ार होने और यहाँ सरकारी नागरिक औषधालय, बैंक, वन परिक्षेत्र कार्यालय और पुलिस चौकी होने के कारण, यह वाणिज्यिक और प्रशासनिक केंद्र था।

स्थानीय बाजार होने के नाते, यहाँ बहुत सारे व्यापारियों और साहूकारों का निवास है और उस समय, पाँच झोलेचाप चिकित्सक भी थे। एक डॉक्टर और एक कंपाउंडर के साथ एक सरकारी आयुर्वेदिक औषधालय भी था। इस औषधालय में बहुत कम दवा उपलब्ध थे और ज्यादातर डॉक्टर अपना समय एक समाचार पत्र पढ़ने या एलोपैथिक दवाओं से रोगियों का इलाज करने में खर्च करते थे। अन्य सरकारी स्वास्थ्य अधिकारी भी चोरी छिपे एलोपैथिक चिकित्सा कर रहे थे। विभिन्न विभागों में काम करने वाले सभी स्थानीय सरकारी कर्मचारी किराए से रहते थे। केबल दूरदर्शन और शराब की दुकानें - जिनमें एक लाइसेंसधारी थी और कई बिना लाइसेंस वाले गाँव का माहौल को शहरी बना रखा था। एक आधी पश्चिमी और आधी भारतीय मिश्रित संस्कृति हावी थी जो दूरदर्शन पर प्रसारित कार्यक्रम और विज्ञापनों से प्रसारित शहरी आकांक्षाओं पर आधारित थी। हालाँकि लोग अपने घरों में शौचालय निर्माण से परहेज कर सड़कों के किनारे शौच करना पसंद करते हैं। इस प्रकार, काटकुट से बाहर जाने वाली सभी सड़कें सुबह मल और मूत्र की बदबू से भरी रहती थी जब तक कि सुअर उन्हें खाकर साफ़ न कर दें। गांधीवादी सिद्धांत के अनुसार कस्तूरबा ट्रस्ट ने लोगों के लिए शौचालय और सोख गड्ढों के निर्माण के लिए सामग्री की आपूर्ति करने की पेशकश की अगर वे केवल अपने श्रम का योगदान देकर शौचालय बनवा लें। लोगों ने इस पर गौर नहीं किया और सड़कों के किनारे शौच करना जारी रखा। हमने इस गाँव में अपने काम की शुरुआत के समय एक किराए के मकान में निवास किया, क्योंकि हमें उस व्यक्त लोगों से पर्याप्त पहचान नहीं थी। गाँव में आदिवासियों के बीच बसने से पहले उनका विश्वास अर्जित करना था। कहने की जरूरत नहीं के हमें भी सुबह जल्दी उठकर अंधेरे में सड़क के किनारे शौच करना होता था!

जाटों के प्रभुत्ववाला is गाँव का वास्तविक सरपंच उस समय एक महिला थी पर सरपंच का सारा काम उसका पति करता था। काटकुट के जाटों को उनके अभिमानी और गंवार व्यवहार के कारण अन्य गांवों के उनके जाति के लोगों द्वारा कम सम्मान दिया जाता था और इसलिए पुरुषों को दुल्हन मुश्किल से मिलता था। एक युवा जाट महिला, चार बेटों के परिवार में एकमात्र बहू थी, ने शिकायत की कि उसका बार-बार गर्भपात हो जाता था और वह इसके इलाज के लिए हमारे पास पहुंची। उसकी सास, एक जबरदस्त महिला थी, जिसने अपने पिता की भूमि के खुद का हिस्सा अपने भाइयों के साथ लंबी कानूनी लड़ाई लड़ कर जीती थी। वह गाँव का पंच थी और उन्होंने हमें आगाह किया कि इस गाँव में पुरुषों का इतना बोलबाला है कि हम कुछ भी हासिल नहीं कर पाएंगें। यहां की

महिलाएं, चाहे वे अपेक्षाकृत अच्छे घरों से हों या बेहद गरीब आदिवासी और दलितों में से, सभी पितृसत्तात्मक उत्पीड़न से त्रस्त थी। मध्यप्रदेश सरकार के महिला नीति दस्तावेज में महिला सशक्तीकरण की तमाम बयानबाजी और नीतियों के बावजूद, हमारे शुरुआती दौरे से जो सच्चाई सामने आई वह यह थी कि इस क्षेत्र की महिलाएं अपने परिवारों, समाज और सरकार से बहुत ज्यादा उपेक्षा झेलती थीं। अतः सचमुच ये उपेक्षित महिला शक्ति के उदाहरण थी।

अध्याय 16 - जंगल में मंगल

हम अगर आदिवासियों के बीच संगठन के कार्यकर्ता के रूप में खुद को पेश करते तो काटकूट के गैर-आदिवासी लोग और सरकारी कर्मचारी हमें संदेह से देखते, इसलिए हमने खुद को कस्तूरबा ट्रस्ट के कार्यकर्ता होना बताया। निमाड़ और मालवा के वन क्षेत्र में, जहां काटकुट स्थित था, अंग्रेजों ने खेती विकसित किए थे राजस्थान से जाटों और दलितों को लाकर वहां बसाकर। इस प्रकार काटकूट की समाज व्यवस्था में शीर्ष पर जाट थे, मध्य में दलित और सब से नीचे आदिवासी। इस प्रकार व्यापारियों और सरकारी नौकरों के अलावा यहाँ के गाँवों में एक शक्तिशाली गैर आदिवासी शोषक वर्ग की भी उपस्थिति थी। वे राज्य में आदिवासी लामबंदी की बढ़ती ताकत से सतर्क थे और हमारी गतिविधियों का दृढ़ता से विरोध करते अगर उन्हें मालूम पड़ता कि हम संगठन बनाने आए है।

स्वास्थ्य शिविरों के आयोजन के द्वारा इस क्षेत्र में महिलाओं को संगठित करने की हमारी शुरुआती योजना सफल नहीं हो पायी। महिलाएं बैठकों में अपनी समस्याओं के बारे में बात करने से कतराती थीं। अंत में, उनमें से एक ने उनकी चुप्पी के पीछे का कारण साझा किया: अधिकांश परिवारों के बीच मन मुटाव था और महिलाएं अपनी बीमारियों को सार्वजनिक करने से डरती थीं क्योंकि इस जानकारी का दूसरों द्वारा उनके खिलाफ इस्तेमाल किया जा सकता है।

सुभद्रा को एक बार ओखला की एक महिला ने सरकारी सहायक नर्स है ऐसा समझकर अपना काम ठीक से न करने के लिए डांट पिलायी। ओखला की इस महिला की बरवाह के प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र में प्रसव के दौरान योनि फट गई थी और उसे टांके लगाने पड़े थे। स्थानीय सरकारी नर्स बाद में टांके काटने में सक्षम नहीं थी और इस महिला को टांके को कटवाने के लिए बड़वाह जाना पड़ा।

इसी तरह आकीया गाँव के बंसी ने पूछा कि अगर वह उसकी स्वास्थ्य समस्याओं को हल करने के लिए चिकित्सकीय रूप में सक्षम नहीं है तो अपनी समस्या के बारे में सिर्फ बात करने से क्या फायदा? वह तीन साल पहले जटिल परिस्थितियों में अपने चौथे बच्चे को जन्म देने के बाद से बीमार हो गई थी। हर जगह, महिलाओं ने आग्रह किया कि प्रजनन स्वास्थ्य कार्यशालाओं को आयोजित करने के बजाय उचित चिकित्सा उपलब्ध कराई जाए। महिलाओं ने इंदौर से महिला स्त्रीरोग विशेषज्ञों द्वारा जांच की मांग की। बरवाह के सरकारी स्वास्थ्य केंद्र के स्त्री रोग विशेषज्ञ ने इन दूरस्थ आदिवासी क्षेत्रों में कभी आई ही नहीं थी।

सरकारी स्वास्थ्य सेवाएं खराब स्थिति में थीं। आमतौर पर आवश्यक दवाओं और कर्मचारियों की कमी थी। उदाहरण के लिए, 1996 में छह महीने के लिए बरवाह के प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र में लोहे और फोलिक एसिड की गोलियां उपलब्ध नहीं थीं। बागली तहसील में, ये उपलब्ध थे, लेकिन इन्हें वितरित करने के लिए कोई कर्मचारी नहीं था। गाँव में कोई प्रसव पूर्व चिकित्सकीय देखभाल की व्यवस्था थी ही नहीं। हालाँकि, जहाँ तक अभिलेखों की बात है, तो उसमें सब कुछ अच्छा बताया जा रहा था। हमारी जांच से पता चला है कि सरकारी ग्राम-स्तरीय कार्यकर्ता झूठी रिपोर्ट जमा कर रहे थे; कुछ मामलों में वे दूरदराज के क्षेत्रों की यात्रा ही नहीं करते थे जहां उन्हें पैदल पहुंचना होता था।

नसबंदी के लक्ष्यों को पूरा किया गया है या नहीं इसकी जांच करना में प्रजनन स्वास्थ्य सेवाओं के प्रदाय की निगरानी से और आसान है। इसलिए वर्षों से, मध्य प्रदेश में बरवाह में और संभवतः अधिकांश अन्य ग्रामीण इलाकों में भी स्वास्थ्य अभिलेखों का वास्तविक स्थिति से कोई संबंध नहीं है। फिर भी, जब पोलियो उन्मूलन या नसबंदी अभियान जैसे कार्यक्रम की बात आती है, तो उत्साह या संसाधनों में कोई कमी नहीं होती है।

कस्तूरबा ट्रस्ट न्यूनतम स्तर पर एक सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यक्रम चला रहा था, जिसके तहत कुछ सामुदायिक कार्यकर्ताओं ने गांव के दाई के साथ मिलकर लोगों को स्वास्थ्य जागरूकता में सुधार लाने के लिए प्रेरित करते थे। वे गांवों में बीमारियों की जानकारी रखते थे और बीमार लोगों को चालित अस्पताल तक ले आते थे। यह योजना बहुत कुछ हासिल नहीं कर पायी क्योंकि सामाजिक बाधाओं के कारण महिलाओं तक पहुँच नहीं बनी और कार्यकर्ता भी पर्याप्त प्रशिक्षित नहीं थे। यह उनके लिए एक आश्चर्य की बात थी कि पिछले दो वर्षों से नसबंदी की लक्ष्य मुक्त नीति अपनायी गई थी। उन्होंने यह भी कही कि नसबंदी का लक्ष्य हटाना सरकार की ओर से एक बहुत ही गलत कदम है!

बुनियादी ढाँचे की कमी और इस मानसिकता के कारण कि आजीविका की समस्याओं की तुलना में महिलाओं की स्वास्थ्य एक मामूली समस्या थी हमें जल्द ही अपनी योजनाओं को बदलना पड़ा। हमने स्वास्थ्य के बुनियादी ढांचे के लिए स्थानीय संसाधनों की खोज की क्योंकि इसे स्वयं स्थापित बहुत खर्चीला था।

1996-97 की सर्दियों में तीन प्रजनन स्वास्थ्य शिविर आयोजित किए गए थे। पलसूद गाँव में पहले आयोजन के लिए काफी तैयारी की आवश्यकता थी। निरीक्षण टेबल का निर्माण किया जाना था। कस्तूरबा ट्रस्ट के मोबाइल क्लिनिक में कोई भी प्रसूति यंत्र नहीं था, इसलिए इन्हें और दस्ताने का जुटाना पड़ा। इंदौर के स्त्री रोग विशेषज्ञों से संपर्क करना पड़ा। बड़वाह के स्वास्थ्य केंद्र से एक रोगविज्ञानी की सेवाओं के लिए अनुमति लेनी पड़ी। पलसूद में स्कूल भवन को साफ कर उसमें अस्थायी रूप से विद्युतिक प्रकाश की व्यवस्था करनी पड़ी। अंत में स्वास्थ्य शिविर काा आयोजन सफल रहा। तीन स्त्रीरोग विशेषज्ञ, एक चिकित्सक और एक बाल रोग विशेषज्ञ ने अस्सी से अधिक रोगियों की जांच कर इलाज किया। इसके बाद, ओखला और कुंडिया में अन्य दो शिविर भी आसानी से आयोजित किया गया। ओखला के शिविर में एक सौ से अधिक रोगियों का इलाज किया गया। कुंडिया में शिविर में केवल चालीस मरीज थे क्योंकि आस-पास के गांवों के कुछ प्रभावशाली गैर-आदिवासियों ने इस आयोजन का विरोध किया। काफी संख्या में महिलाएं प्रारंभिक जांच के लिए आने के बाद शारीरिक परीक्षण के समय गायब हो गईं। पर कुल मिलाकर जंगल में मंगल का यह प्रजनन स्वास्थ्य कार्यक्रम सफल रहा।

और भी चौंकाने वाले खुलासे शिविरों के बाद में हुई। सफेद स्राव के इलाज के लिए कुछ महिलाओं को योनि में डालने के लिए गोलियां दी गई थी और चिकित्सकों ने योनि के उल्लेख के बिना उन्हें "अंदर" रखने के लिए काही थी। कई महिलाओं ने सोचा कि यह कुछ टोटका है और गोलिओं को योनी के अंदर रखने के बजाय पेटी के अंदर रख दी। जब हम बाद में यह देखने के लिए घूम रहे थे

कि महिलाओं ने ठीक से दवा ली है या नहीं तब एक महिला हम पर भड़क उठी और बोली, "मुझे ऐसे लफड़े नहीं चाहिए, मेरे नाम तुमहारी चोपड़ी से काट दो"।

जहां तक महिलाओं के प्रजनन स्वास्थ्य की बात है, तो स्थानीय झोला छाप चिकित्सक बेहद खतरनाक भूमिका निभा रहे थे। शुरुआत में, वे उनके पास इलाज के लिए पहुंची महिलाओं को एंटीबायोटिक इंजेक्शन और दर्द निवारक दवाएं देते थे। जब यह सफल नहीं होता था तो वे महिलाओं को गर्भाशय को निकालने की सलाह देते थे। यह चिकित्सक सनावद और इंदौर में उन स्त्री रोग विशेषज्ञों के लिए दलाली करते थे जिनके पास निजी क्लीनिक थे। आकीया की कुसमा बताई कि एक अवसर पर, उसे पांच अन्य महिलाओं के साथ, जो विभिन्न प्रकार के दर्द की शिकायत कर रही थीं, काटकूट के एक चिकित्सक द्वारा सनावद ले जाया गया था, स्त्री रोग विशेषज्ञ के पास। सभी पांचों को गर्भाशय निकालने के लिए कहा गया था। कुसमा को तब बहुत राहत मिली जब ओखला क्लिनिक के डॉक्टर ने उसे बताया कि वह अम्लता और उच्च रक्तचाप से पीड़ित थी, और उसे गर्भाशय निकालने की कोई आवश्यकता नहीं थी। यह अनधिकृत चिकित्सकों ने असुरक्षित गर्भपात सेवाएं भी प्रदान करते थे जिसके कारण काटकुट की एक महिला की मृत्यु हो गई थी।

आमतौर पर, महिलाएं इस बड़ा ऑपरेशन से गुजरने के बाद भी दर्द और सफेद सराव से पीड़ित रहती हैं, हालांकि योनि में डालने वाली गोलियां कुछ सुधार होता है। एक और समस्या महिलाओं के योनि के बहुत अधिक खुल जाने की थी जो बार-बार होने वाले प्रसव से अधिक विस्तारित हो गई थी। इसलिए जब वे एक उकड़ू बैठकर काम करती है और फिर उठती है तो हवा योनि में चूसा जाता है जो फिर से बैठने पर आवाज के साथ बाहर निकल आती है। कई महिलाओं को पेट में दर्द और चक्कर आने की शिकायत थी। उनकी समस्याओं को अम्लता और उच्च रक्तचाप के रूप में निदान किया गया था। हमने पाया कि अक्सर उनका आहार में नमक और गर्म मिर्च की अधिकता थी और वे पानी कम पीते थे। कम पोषण स्तर के साथ इस प्रकार भोजन से अम्लता और उच्च रक्तचाप होना निश्चित है। सुभद्रा ने एक महिला को प्रतिदिन सुबह सबसे पहले एक लीटर पानी पीने का सुझाव दिया। उसने कही, "जब मुझे प्यास नहीं लगती तो मुझे इतना पानी क्यों पीना चाहिए?"

एक अन्य मामले में, हमने खुजली से प्रभावित एक लड़के को एक दवा बतायी जो उसके माता-पिता को काटकुट से खरीदनी थी। इस बीच, हमने उन्हें लड़के के शरीर पर नीम की पत्तियों का पेस्ट लगाने की सलाह दी ताकि उसे अस्थायी राहत दी जा सके। पांच दिन बाद जब हम उस बस्ती में वापस गए, तो हमने पाया कि न केवल वह लड़का बदतर स्थिति में था, बल्कि कुछ अन्य बच्चें भी खुजली से संक्रमित हो गए थे। काटकुट में दवा उपलब्ध नहीं थी और हमें इसे इंदौर से मंगवाना पड़ा। आदिवासियों के बीच, खुजली महामारी जैसे फैल जाती है क्योंकि वे खुद को ठीक से साफ नहीं करते हैं और शायद ही कभी उपयुक्त दवाएं लेते हैं।

कुछ गंभीर मामले थे जैसे बवासीर, मूत्राशय में पथरी, संभावित गर्भाशय ग्रीवा के कैंसर जिसके लिए इंदौर में विस्तृत जांच और उपचार की आवश्यकता थी, लेकिन मरीज बहुत गरीब थे। शिविरों में तपेदिक के तीन मामले सामने आए। ये लोग निजी चिकित्सकों से बहुत अधिक खर्च कर इलाज

करवा रहे थे। वे इस बात से अनजान थे कि सरकार का एक तपेदिक उन्मूलन कार्यक्रम है, जो मुफ्त इलाज प्रदान करता है। इनमें से एक मरीज काटकुट का था, फिर भी उसे अपने गाँव में अक्टूबर 1996 में आयोजित एक तपेदिक उन्मूलन शिविर का पता नहीं लगा। जब उन्हें आखिरकार हमसे पता चला, तो उन्होंने पंजीकरण और उपचार के लिए कुंडिया शिविर तक आने के लिए बारह किलोमीटर पैदल चलने की परेशानी उठाई। इस प्रकार, केवल दवा ही उन स्वास्थ्य समस्याओं का समाधान नहीं है जिनसे महिलाएं पीड़ित हैं। वर्षों से एंटीबायोटिक दवा का इन्जेक्शन देकर और अंतःशिरा ड्रिप के द्वारा नमक पानी देकर तत्काल राहत पहुंचाने की संस्कृति ने लोगों की खुद अपना उपचार करने की क्षमता को नष्ट कर दिया है। नतीजतन, रोगी तत्काल चिकित्सा समाधान चाहते हैं और उनकी समस्याओं के कारण को समझकर सही इलाज के लिए इंतज़ार करना नहीं चाहते हैं।

लोगों के साथ हमारी बातचीत और क्लीनिक के अनुभव की समीक्षा करके हमें लगा कि महिलाओं पर पितृसत्ता के बहुत अधिक बोझ है, खासकर शादी के बाद। हमने महिलाओं की स्वास्थ्य समस्याओं और पितृसत्ता से उनके संबंधों का निर्धारण करने के लिए एक प्रजनन स्वास्थ्य सर्वेक्षण करने का निर्णय लिया। हालाँकि, हमें पहले "सर्वेक्षण थकान" से जूझना पड़ा। सरकारी एजेंसियों और कस्तूरबा ट्रस्ट द्वारा किए गए कई सर्वेक्षणों ने लोगों को इनके प्रति उदासीन बना दिया था। जमीनी स्तर पर स्वास्थ्य कार्यकर्ता सिर्फ झूठे आंकड़ें पेश कर रहे थे। इसके अलावा, शायद ही कभी किसी सर्वेक्षण के उत्तरदाता इसकी संरचना के आकल्पन में शामिल होते हैं या ऐसे सर्वेक्षणों के नतीजों के आधार पर अपनाए जाने वाले नीतिगत निर्णयों में शामिल होते हैं।

हालांकि, जब सर्वेक्षण एक छोटी सी स्थानीय आबादी में किया जाता है, एक विशिष्ट समस्या के बारे में उनसे ली गई जानकारी के आधार पर उत्तरदाताओं को तत्काल राहत प्रदान करने के इरादे से, तब नैतिकता का सवाल नहीं उठता है। महाराष्ट्र के गढ़चिरौली जिले में खोज परियोजना द्वारा किए गए एक ऐतिहासिक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है। हमारा सर्वेक्षण इस श्रेणी में था। फिर भी, हमने महिलाओं के साथ विस्तृत चर्चा की ताकि प्रश्नावली के सर्वोत्तम आकल्पन हो सके ताकि उनका पूर्ण सहयोग मिल सके। इंदौर में कस्तूरबा ट्रस्ट द्वारा संचालित हाई स्कूल में अध्ययनरत 15-18 वर्ष आयु वर्ग की किशोरियों द्वारा अप्रैल 1997 के पहले सप्ताह में सर्वेक्षण किया गया था। इससे पहले, इन लड़कियों के लिए तीन दिवसीय कार्यशाला आयोजित की गई थी। पहले दिन लड़कियों को यह बताया गया था कि महिलाओं को पितृसत्ता द्वारा किस हद तक प्रताड़ित किया जाता है। यह उन्हे व्याख्यान देकर नहीं किया गया था बल्कि लड़कियों को अपने ही परिवेश में महिलाओं के साथ होने वाले विभिन्न प्रकार के अन्याय का विश्लेषण करवाकर किया गया था। दूसरा दिन मानव शरीर और विशेष रूप से प्रजनन प्रणाली को समझाने के लिए समर्पित था। तीसरे दिन लड़कियों को सर्वेक्षण क्षेत्र में महिलाओं द्वारा भोगी जा रही प्रजनन संबंधी स्वास्थ्य समस्याओं की जानकारी दी गई और उन्हें सर्वेक्षण करने में प्रशिक्षित किया गया।

कार्यशाला में पता चला कि युवा लड़कियां उन पितृसत्तात्मक तरीकों के प्रति बिल्कुल भी संवेदनशील नहीं हैं जिनसे महिलाओं को समाज में लगातार कमज़ोर की जाती हैं। ओवरहेड प्रोजेक्टर की सहायता

से प्रजनन प्रणाली का वर्णन करने के लिए सुभद्रा द्वारा आयोजित एक खुली चर्चा में दूसरे दिन बहुत विरोध हुआ। लड़कियां यौन विषयों पर चर्चा नहीं करना चाहती थीं यद्यपि इन के बारे में ज्ञान की कमी के कारण महिलाओं को गंभीर प्रजनन स्वास्थ्य समस्याएं झेलनी पड़ती हैं। ये लड़कियां ज्यादातर मध्यम और उच्च मध्यम वर्ग से थी और उन सभी को मासिक धर्म के बारे में गलत धारणाएं थीं। इन भ्रांतियों को हिंदू समाज में मासिक धर्म से जुड़े विभिन्न मिथकों द्वारा और प्रबल किया जाता है। न केवल प्रजनन स्वास्थ्य के मुद्दों पर, बल्कि महिलाओं की व्यापक रुग्णता में योगदान करने वाले सामाजिक कारकों के बारे भी किशोरी लड़कियों को संवेदनशील बनाने की तत्काल आवश्यकता है।

सर्वेक्षण का उद्देश्य प्रजनन करने वाले आयु वर्ग की महिलाओं में प्रजनन स्वास्थ्य समस्याओं की व्यापक जानकारी प्राप्त करना था। हमने सर्वेक्षण का उपयोग पितृसत्ता के प्रभाव के बारे में अपनी परिकल्पना का परीक्षण करने के लिए किया था। परिकल्पना यह थी कि पितृसत्ता के घातक प्रभावों के के कारण महिलाओं के प्रजनन स्वास्थ्य खराब थी और यह केवल गरीबी का परिणाम नहीं थी एवं विवाहित महिलाओं में पितृसत्ता का दूषप्रभाव अधिक था। सर्वेक्षण प्रश्नावली में 15-45 वर्ष आयु वर्ग की महिलाओं के प्रसव और शिशु मृत्यु की संख्या और विवाह की उम्र जैसे मापदंडों के बारे में पूछा गया था। 15-45 वर्ष आयु वर्ग में महिलाओं के हीमोग्लोबिन प्रतिशत का भी हेमोमीटर का उपयोग करके परीक्षण किया गया था।

यद्यपि तेरह गांवों में सभी महिलाओं का सर्वेक्षण कराने की योजना बनाई गई थी, लेकिन कुछ महिलाओं ने सर्वेक्षण में भाग लेने से इनकार कर दिया। लिंबी और अरोनदिया गाँव, के सवर्ण जाति की आबादी को नियंत्रण समूह के रूप में चुने गए थे इस परिकल्पना का परीक्षण करने के लिए कि प्रजनन स्वास्थ्य संबंधी समस्याएं पितृसत्ता से संबंधित थीं न कि केवल गरीबी से। अन्य नियंत्रण समूह अविवाहित मासिक धर्म शुरू हुई 15 वर्ष से अधिक उम्र की लड़कियों का था इस परिकल्पना का परीक्षण करने के लिए कि अविवाहित महिलाओं की तुलना में विवाहित महिलाओं पर पितृसत्ता के प्रभाव अधिक थे।

सुभद्रा, मैं और कस्तूरबा ट्रस्ट के एक डॉक्टर ने सर्वेक्षण के आयोजन को संभाला। यह एक मुश्किल काम था क्योंकि यह क्षेत्र उचित सड़कों के बिना एक पहाड़ी इलाका है और हेमोमीटर और नर्सों को समय पर चारों ओर ले जाना पड़ता था।

ग्रामीणों और सर्वेक्षण दल के सदस्यों ने पूरे आयोजन का भरपूर आनंद लिया। केवल तीन हैमोमीटर के साथ, 15 साल से अधिक उम्र की अट्ठाईस अविवाहित लड़कियों के अलावा, ग्यारह गांवों में 168 महिलाओं के हीमोग्लोबिन का स्तर निर्धारित किया गया था।

परिणामों ने चौंकाने वाली तस्वीर पेश की। 84.7% महिलाएँ किसी न किसी प्रजनन स्वास्थ्य समस्या से पीड़ित थीं, 49.1% योनि स्राव से पीड़ित थीं और 45.4% उच्च रक्तचाप की वजह से चक्कर आने से पीड़ित थीं। 65% महिलाओं ने कमर दर्द की शिकायत की। 6.8% महिलाएं यौनिक संक्रमण वाली बीमारी से पीड़ित थीं, जो कि वेश्यावृत्ति रहित ऐसे सुदूर ग्रामीण क्षेत्र के लिए काफी अधिक थी।

औसतन, किसी एक महिला का रुग्णता सूचकांक, यानि एक साथ होने वाली बीमारियों की संख्या, 3.1 से अधिक थी। आदिवासी महिलाओं के लिए, यह उच्चतम 3.5 था जबकि दलित महिलाओं के लिए 2.6 और अन्य जाति की महिलाओं के लिए 2.1 पर थीं। इस प्रकार भले ही दूसरी जाति की महिलाएं आदिवासियों और दलितों की तुलना में आर्थिक रूप से और अच्छी स्थिति में हो, पर उनमें भी रुग्णता का स्तर बहुत अधिक था। मुस्लिम महिलाओं में भी, आदिवासी महिलाओं जैसे 3.2 की उच्च रुग्णता स्तर था।

सर्वेक्षण से यह साबित हुआ कि गरीबी ही खराब प्रजनन स्वास्थ्य का एक मात्र कारण नहीं है। गौरतलब है कि जिन 28 अविवाहित लड़कियों का सर्वेक्षण किया गया, उनमें से किसी ने भी किसी समस्या से पीड़ित होना नहीं बताया।

महिलाओं के औसत केवल 7.36 ग्राम प्रति डेसीलीटर था, जो वांछित स्तर का लगभग 46% था। महिलाओं की रक्ताल्पता और उनके खराब प्रजनन स्वास्थ्य की स्थिति के बीच निकट संबंध स्पष्ट रूप से स्पष्ट था। अविवाहित लड़कियों के हीमोग्लोबिन का स्तर औसतन 11.1 ग्राम प्रति डेसिलेटर था जो विवाहित महिलाओं के स्तर से बहुत अधिक था। इससे इस बात की पुष्टि हुई कि पितृसत्ता के दबाव विवाहित महिलाओं पर अधिक थीं। अन्य परिणाम भी समान रूप से खराब थे: 18 वर्ष की आयु पूरी करने से पहले 73.6% महिलाओं की शादी हो चुकी थी, 41.7% के कम से कम एक बच्चा की मौत हो गई थी, 17.3% महिलाओं के पांच से अधिक बच्चे थे और केवल 10.4% महिलाओं की नसबंदी हुई थी।

ये हतोत्साहित करने वाले आँकड़े पितृसत्तात्मक मूल्यों की व्यापकता की पुष्टि की। सर्वेक्षण में यह भी पता चला कि लड़कों और लड़कियों के साक्षरता स्तर में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं था, और लड़कियों का पोषण स्तर थोड़ा बेहतर था। परंतु ये स्तर शहरी क्षेत्रों के ऊपरी सामाजिक-आर्थिक स्तर के बच्चों से काफी नीचे था। इस प्रकार, इन आंकड़ों ने भी इस बात की पुष्टि की कि पितृसत्ता के प्रभाव विवाह के बाद महिलाओं को अधिक प्रभावित करना शुरू करता हैं और स्त्रीरोग संबंधी समस्याओं को हल करने के लिए केवल स्त्री रोग संबंधी समाधान ही पर्याप्त नहीं थे। इसके लिए, महिलाओं के प्रजनन अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए पितृसत्तात्मक उत्पीड़न के विरुद्ध भी मोर्चा खोलना पड़ेगा।

अध्याय 17 – पारंपरिक और आधुनिक झाड़ फूँक

भील आदिवासियों ने अपनी स्वास्थ्य समस्याओं के समाधान के लिए पारंपरिक रूप से बुड़वा या पारंपरिक चिकित्सकों पर भरोसा करते आए है। पारंपरिक आदिवासी चिकित्सा पद्धति में यह मान्यता है कि विभिन्न रोगों के लिए विभिन्न प्रकार की बुरी आत्माएं जिम्मेदार हैं और इसलिए मंत्रों का उच्चारण करके उन्हें भगाना आवश्यक है। बुड़वा इन मंत्रों और अन्य तरीकों से बुरी आत्माओं को कैसे खत्म किया जा सकता है इसकी जानकारी रखता है। जड़ी बूटी, भी, इन मंत्रों के पूरक के रूप में दिए जाते हैं। आज भी, बीमारी की उत्पत्ति की यह समझ आदिवासियों के बीच बना हुआ है। चूंकि इस तरह का इलाज सस्ता है, इसलिए आमतौर पर यह उनके लिए पहला विकल्प होता है। उनमें इसकी बहुत कम समझ है कि रोग विभिन्न प्रकार के कीटाणुओं और जीवाणुओं के कारण होता है। अंतर केवल इतना है कि अब, बुड़वा के अलावा, लोग उन झोलाछाप डॉक्टरों के पास भी जाते हैं जो उन्हें इंजेक्शन और गोलियां या अंतःशिरा ड्रिप देते हैं। ये चिकित्सा प्रणाली अनपढ़ आदिवासियों की समझ के लिए उतनी ही दुरूह हैं जितनी कि वे मंत्र जो बुड़वा द्वारा जपी जाती हैं, लेकिन कई बार यह अधिक प्रभावी होती हैं। इसलिए आदिवासी गंभीर रूप से बीमार होने पर या तो एक साथ या एक के बाद एक इन झोलाछाप चिकित्सकों और बुड़वों के पास इलाज के लिए जाते हैं।

चिकित्सक, नर्स और स्वास्थ्य कार्यकर्ता सभी आदिवासियों की इस मानसिकता का फायदा उठाते हुए अंधाधुंध एंटीबायोटिक्स इंजेक्ट करते हैं और सर्दी और पेचिश जैसी बीमारियों के लिए अंतःशिरा ग्लूकोज और नमक ड्रिप भी लगाते हैं। रोगी को हो रही समस्या के निदान के लिए कभी कोई गंभीर प्रयास नहीं किया जाता है। साथ ही खाने के लिए एंटीबायोटिक दवाओं की अपर्याप्त खुराक भी दी जाती हैं। नतीजतन, मरीज को इलाज के लिए बार-बार डॉक्टर के पास जाना पड़ता है। डॉक्टर वर्षा ऋतु को अपनी कमाई का मौसम मानते हैं, क्योंकि वर्ष के इस समय में वे रोगियों में बीमारियों की प्राकृतिक वृद्धि का लाभ उठाते हैं।

एक साइकिल मैकेनिक और इन डॉक्टरों के बीच बहुत अंतर नहीं है। साइकिल के मामले में, कम से कम मालिक उसके हिस्सों को देख सकता हैं और यह अंदाजा लगा सकते हैं कि यह कैसे काम करते है। मानव शरीर के मामले में इसके आंतरिक भागों का काम दिखाई नहीं देता है, और इसलिए रोगी को सामान्य रूप से पता नहीं होता है कि क्या हो रहा है। मानव शरीर के काम के बारे में यह अज्ञानता आम जनता तक फैली हुई है और यह केवल आदिवासियों तक सीमित नहीं है। इंजेक्शन, ड्रिप और दवाओं के गलत उपयोग का एक आधुनिक झाड़ फूँक इस अज्ञानता के कारण फल फूल रहा है। यह दवा उद्योग के हितों के अनुकूल है, जो चिकित्सकों और नीति निर्माताओं के बीच इस गलत चिकित्सा पद्धति को बढ़ावा देने का प्रयास करता है। इस प्रकार, बाजार को अनैतिक प्रचार द्वारा अत्यधिक कीमतों पर बेचे जाने वाले दवाओं से भर दिया गया है।

प्रजनन स्वास्थ्य के मामले में यह स्थिति और भी अधिक दयनीय है क्योंकि प्रजनन प्रणाली का कार्य केवल समझना ही अधिक कठिन नहीं है बल्कि इसके साथ जुड़े सभी प्रकार के मिथक और अंधविश्वास भी और तीव्र हैं। ऐसे मामलों में, , योनि से होने वाले स्राव, कमर में दर्द और रक्तचाप

जैसी समस्याओं का अंतिम समाधान के रूप में डॉक्टर एक कदम आगे जाते हैं और बड़ा ऑपरेशन की वकालत करते हैं। प्रजनन स्वास्थ्य की समस्याओं के उपचार के लिए सरकारी स्वास्थ्य प्रणाली बहुत ही अपर्याप्त है। गुणवत्तावाले सेवा प्रदाताओं की कमी और आदिवासियों के बीच स्वास्थ्य संबंधी जागरूकता की दयनीय स्थिति निश्चित रूप से इस क्षेत्र में चरम सीमा पर है, लेकिन यह कमोबेश पूरे देश में गरीबों की स्थिति है।

इस समस्या का समाधान के लिए सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली के जमीनी स्तर के कार्यकर्ताओं की संख्या और प्रशिक्षण को बढ़ाने और इसके लिए वित्तीय प्रावधान में वृद्धि का सुझाव दिया जाता है। पर सरकार न केवल सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली पर बहुत कम खर्च करती है बल्कि सरकारी स्वास्थ्य कर्मचारियों में लगन की कमी है। पिछले कुछ वर्षों में, ग्रामीण सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था बिगड़ गई है और वर्तमान में पतन के कगार पर है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन और आयुष्मान योजना जैसे कार्यक्रमों के बावजूद प्रचार अधिक है और वास्तविक क्रियान्वयन कम है।

गैर-सरकारी संगठन निश्चित रूप से बेहतर सेवा प्रदान कर सकते हैं, लेकिन वे आबादी के एक बहुत छोटे हिस्से को छू सकते हैं और उन्हें धन के लिए लगातार बाहरी स्रोतों पर निर्भर रहना पड़ता है, जो आसानी से मिलता नहीं है, विशेष कर प्रजनन स्वास्थ्य के लिए। इसलिए अधिकांश ग्रामीण गरीब महिलाएँ अपनी स्वास्थ्य समस्याएं चुप्पी में झेलती रहती हैं। यहां तक कि जब वे समाधान की तलाश करते हैं, तो वे ज्यादातर अपर्याप्त प्रशिक्षण प्राप्त झोलाछाप चिकित्सकों के पास जाते हैं। स्वास्थ्य जागरूकता का निर्माण करना एक चुनौती है ताकि ग्रामीण आबादी अपनी स्वास्थ्य को सुधारने के लिए संसाधनों का बेहतर उपयोग कर सकें।

स्थानीय रूप से आत्मनिर्भर सामुदायिक स्वास्थ्य प्रणाली को स्थापित करना असंभव नहीं है। इसके लिए लेकिन बहुत मेहनत करनी पड़ेगी। आदिवासियों के लिए सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यक्रम, स्वास्थ्य के संबंध में उनकी मानसिकता में भारी बदलाव लाए बिना सफल नहीं हो सकता है। मानव शरीर के काम करने के तरीके, विभिन्न प्रकार की बीमारियों के कारणों और विभिन्न दवाओं के उपयोगिता के बारे में ज्ञान लोगों में होना चाहिए। स्थानीय स्तर पर उपलब्ध जड़ी बूटियों की पहचान और उपयोग भी स्वास्थ्य की देखभाल की लागत को कम कर सकता हैं। पितृसत्ता और महिलाओं की अस्वस्थता के बीच संबंध को भी समझना होगा और उस पर काम भी करना होगा। पश्चिमी मध्य प्रदेश के कई आदिवासी जन संगठनों ने सामुदायिक स्वास्थ्य प्रणाली को सुधारने के लिएइस दिशा में कुछ व्यावहारिक काम किया है।

अधिक गंभीर समस्या, निश्चित रूप से, पितृसत्तात्मक उत्पीड़न की है। महिलाओं के साथ हुई बैठकों में और महिलाओं के साथ हमारी व्यक्तिगत बातचीत में बार बार उनके पुरुषों के व्यवहार और दृष्टिकोण पर चर्चा होती थी। महिलाओं ने शिकायत की कि उनके खुद के शरीर या परिवार के फैसलों पर उनका कोई नियंत्रण नहीं था। इसलिए उनके स्वास्थ्य में सुधार करने का कोई सवाल ही नहीं था। चंदुपुरा की रमनबाई बवासीर से पीड़ित थी, और सनावद के डॉक्टर ने उसे बताया था कि उसे ऑपरेशन करवाना होगा। ओखला क्लिनिक के डॉक्टर ने भी यही बात कही। फिर भी, उनके पति,

जो पैसे खर्च करने में सक्षम थे, ऐसा करने से मना कर रहे थे। उसने कहा कि इस तरह के मामलों के बारे में बात करते समय, महिलाओं को अपने बच्चों से डरना पड़ता है, कहीं ऐसा न हो कि वे अपने पिता को बता दें। ओखला की केसरबाई की पहले से ही तीन बेटियां थीं और वह और कोई संतान नहीं चाहती थी, लेकिन उसका पति सहमत नहीं था। उसने कॉपर टी डालने के बारे में सोचा था, लेकिन इस संबंध में एक और महिला के बुरे अनुभव ने उसे हतोत्साहित किया। जब सुभद्रा ने कंडोम के इस्तेमाल की सलाह दी, तो उसने यह कहते हुए मना कर दिया कि उसका पति इसके लिए राजी नहीं होगा। यदि वह उसके पति नशे में होने पर उससे संभोग करने से मना करती है तो वह आरोप लगाता है कि वह किसी अन्य आदमी के साथ सो रही है और इसलिए उसके साथ संभोग नहीं कर रही है।

एक अन्य महिला, सुमति, विशेष रूप से परेशान थी। उसका पति दूसरी महिला के साथ संबंध में थी। कभी कभी उसके पति का लिंग सूजा हुआ और मवाद से भरा हुआ होता था क्योंकि संभवतः वह किसी यौन संक्रमित बीमारी से पीड़ित था और उसे डर लगता था कि उसे भी इसका संक्रमण हो जाएगा। ऐसी असहाय स्थिति में बहुत सारी महिलाएं खुद को पाती हैं। कुंडिया में, एक महिला के पति ने उसे इसलिए पीटा था और ठंड में घर से बाहर रात बिताने के लिए मजबूर किया था क्योंकि उसके भाई के यहाँ जाने पर उनकी सही मेजबानी नहीं की गई थी। चंदुपुरा की रेशमा ने कही कि उनके पति गुस्से में थे कि उन्होंने ओखला के स्वास्थ्य शिविर में अपना इलाज कराया और सुभद्रा को घर के कई राज बता दिए। रेशमा की बात का समर्थन करते हुए कई युवा महिलाओं ने शिकायत की कि उनकी सास इस नई प्रक्रिया के पक्ष में नहीं थी।

भीलों में यह सामाजिक रिवाज है कि सभी धार्मिक शुव अवसरों पर शराब से पूजन होता है और यह महिलाओं के लिए हानिकारक है। शुभ मानकर बच्चों को शराब तब भी चखाई जाती है जब वे माँ के दूध पी रहे होते हैं। देवताओं को शराब के साथ खुश करना पड़ता है। यह पुरुषों और कभी-कभी महिलाओं को भी शराब पीने के लिए प्रेरित करता है। शराब का अत्यधिक सेवन पुरुषों में पितृसत्ता की सबसे खराब अभिव्यक्तियों को सामने लाती है। जैसा कि केसरबाई ने पहले उल्लेख किया है कि शराब के प्रभाव में, पुरुष अपनी पत्नियों से संभोग करना चाहते है और अगर महिलायें विरोध करती हैं तो हिंसा का सहारा लेते हैं। पुरुष अक्सर शराब पीते ही चले जाते हैं और कई दिनों तक कोई काम नहीं करते हैं। इससे महिलाओं पर बोझ बढ़ता है, जिन्हें और अधिक मेहनत करनी पड़ती है। ये शराबियों ने अपनी महिलाओं को संगठनात्मक गतिविधियों में भाग लेने से रोका और उनमें से कुछ पुलिस के मुखबिर और सहयोगी थे।

एक लड़ाकू जाति होने के कारण, भीलों में काम का एक स्पष्ट लिंग विभाजन है जिसे आसानी से तोड़ा नहीं जा सकता है। पुरुष, अगर वह चाहते भी है तो मुश्किल से घरेलू काम में मदद कर सकते है। दिलचस्प बात यह है कि रोजगार की तलाश में पलायन करने की आवश्यकता के परिणामस्वरूप इन सामाजिक रीतियों में कुछ बदलाव आया है और पुरुषों ने घरेलू काम करना शुरू कर दिया है। पुरुषों का घरेलू काम करने पर निषेध भारतीय समाज में व्यापक है। पर क्योंकि ऐसे प्रतिबंधों को मैं

नहीं मानता हूं इसलिए मैं अक्सर खाना बनाता हूं और कपड़े धोता हूं। काटकुट में सुबह केवल एक बार पानी आता था और सार्वजनिक पानी का नल हमारे किराए के घर के सामने था। इसलिए सड़क के सामने एक पत्थर पर कपड़े धोने पड़ते थे। एक दिन, हमारे मकान मालिक, जो एक बूढ़े दर्जी थे, ने मुझसे कहा कि मुझे सुभद्रा के कपड़े नहीं धोने चाहिए। उसके साथ एक बहस शुरू हुई जिसमें उसने कहा कि वे अपनी पत्नी के कपड़े धोने वाले लोगों से बहुत नफरत करते है। उन्होंने कहा कि हिंदुओं के पवित्र धर्मग्रंथ पुरुषों को गृहकार्य करने से मना करते हैं। इस गलत बयान को चुनौती देने के बजाय, मैंने उनसे पूछा कि वे विवादों की रिपोर्ट लिखाने पुलिस स्टेशन क्यों जाते है जब प्राचीन शास्त्रों में उल्लेख किया गया है कि उन्हें समुदाय के भीतर हल किया जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि घरेलू दुनिया शास्त्रों द्वारा शासित थी, लेकिन काम की बाहरी दुनिया नहीं, जहां आधुनिक विचारों को प्रगति के लिए स्वीकार करना पड़ता है! इंदौर में जहाँ अब हम निवास करते हैं यह बात फैल गई है कि मैं खाना बनाता और कपड़े धोता हूँ और इसलिए पड़ौसियों की निगाह में मैं एक कमजोर मर्द हूँ! और यह हमारे घरों में काम करने वाले महिलाओं ने ही फैलायी हैं!

प्रारंभ में, मेरे मकान मालिक ने यह मानने से इनकार कर दिया कि अंग्रेजओं ने, जो पुलिस प्रणाली के साथ-साथ उसके द्वारा आजीविका के लिए इस्तेमाल की जा रही सिलाई मशीन भी भारत में लाए थे, वर्तमान मे पुरुषों और महिलाओं के बीच समानता को स्वीकार कर लिए है। उन्होंने अंत में कहा कि पुरुषों द्वारा अपनी पत्नियों के कपड़े धोने को तभी मानेंगे जब मैं उन्हें किसी अंग्रेज द्वारा लिखी गई पुस्तक दिखा सकूं जिसमें ऐसा कहा गया हो। मकान मालिक की पत्नी सुभद्रा को कही कि कैसे एक बार वह अपने पिता के घर छुट्टी मनाने जाने के बाद जल्दी वापस आ गई थी क्योंकि उसने एक बुरा सपना देखा था कि उसका पति उसे देर से आने के लिए छड़ी से मार रहा था। उसने अगले दिन ही लौटी थी! इस प्रकार पितृसत्ता भी एक प्रकार का मिथक है जो हजारों वर्षों से महिलाओं को कैद कर रखा है।

यह सब कुछ इस तथ्य की ओर बार-बार इशारा करता है कि प्रजनन स्वास्थ्य समस्याओं को दूर करना महिलाओं के प्रजनन और यौन अधिकारों को स्थापित किए बिना संभव नहीं है। हालातओं ने एक नाटकीय मोड़ तब ले लिया जब परिस्थितियों ने हमें अप्रत्याशित तरीके से महिलाओं के अधिकारों के लिए लड़ने के लिए मजबूर किया।

आकीया गाँव में दो बड़ी महुआ के पेड़ों की छाया में गर्मी की एक दोपहर की धूप में सैकड़ों आदिवासी महिलाएँ अपनी बहुरंगी साड़ी, घागरा, लुगरा और डोगलियाँ पहने बैठी थीं। यह मई 1997 का पहला सप्ताह था और शादी का मौसम था। बाहर से आने वाले कोई आदिवासी पुरुष ने यह सोचा होगा कि केवल महिलाएं क्यों इकट्ठा होकर बैठी है और ढोल क्यों नहीं बज रहे है। लेकिन यह शादी नहीं थी। यह प्रजनन स्वास्थ्य सर्वेक्षण के परिणामों की समीक्षा करने के लिए बुलाई गई बैठक थी। सुभद्रा ने रंगीन चार्ट की मदद से समझाया कि सर्वेक्षण में एकत्र किए गए सभी आंकड़ों के विसलेशन से क्या निष्कर्ष निकला है। उसने काही कि सभी महिलाएं, चाहे वे अमीर हों या गरीब पितृसत्तात्मक दबावों के कारण प्रजनन संबंधी स्वास्थ्य समस्याओं से पीड़ित थीं और अकेले दवा उन्हें स्थायी

समाधान नहीं दे सकती थी। इसके बाद शोर मच गई। एक के बाद एक महिलाओं ने कही कि वे कुछ भी नहीं कर सकती हैं क्योंकि पुरुष उनकी बात नहीं सुनते है खासकर तब जब वे नशे में बेहोश हो। पहले, भीलों को महुआ के पेड़ के फूलों से अपनी खुद की शराब पीनी पड़ती थी, जो एक श्रमसाध्य और समय लेने वाला काम है और इसलिए कभी-कभार ही किया जा सकता है। क्षेत्र में दो भट्टियों से अवैध शराब की आसान उपलब्धता के कारण अब पुरुष अनाप शनाप पी रहे थे। अंत में, बैठक में कोई निर्णय नही हो पाया क्योंकि पुरुषों की शराब की लत को दूर करने के लिए कोई उपाय दिख नहीं रहा था।

यह स्पष्ट था कि शराबखोरी और अवैध शराब बिक्री की दोहरी समस्याओं और पितृसत्तात्मक उत्पीड़न के मुद्दों को संगठन प्रक्रिया में पुरुषों को शामिल किए बिना नहीं उठाया जा सकता था। हालांकि, इसका मतलब यह था कि हमें एक बार फिर राज्य की गलत नीतियों और गैर-आदिवासियों के शोषण से पैदा होने वाली गरीबी के खिलाफ वह सामान्य सांगठनिक प्रक्रिया अपनानी होगी जो पूरे पश्चिमी मध्य प्रदेश क्षेत्र में डेड़ दशक से चल रही थी। परंतु ऐसे करने से संघर्ष में महिलाओं के मुद्दों को दरकिनार कर दिया जाता है और ऐसा न हो इसलिए हम केवल महिलाओं के मुद्दों पर काम करने की कोशिश कर रहे थे। पर ऐसा हुआ कि काटकूट क्षेत्र के कुछ आदिवासी, जिनके पश्चिमी निमाड़ में आदिवासी मुक्ति संगठन के क्षेत्र में रिश्तेदार थे, खबर लाएं कि हम संगठन के ही कार्यकर्ता है और वे हम से इस क्षेत्र में भी जल, जंगल और जमीन पर हक के मुद्दों पर संगठन बनाने के लिए कहने लगे।

हम संघर्ष की गहमागहमी में महिलाओं के मुद्दों को दरकिनार हो जाने के बारे में बहुत सतर्क थे क्योंकि कुछ ऐसा ही इस क्षेत्र के अन्य जन संगठनों के साथ हुआ था। यह सुनिश्चित करने के लिए कि संगठन प्रक्रिया की सभी गतिविधियों में महिलाएँ सबसे आगे हो, हमने सभी बैठकों में महिलाओं की बड़ी संख्या में उपस्थित होना अनिवार्य कर दिया। पुरुषों की एक शुरुआती अनिच्छा के बाद, महिलाओं ने आना शुरू कर दिया क्योंकि हम पर्याप्त संख्या में महिलाओं की अनुपस्थिति में बैठक को जारी रखने से मना कर देते थे। एक बार शुरुआती बाधा दूर हो जाने के बाद, हमने महिलाओं के लिए अलग बैठकें आयोजित किए उनको घर के रोज़मर्रा के काम से बाहर निकलने के लिए प्रेरित करने ताकि वे संगठनात्मक गतिविधियों में शामिल हो सके। इसके बाद हमारी भूमिका केवल प्रशिक्षक के रूप में थी और हम आदिवासियों - पुरुषों और महिलाओं को - सरकारी अधिकारियों के साथ बातचीत करने के लिए प्रशिक्षित किया।

हम ने सिर्फ एक तैयारी कार्यशाला आयोजित किया जिसमें खेमला अलीराजपुर से आया था, और दो संगठन, बरवाह अनुविभाग में आदिवासी शक्ति संगठन और बागली अनुविभाग में आदिवासी मोर्चा संगठन का गठन किया गया था। उसके बाद पश्चिमी मध्य प्रदेश क्षेत्र में दूसरे संगठनों के नक्शेकदम पर इस क्षेत्र के लोग भी उत्पीड़न के गढ़ों पर हमला किया और उन्हें ध्वस्त कर दिया। पहला लक्ष्य वन विभाग था, जो केवल एक महीने के भीतर सुधार गया। वन प्रहरियों ने शुरू में आकीया गाँव के कुछ लोगों को डराने-धमकाने की कोशिश की और उनसे एक कैसेट और कुछ

साहित्य जब्त किया। ओखला में इसके विरोध में बैठक बुलाई गई और बड़वाह में सम्भागीय वनाधिकारी को ओखला में उपस्थित होकर यह समझाने के लिए सूचना दी गई कि उनके अधीनस्थ कर्मचारियों ने इस तरह से अवैध कार्यवाही क्यों की। ओखला में नियत दिन पर सैकड़ों पुरुष और महिलाएं एकत्रित हुए, लेकिन वन विभाग के किसी अधिकारी वहाँ नहीं आया। यहां तक कि वहाँ तैनात वन रक्षक और उप वनक्षेत्राधिकारी भी भाग गए थे। फिर, कुछ अप्रत्याशित घटना घटी जिससे संगठन की प्रक्रिया एक अलग मोड़ ले लिया।

इससे एक सप्ताह पहले, मैंने महिलाओं के पितृसत्तात्मक उत्पीड़न के मुद्दे पर पुरुषों के साथ एक कार्यशाला का आयोजन किया था। समूह चर्चा इस निष्कर्ष के साथ समाप्त हो गई थी कि पुरुषों की शराबखोरी महिलाओं के लिए सबसे गंभीर समस्या थी। पुरुषों ने यह भी कहा कि इसके कारण बहुत आर्थिक नुकसान भी हो रहा था और इसके बारे में कुछ किया जाना चाहिए। क्या करना होगा इस पर कोई निर्णय के बिना ही कार्यशाला समाप्त हो गई थी लेकिन इस बारे में एक और बैठक आयोजित करने की बात की गई थी। ओखला में उस दिन पर, जब लोग चर्चा कर रहे थे कि आगे क्या करना है क्योंकि वन अधिकारी अनुपस्थित थे, रजान भाई, जो बिल्कुल शराब नहीं पीते थे, उठे और कहा कि अवैध शराब की दुकान बंद होनी चाहिए। इस दुकान को चलाने वाला एक कुख्यात गुंडे थे, जैसा कि आमतौर पर पूरे भारत में होता है। वह आदिवासियों के साथ दुर्व्यवहार और मारपीट करता था। इस प्रकार, लोगों का क्रोध, जो वन अधिकारियों के लिए था, वह इस गुंडे के तरफ चला गया। उन्होंने उसकी दुकान पर छापा मारा, उसकी शराब जब्त की, बोतलों को तोड़ा और उसे तुरंत दुकान बंद करने की चेतावनी दी।

उनके धंधे ऐसे है कि गुंडे अवैध शराब बेचने वाले कडक किस्म के होते है। उस रात, वह और उसके साथी ओखला गाँव के एक प्रमुख संगठन सदस्य, शिवलाल के घर पर जाकर उसके साथ मारपीट की। खबर तुरंत फैल गई और सुबह तक, सैकड़ों पुरुष और महिलाएं पुलिस चौकी के सामने काटकुट में इकट्ठा हो गए थे और गुंडों की गिरफ्तारी की मांग कर रहे थे। इतने सालों तक काटकुट के गैर-आदिवासी आदिवासियों के खिलाफ झूठे मामलों को दर्ज करते थे पर बड़े पैमाने पर इस प्रदर्शन के परिणामस्वरूप इस गैर आदिवासी गुंडे को अनुसूचित जनजाति और अनुसूचित जाति अत्याचार निवारण अधिनियम के तहत गिरफ्तार किया गया। आदिवासियों ने फिर काटकुट में एक जुलूस निकाली और वह गाँव पहली बार उन नारों से गूंज उठा, जो इससे पहले पूरे पश्चिमी मध्य प्रदेश में लोकप्रिय हो गए थे - "लुटेनेवाला जयेगा, कमानेवाला खायेगा, नया जमाना आयेगा" और "जल, जंगल, जमीं कुनिन छे, आमरी छे, आमरी छे"। इसके बाद सुलगांव में कुछ वन अधिकारी गाँव के जंगल में चरने वाले कुछ भैंसों को जब्त किए थे। महिलाओं का एक समूह ने वन विभाग की चौकी से भैंसों को जबरन छुड़वाया। बाद में, इस कार्रवाई के समर्थन में सुलगाँव में आयोजित एक विशाल जनसभा में, एक व्यक्ति नशे में धुत होकर आया और हंगामा करने लगा। चूंकि यह आदमी एक कुख्यात गुंडा था, इसलिए दूसरे लोग उसके खिलाफ कार्रवाई करने से हिचकिचाते थे। दो महिलाएं, धनुष और तीर से लैस होकर, इस शख्स को उसके गर्दन पकड़ कर बैठक से दूर कर दिया दर्शकों के तालियों की गड़गड़ाहट के बीच।

इससे शराबखोरी और अवैध शराब की बिक्री के खिलाफ एक शक्तिशाली आंदोलन प्रारंभ हो गया जैसा कि पश्चिमी मध्य प्रदेश में पहले कभी नहीं देखे गए थे। मध्य प्रदेश सरकार वार्षिक नीलामी के माध्यम से शराब लाइसेंस बेचती थी, जिसमें ठेकेदार एक साल के लिए शराब बेचने के अधिकार के लिए बोली लगाता था। अपने मुनाफे को बढ़ाने के लिए, इस ठेकेदार ने लाइसेंस प्राप्त दुकानों के अलावा अवैध दुकानों को स्थापित करने के लिए अन्य व्यापारियों को प्रेरित करता था। इसके लिए पुलिस और आबकारी विभाग के कर्मचारियों को रिश्वत देने और गुंडों के एक गिरोह को बनाए रखने की आवश्यकता थी ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि उनके क्षेत्र में बेची जा रही सभी अवैध शराब उनसे खरीदी गई हो न कि किसी अन्य ठेकेदार से। संयोग से, मध्य प्रदेश में शराब कारखाने भी, शराब का अधिक उत्पादन करते हैं और वे आबकारी विभाग को बताए हुए मात्रा से अधिक शराब को अवैध रूप से बेचते हैं। यहां तक कि दूरदराज के गांवों में भी शराब के अवैध अड्डे हैं। ओखला में अवैड शराब बेचने वाले के खिलाफ सफल कार्रवाई के बाद, देवास जिले में सीमा पार बागली तहसील के लोग अपने क्षेत्र में इसी तरह की कार्रवाई की मांग करने लगे।

बागली के उदयनगर तहसील की स्थिति बरवाह से थोड़ी अलग थी। जबकि बरवाह के गाँवों में बहुत से गैर-आदिवासी किसान थे, उडेनगर में ऐसा नहीं था क्योंकि अधिकांश गाँव आदिवासी बहुलता के थे। हालाँकि, बाजार गाँव, उदयनगर, में गैर-आदिवासी साहूकारों का वर्चस्व था, जिन्होंने लंबे समय से आदिवासियों पर प्रभुत्व जमाया हुआ था। उनका ऐसा दबदबा था कि जब कोई ऋणी समय पर उनका भुगतान करने में विफल हो जाता था तो साहूकार का एक कर्मचारी उससे पैसा वसूलने जाता था और उसके पास की किसी भी संपत्ति को छीन लेता था और उसके घर तक जाने के खर्च के लिए 100 रुपये का शुल्क भी अदा करता था। इस स्थिति में बदलाव की शुरुआत तब हुई जब इंदौर के ईसाई डायोसेसन सोशल सर्विस सोसाइटी ने 1990 के बाद से क्षेत्र के आदिवासी गांवों में अनाज बैंक और स्वयं सहायता समूह बनाने शुरू किए। यह एनजीओ न केवल स्वयं सहायता समूहों का गठन और संचालन ही नहीं किया, बल्कि क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक की शाखाओं से सस्ते ऋण भी इन समितियों को दिलवाया। इसके कार्य की गुणवत्ता ऐसी थी कि इस संस्था को मध्य प्रदेश में महिलाओं के स्वयं सहायता समूह के प्रसार के लिए विश्व बैंक द्वारा वित्त पोषित मध्य प्रदेश जिला गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम के तहत चुना गया था।

संस्था द्वारा शुरू किए गए समूह न केवल ऋण का वितरण करते थे बल्कि कृषि सामग्री की आपूर्ति के लिए भी व्यवस्था करते थे। कुछ स्थानों पर, उन्होंने आदिवासी किसानों को सामूहिक रूप से इंदौर में थोक बाजार में अपनी उपज बेचने की व्यवस्था की। इस प्रकार, साहूकारों के वर्चस्व को चुनौती पहुंचायी जा रही थी। हालात तब और संघर्षपूर्ण हो गए जब इन समूहों ने राजनीतिक क्षेत्र में भी एकजुटता से काम करना शुरू कर दिया। बागली विधान सभा निर्वाचन क्षेत्र पारंपरिक रूप से भारतिया जनता पार्टी का गढ़ रहा था और मध्य प्रदेश के गठन के बाद से लगातार कैलाश जोशी द्वारा इस क्षेत्र का प्रतिनिधित्व किया गया था। जोशी, जिन्होंने कभी राज्य के मुख्यमंत्री भी रहे थे, अपना प्रभाव उदयनगर क्षेत्र में साहुकारों के माध्यम से बनाए रखता था और गाँवों में आदिवासियों के बीच उनके गुर्गे थे। समूहों ने भाजपा के उम्मीदवारों के खिलाफ 1994 में पंचायत निकायों के चुनाव के लिए अपने

स्वयं के उम्मीदवारों को मैदान में उतारने का फैसला किया। इसने साहूकारों को नाराज कर दिया, इसलिए उन्होंने समूहों के कुछ सदस्यों गुंडों से पिटवाकर बाद में पुलिस से उन्हें गिरफ्तार करवाया।

समूह के सदस्यों की गिरफ़्तारी के बारे में सुनकर संस्था की सिस्टर रानी मारिया पुलिस स्टेशन गई जानकारी लेने एवं इस वजह से पुलिस ने उन्हें पीट नहीं सकी। पुलिस को गिरफ्तार सदस्यों को बागली में न्यायालय में प्रस्तुत करना पड़ा जहां उन्हें जमानत मिल गई। सिस्टर मारिया की इस कार्यवाही से साहूकार लोग इतने चिढ़ गए कि वे उनकी हत्या की साजिश रचने लगे। 1995 के बसंत ऋतु में जब एक दिन वे बस से इंदौर जा रही थी तब जंगल के रास्ते से जाने के समय बस में ही बैठे कातिलों ने सिस्टर मारिया को बार बार छुरा घोंपकर मार दिए। इस घटना से पूरे राज्य में खलबली मैच गई और जमीनी स्तर पर काम कर रहे कार्यकर्ताओं की असुरक्षा को उजागर कर दिया। यह ही पृष्टभूमी थी जिसमें हम ने महिलाओं को संगठित करने का काम शुरू किया इस क्षेत्र में। अवैध शराब की बिक्री खूब हो रही थी और एक बड़ा अवैध शराब गोदाम पंडूतलाब गाँव में था।

ठेकेदार द्वार एक खतरनाक गुंडा को लगाया गया था इस अवैध धंधे को चलाने के लिए। एक बार यह गुंडा ने एक आदमी को किसी और ठेकेदार के शराब बेचते हुए पकड़ था। उसने उस आदमी को सारे आम पीटते हुए उदैनगर ले गया था और वहाँ झूठे प्रकरण दर्ज कराकर थाने में गिरफ्तार करवा दिया था। जब पनदुतालाब गाँव में संगठन की बैठक होने की खबर उसे मिली तो वो अपने लोगों के साथ एक वाहन में बैठकर वहाँ आया। पर जब उसने हजारों में वहाँ लोगों को देखा तो वह वहाँ से भाग गया। इसके बाद लोगों ने लाखों रुपये के शराब को जब्त किया और पुलिस को सौंप दिया। यह अवैध शराब के खिलाफ एक बहुत बड़ी कार्यवाही थी। इसके बाद पूरे क्षेत्र में अवैध शराब की बिक्री पूरी तरह से रुक गई।

इस बार की संगठानात्मक प्रक्रिया और पहले हम ने जो काम किए थे उसमें बहुत फर्क था। अलीराजपुर में हम गैर आदिवासी कार्यकर्ता अग्रणी भूमिका निभाते थे पर यहाँ आदिवासी कार्यकर्ता बहुत बड़े पैमाने पे नेतृत्व कर रहे थे और निर्णय ले रहे थे। हालांकि सुभद्रा को अधिक नेतृत्व करना पड़ रहा था क्योंकि महिलाओं को आगे लाना आवश्यक था पर मैंने केवल प्रशिक्षण का काम किया। शुरू शुरू में खेमल, शंकर और वाहारू जैसे नेताओं को बुलाना पड़ा पर थोड़े ही दिन में स्थानीय आदिवासी महिला और पुरुष नेतृत्व विकसित हो गया।

इस प्रक्रिया का प्रभाव इतना व्यापक था कि इंदौर के एक प्रमुख हिंदी दैनिक ने इस तथ्य को रेखांकित करते हुए संगठन पर उसके मुखपृष्ट पर एक लेख छापा कि इसके प्रमुख नेता आदिवासी महिलाएं थे। प्रजनन स्वास्थ्य के मुद्दों से बढ़कर प्रजनन अधिकारों के लिए लोगों को जुटाने का प्रयास सफल साबित हुआ। इन गरीब निरक्षर महिलाओं को ऐसी शक्तिशाली नेतृत्वकारी भूमिकाओं में देखकर हम बहुत खुश हो गए। हालांकि, इस तरह की खुशहाल स्थिति लंबे समय तक जारी नहीं रह सकती थी, क्योंकि जिन ताकतों को चुनौती दी जा रही थी वे इस मुक्तिकामी विद्रोह को कुचलने के लिए तैयारी कर रही थी।

अध्याय 18 – हक के लिए संघर्ष

दमनकारी हमले की शुरुआत क्षेत्र के आदिवासी जन संगठनों में सबसे मजबूत संगठन पर से हुई। 1990 के मध्य में, आदिवासी मुक्ति संगठन ने मध्य प्रदेश में कृषि उपज विपणन समितियों के भ्रस्टाचार के खिलाफ सेंधवा शहर में एक लंबे और सफल संघर्ष किया था। ये समितियाँ तहसील स्तर पर कृषि उपज की नीलामी को नियंत्रित करती हैं और इसमें अनिवार्य आदिवासी प्रतिनिधित्व होता है। इसके बावजूद, राजनेताओं और व्यापारियों सहित स्थानीय आदिवासी नेताओं ने अक्सर इन नीलामियों में धांधली करते थे। इन मंडियों में किसानों को ठगने के कई तरीके होती थी।

सेंधवा महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश की सीमा के पास स्थित है, और इसका भीतरी इलाका कपास उत्पादक क्षेत्र है। इस प्रकार, दोनों राज्यों के आदिवासी किसान अपना कपास बेचने के लिए सेंधवा की मंडी में आते हैं। कपास का मौसम व्यापारियों के लिए बहुत फायदेमंद है क्योंकि बाजार में आदिवासी किसानों की बड़ी तादाद रहती है, और मंडी अधिकारियों की मिलीभगत से वे कम कीमतें देकर और उपज का काम वजन कर किसानों को ठग लेते हैं। इस प्रकार किया गया मुनाफा इतना बड़ा है कि कपास को स्थानीय रूप से सफेद सोना कहा जाता है। स्वचालित डिजिटल तोलने की मशीनों के इस्तेमाल, पारदर्शी नीलामी प्रक्रिया और नकद के बदले चेक द्वारा भुगतान की मांग को लेकर संगठन ने आंदोलन चलाया और एक समझौता हुआ। लेकिन हमेशा की तरह, समझौते का कोई भी कार्यान्वयन नहीं हुआ। इसके विपरीत, व्यापारियों ने अपने गुंडों से आदिवासी कार्यकर्ताओं को पीटने लगे।

संगठन ने सामूहिक कार्रवाई से जवाब दिया और फरवरी 1997 में सेंधवा से गुजरने वाले आगरा-बॉम्बे राष्ट्रीय राजमार्ग को लगभग दस हजार लोगों ने अवरुद्ध कर दिया, जिसमें देवास और अलीराजपुर जिलों से एकजुटता दिखाने के लिए लोग शामिल हुए थे। सेंधवा के दक्षिण में सतपुड़ा पहाड़ों के बीच राजमार्ग के घाट खंड, ब्रिटिश काल से ही विवाद का क्षेत्र रहा है, जब भील आदिवासी अक्सर कारवां और सेनाओं पर हमला करते थे। 1857-60 के महान भील विद्रोह के दौरान, अंबापानी की प्रसिद्ध लड़ाई इस सड़क के पास हुई थी, जिसमें अंग्रेजों ने आखिरकार विद्रोही नेता खाज्या नाइक की सेनाओं को हराया था। पहले की तरह, भीलों ने एक बार फिर इस सड़क को अवरुद्ध कर दिया था, न्याय की मांग करते हुए। इसने प्रशासन को हरकत में लाया और गुंडों की गिरफ़्तारी के बाद ही धरना को समाप्त किया गया। इसके बाद सभी मांगों को पूरी की गई और सेंधवा में मंडी नियमों के अनुसार चलने लगी।

कृषि ऋण सहकारी समितियों और बैंकों का कामकाज भी मंडियों जैसे ही भ्रष्टाचार से दुष्ट था। आदिवासी किसान सदस्य, सिद्धांततः शेयरधारकों के नाते उनके चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से इन बैंकों के संचालक होते हैं। लेकिन वास्तव में, बैंक अधिकारियों के साथ उनके संबंध उनके साहूकारों के साथ संबंध जैसे ही हैं। अंदरूनी क्षेत्रों में, जहां आदिवासी बड़े पैमाने पर निरक्षर हैं, अधिकारी उन्हें उन ऋणों के भुगतान में भी धोखा देते हैं जो कागज पर उनके लिए निर्धारित हैं।

इसके साथ ही इन समितियों को क्षेत्र के अर्थव्यवस्था पर राजनीतिक रूप से ताकतवर बड़े किसानों द्वारा ऋण नहीं चुकाने के कारण इनकी वित्तीय हालत कमजोर है।

क्योंकि बड़े किसानों पर कार्यवाही नहीं की जा सकती है इसलिए समिति के कर्मचारी फसल खराब होने के कारण ऋण चुकाने में असमर्थ रहने वाले छोटे किसानों पर ऋण भुगतान के लिए दबाव डालकर अपनी वितत्तिय स्थिति को सुधारने की कोशिश करते है। मई 1997 में, जिला सहकारी बैंक के अधिकारियों ने बड़वानी तहसील के सावरियापानी गाँव के छब्बीस वर्षीय बारेला आदिवासी ज्ञान सिंह की हत्या कर दी। ज्ञान सिंह के पिता रब्बा ने 3,500 रुपये का ऋण लिया था। चार बैंक अधिकारी एक जीप में इस ऋण पर ब्याज लेने गए। रब्बा को न पाकर उन्होंने उसके बेटे ज्ञान सिंह को पकड़ लिया और जीप के अंदर उसे इतनी बुरी तरह से पीटा कि बड़वानी पहुंचने तक उसकी मौत हो गई। यह खबर जंगल की आग की तरह फैल गई, और कुछ ही समय में, आदिवासी मुक्ति संगठन के हजारों आदिवासियों ने अपराधियों के खिलाफ हत्या का मामला दर्ज करने और उनकी गिरफ्तारी की मांग को लेकर पाटी में पुलिस थाने का घेराव किया। इसके बाद, आदिवासी मुक्ति संगठन ने 9 मई को बड़वानी में एक विशाल जुलूस और सार्वजनिक सभा की, जिसमें जिला पंचायत के अध्यक्ष ने मुआवजे के रूप में ज्ञान सिंह की विधवा को 1,00,000 रुपये का चेक दिया।

आदिवासी मुक्ति संगठन द्वारा किए गए बड़े पैमाने पर सार्वजनिक कार्रवाई के कारण इस घटना और इसके द्वारा पैदा हुए हंगामे ने आदिवासी क्षेत्रों में सहकारी बैंकों की भूमिका और उनके द्वार किया जा रहा शोषण पर ध्यान केंद्रित कर दिया। संयोग से, ज्ञान सिंह की हत्या करने वाले अधिकारी न केवल गैर-आदिवासी थे बल्कि उनमें से दो व्यापारी वर्ग के थे। इस प्रकरण से स्पष्ट था कि स्वतंत्रता के पचास साल बाद भी, पश्चिमी मध्य प्रदेश क्षेत्र में आदिवासियों को गैर-आदिवासियों के साथ समान दर्जा नहीं प्राप्त हुआ था। इस हद तक उनके अधिकारों का घोर उल्लंघन हो रहा था कि सहकारी बैंक के अधिकारी भी आदिवासियों का मनमानी ढंग से गिरफ्तारी और अत्याचार करने पर आमादा थे।

आदिवासियों की बढ़ती संगठनात्मक शक्ति को सत्तारूढ़ कांग्रेस पार्टी के नेताओं द्वारा एक गंभीर खतरा माना जाने लगा। दो उप-मुख्यमंत्रियों सहित कई कैबिनेट मंत्री, इस क्षेत्र से थे, और वे लोकतंत्र के नाम पर जिस तरह की भ्रष्टाचारी राजनीति कर रहे थे, उनको लगा कि इस बढ़ती लोकशक्ति से आगे चलकर उनकी हार अवश्यंभावी है। ऊपर से औपनिवेशिक चरित्र की नौकरशाही तो हमेशा लोगों की लामबंदी के खिलाफ ही रहा है। संगठन बनने के शुरुआती चरणों में मुख्यधारा के राजनेता अपने निर्वाचकों को नाराज करने के डर से लोगों के खिलाफ नहीं जा सकते थे। लेकिन धीरे-धीरे, जैसे-जैसे आंदोलन उनके आधिपत्य और उनके राजनीतिक ठिकानों को चुनौती देने लगा, वे शंकित होकर औपनिवेशिक दमन बरपाने लगे। सहकारी बैंक अधिकारियों के खिलाफ जन कार्रवाई के बाद शासकों और प्रशासकों ने दमनात्मक कदम उठाने लगे।

इसके बाद अगस्त 1997 में संगठन पर बड़े पैमाने पर पुलिस कार्रवाई हुई। कांग्रेस पार्टी के एक आदिवासी ब्लॉक अध्यक्ष और कुछ संगठन के कार्यकर्ताओं के बीच निजी विवाद के दौरान एक

जानलेवा झड़प हुई जिसमें काँग्रेस का ब्लॉक अध्यक्ष की हत्या हो गई। कई सदस्यों और कार्यकर्ताओं के खिलाफ झूठे आरोप लगाए गए। कई क्षेत्रों में, संगठन के आदिवासी सदस्यों को पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर पिटाई की गई और अन्यों को इससे बचने के लिए जंगलों में भागना पड़ा। आस-पास के क्षेत्रों के संगठन और देश भर के मानवाधिकार संगठन सहायता के लिए कूद पड़े। 18 सितंबर, 1997 को, खरगोन जिले में प्रशासन द्वारा किए जा रहे अत्याचारों के विरोध में पश्चिमी मध्य प्रदेश के आदिवासी संगठनों ने इंदौर में एक विशाल जुलूस निकाली। हजारों पुरुष और महिलाएं खतरे की उपेक्षा करते हुए जुलूस में आए। इसने बड़े पैमाने पर दुनिया और विशेष रूप से प्रचार माध्यमों का ध्यान आकर्षित किया सरकार द्वारा कानून के उल्लंघन कर आदिवासियों पर किया जा रहा दमन की ओर। प्रचार माध्यमों ने नौकरशाही और सरकार द्वारा आदिवासी संगठनों की जायज मांगों की अवहेलना को बखूबी उजागर किया।

आदिवासी शक्ति संगठन को भी निशाना बनाया गया। इसके सदस्यों के खिलाफ असंख्य झूठे मामले दर्ज किए गए थे और उन्हें प्रशासन द्वारा जुलूस निकालने और उनकी शिकायतों को दूर करने के लिए सार्वजनिक बैठकें आयोजित करने से रोका गया था। जब 24 और 25 नवंबर, 1997 को सेंधवा और बरवाह के कस्बों में बड़े पैमाने पर जुलूस निकालने की योजना बनाई गई थी, तो प्रशासन ने पूरे खरगोन जिले में पांच या अधिक व्यक्तियों की सभा को रोकने के लिए अपराध प्रक्रिया संहिता की धारा 144 लागू कर दी। इस प्रतिबंध को लागू करने के लिए अन्य जिलों से कुछ 3,000 पुलिस कर्मियों का भारी बल लाया गया था। चूंकि इस तरह की बड़े पैमाने पर निकाले गए सार्वजनिक जुलूस प्रशासन की मनमानी की पोल खोल देती है, इसलिए यह हमेशा उन्हें रोकने की कोशिश करती है ताकि असंतोष की आवाजें नहीं उठे।

पश्चिमी मध्य प्रदेश के सभी आदिवासी संगठनों ने इस दमन को चुनौती के रूप में ली और प्रतिबंध के बावजूद जुलूस निकालने और सार्वजनिक सभा करने का फैसला किया। सेंधवा में जुलूस में भाग लेने जा रहे पुरुषों और महिलाओं से भरी एक जीप को 24 नवंबर, 1997 की रात 2.30 बजे काटकुट में पुलिस ने रोक दिया और चालक के साथ गिरफ्तार कर लिया। उनकी जीप को अपराध प्रक्रिया संहिता की धारा 144 के प्रावधानों के दुरुपयोग कर जब्त किया गया। संगठन की महिलाओं ने काटकुट में पुलिस चौकी के सामने धरना दिया और गिरफ्तार लोगों की रिहाई के लिए आंदोलन किया और प्रशासन की मनमानी का विरोध किया। निमाड़ में ऐसा पहली बार हो रहा था, जब सैकड़ों लोग 24 घंटे पुलिस चौकी के सामने बैठे थे, ठंड और बारिश को नजर अंदाज करते हुए। तुरंत, पुलिस कर्मियों और गैर-आदिवासियों ने महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार करना शुरू कर दिया और उन्हें गंदी गालियां देने लगा। पुलिस चौकी उस समय गैर-आदिवासियों की पंचायत में स्थित थी और इसके दो द्वार थे। महिलाएं पुलिस के दुर्व्यवहार और गैर-आदिवासियों के विरोध में एक द्वार के सामने धरने पर बैठ गईं। काटकुट में आए कार्यकारी मजिस्ट्रेट ने गैर-आदिवासियों के खिलाफ हस्तक्षेप करने से यह कहते हुए इनकार कर दिया कि महिलाओं को पंचायत के सामने से हट जाना चाहिए। गैर-आदिवासियों का पक्ष लेने के लिए मजिस्ट्रेट को सार्वजनिक रूप से तिरस्कार करने के लिए सुभद्रा के खिलाफ दो झूठे पुलिस मामले दर्ज किए गए थे।

8 जनवरी 1998 की सुबह काटकुट में महिलाओं के एक समूह जुलूस निकालकर पुलिस चौकी पहुंची और विभिन्न झूठे मामलों में उन्हें गिरफ्तार किया जाए यह मांग रखी। उन्होंने नारे लगाए, "सरकर नी जेल में कतरी जगह बाकि छे, देखने छे देखने छे" - हम देखना चाहते हैं कि सरकार की जेलों में कितनी जगह बची है। इन महिलाओं ने जमानत करवाने के बजाय जेल जाकर सरकारी उदासीनता और दमन के खिलाफ संघर्ष शुरू करने का फैसला किया था। इस संघर्ष में पहली जीत पुलिस चौकी पर ही जीती गई, जब पुलिस ने उन सभी बीस महिलाओं को गिरफ्तार करने से इनकार कर दिया, जिनके खिलाफ मामले दर्ज थे और केवल 8 महिलाओं की गिरफ्तारी ली। गिरफ्तार महिलाओं ने बाद में अदालत में भी नारेबाजी की और मजिस्ट्रेट ने जब आपत्ति की तो उन्हें बताया कि ऐसा करने का उन्हें अधिकार था।

जब भी उन्होंने विरोध किया तो संगठन के सदस्यों को झूठे मामलों में फंसाया गया; यहां तक कि न्यायिक मजिस्ट्रेटों ने कानूनी प्रावधानों और सर्वोच्च न्यायालय के निर्देशों की अवहेलना करते हुए उन्हें जमानत पर रिहा करने के बजाय उन्हें जेल भेज दिए। आमतौर पर संगठन के सदस्य गिरफ्तारी का विरोध करते थे, जिससे पुलिस को छापेमारी करने के लिए मजबूर होना पड़ता था। आखिरकार, इससे स्थानीय पुलिस की शक्ति कम हो गई। पर महिलाओं का यह समूह हालांकि फैसला किया कि वे गिरफ़्तारी का विरोध करने के बजाय जेल जाएंगे और वहां से अपनी लड़ाई लड़ेंगे।

संगठन के सदस्यों ने स्वेच्छा से गिरफ्तारी दी और "जेल भरो" आन्दोलन शुरू किया प्रशासन को यह दिखाने के लिए कि वे जेल जाने से डरते नहीं थे। सुभद्रा ने बाद में 11 जनवरी 1998 से जेल में भूख हड़ताल शुरू कर दी, यह बताते हुए कि एक दलित महिला के रूप में उन्हें संविधान में जीवन और स्वतंत्रता का जो आश्वासन दिया गया है वह झूठा है और इसके बजाय जेल में मार जाना ही और सही है। उसकी मांग थी कि संगठन के गिरफ्तार सदस्यों को जेल से निजी मुचलके पर रिहा किया जाए, उनके खिलाफ दर्ज किए गए सभी ग्यारह झूठे मुकदमों को वापस लिया जाए और आदिवासियों के शांतिपूर्ण प्रदर्शन के अधिकार को बहाल किया जाए।

संगठन के बाकी सदस्य, जो बाहर थे, इस अवधि में बड़वाह में जेल के अंदर बंद लोगों के संघर्ष के समर्थन में आदिवासी मुक्ति संगठन के सदस्यों के साथ एक विशाल जुलूस निकालकर सक्रिय रहे। इसके बाद खरगोन जिले के जिला मजिस्ट्रेट और पुलिस अधीक्षक के स्थानांतरण की मांग करते हुए इंदौर में संभागीय आयुक्त कार्यालय के सामने धरना दिया। प्रशासन ने उस अवसर पर आश्वासन दिया था कि झूठे मुकदमे वापस ले लिए जाएंगे और आगे आदिवासियों का उत्पीड़न नहीं होगा। चुनाव आयोग के कहने पर अधीक्षक और जिला मजिस्ट्रेट का भी तबादला कर दिया गया और सुभद्रा ने ग्यारह दिनों के बाद अपना अनशन तोड़ दिया।

दमन, हालांकि, खत्म नहीं किया गया और संगठन के सदस्यों के खिलाफ दो और झूठे मामले दर्ज किए गए। यह उस व्यक्त हुआ जब काटकुट में पढ़ने वाली आदिवासी लड़कियों के लिए छात्रावास का संचालन में हो रही गड़बड़ी को सुधारने संगठन ने कदम उठाया। काटकुट में सरकारी आदिवासी कन्या छात्रावास की गैर-आदिवासी अधीक्षिका एक दशक से अधिक समय से छात्रावास को चलाने में वित्तीय

अनियमितता कर रही थी, जिसके परिणामस्वरूप छात्राओं की जीवन यापन की स्थिति खराब हो गई, जिससे उनकी शिक्षा प्रभावित हुआ। संगठन के कुछ सदस्य, जिनकी बेटियाँ स्कूल में पढ़ रही थीं, ने मिल कर खरगोन में आदिवासी विभाग के संयुक्त निदेशक को अनियमितताओं के बारे में एक विस्तृत रिपोर्ट सौंपी। विभाग के अधिकारी ने जांच की और छात्राओं को शिकायत न करने की चेतावनी देने दी! इसके बाद अधीक्षिका ने न केवल लड़कियों को छात्रावास में बंद कर दिया, बल्कि उन्हें भोजन से भी वंचित करना शुरू कर दिया।

संगठन के कार्यकर्ताओं ने सतर्कता से आगे बढ़ा और सबसे पहले लड़कियों को काटकुट में पुलिस अधिकारी को एक लिखित शिकायत देने को कहा और उसकी एक प्रतिलिपि संगठन को देने को कहा। इसके बाद ग्राम सभा की बैठक में छात्रावास के संचालन की जाँच के लिए एक औपचारिक प्रस्ताव पारित किया गया। एक जांच समिति गठित की गई जिसने छात्रावास जाकर लड़कियों के साथ-साथ अधीक्षिका के साथ विचार-विमर्श किया। जांच दल ने खरगोन में आदिवासी विभाग के संयुक्त निदेशक को एक प्रति के साथ अधीक्षिका को एक औपचारिक रिपोर्ट सौंपी, जिसमें उन्होंने सिफारिश की कि वह छात्रावास की खेदजनक स्थिति को सुधारने के लिए कदम उठाए।

इसके बाद, लड़कियों ने कुछ आदिवासी शिक्षकों की मदद से छात्रावास का प्रबंधन खुद संभालने का फैसला किया। छात्रावास चलाने का पैसा प्रशासन द्वारा एक बैंक खाते में जमा किया जाता था, जिसे दो वरिष्ठ छात्राओं द्वारा संयुक्त रूप से संचालित किया जाता था। अधीक्षिका इन छात्राओं से हर महीने चेक पर हस्ताक्षर करवाकर सारे पैसे निकालती थी। लड़कियों ने अब खुद ही पैसे निकालने शुरू कर दिए और रिकॉर्ड रखकर इस पैसे से छात्रावास की गतिविधियों को प्रबंधित किया।

इससे पहले अधीक्षिका खरगोन में उच्च अधिकारियों और स्थानीय राजनीतिक नेताओं को रिश्वत देकर अपनी भ्रष्ट कामों को कहलाती थी। अब, उसके संकट की घड़ी में, उसने उनकी ओर रुख किया। वे उसे छात्रावास की जांच करने वाले संगठन के कार्यकर्ताओं के खिलाफ उसके साथ दुर्व्यवहार करने का झूठा मामला दर्ज कराने के लिए कहा। संगठन के पांच सदस्यों को अधीक्षिका के साथ दुर्व्यवहार करने और उसे जान से मारने की धमकी देने के आरोप में मामला दर्ज किया गया। पुलिस ने एक के बाद एक आरोपियों को गिरफ्तार करना शुरू किया और जेल भेजने से पहले उनकी पिटाई की।

संगठन की महिलाओं ने एक बार फिर हस्तक्षेप किया। जब तीसरे व्यक्ति को गिरफ्तार किया गया और उसकी पिटाई की गई, तो महिलाओं ने पुलिस चौकी के सामने एक और धरना दिया और पुलिस को गिरफ्तार व्यक्ति को अदालत में ले जाने से रोका। भले ही तहसीलदार और अनुविभागीय पुलिस अधिकारी ने महिलाओं को आश्वासन दिया कि भविष्य में इस तरह की गैरकानूनी कार्रवाई नहीं होगी और उनके खिलाफ कोई मामला दर्ज नहीं किया जाएगा, फिर भी एक और मामला संगठन के पंद्रह सदस्यों के खिलाफ दर्ज किया गया जिसमें सुभद्रा और मुझे भी पुलिसकर्मियों को जान से मारने की धमकी देने के आरोप में फँसाया गया।

सभी आरोपी तुरंत लंबे संघर्ष की तैयारी में भूमिगत हो गए। इंदौर में एक जुलूस निकालने के बाद एक समाचार वार्ता बुलाई गई, जिसमें सैकड़ों महिलाओं ने भाग लिया और मांगों को सूचीबद्ध कर

संभागीय आयुक्त को ज्ञापन सौंपा कि प्रशासन उचित प्रजनन स्वास्थ्य सुविधाएं प्रदान करें, अवैध शराब की बिक्री को रोकें और दमनकारी नीतियों को खत्म करें। गौरतलब है कि मध्यप्रदेश में प्रजनन-स्वास्थ्य और अधिकारों के समर्थन में महिलाओं की यह पहली सामूहिक जुलूस थी। संभागीय आयुक्त ने शुरू में यह मानने से इनकार कर दिया कि पुलिसकर्मी आदिवासी महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार कर सकते हैं और उलटे कार्यकर्ताओं को कहा कि संगठन के सदस्यों ने बड़े जमींदारों के खेत में न्यूनतम मजदूरी के मांग को लेकर हड़ताल कर उनका कपास को नुकसान पहुंचाकर राष्ट्र को क्षति पहुंचाई है। यानि आदिवासियों के पास काम वेतन पर काम कर अगर खाने के लिए नहीं हो तो कोई हर्ज नही पर वे बड़े किसानों को नुकसान नहीं पहुँच सकते है!

काम कृषि मजदूरी की समस्या बहुत गहरी है। आधुनिक कृत्रिम तत्त्वों पर आधारित हरित क्रांति कृषि की लगातार बढ़ती लागत, घटती पैदावार, और काम होते अनुदान के कारण इसमें कृषकों को लाभ नहीं मिलता है। बड़े किसान कृषि मजदूरों को निर्धारित न्यूनतम वेतन का भुगतान करने में अनिच्छुक हैं क्योंकि इससे उनका मुनाफा कम हो जाएगा। शासक वर्ग की प्राथमिकता, जिसे संभागयुक्त व्यक्त कर रहा था, यह है कि कृषि मजदूरों को वैधानिक न्यूनतम मजदूरी से वंचित कर उत्पादन को अधिकतम बनाए रखना है।

उस समय विकास विशेषज्ञों द्वारा यह सुझाव दिया गया था कि हाल के दिनों में सूचना प्रौद्योगिकी और अन्य उच्च-तकनीकी औद्योगिक और सेवा क्षेत्रों में भारत की प्रगति पूंजीवादी विकास की गतिशीलता का संकेत है कि इसकी छिपी क्षमता की कोई सीमा नहीं है और इसलिए इसे आगे अप्रतिबंधित उड़ान दी जानी चाहिए। पहल स्वरूप कृषि से जुड़ी समस्याओं को नजरअंदाज कर दिया जाता था यह सोच कर कि वे खुद दूर हो जाएंगे। पर कृषि क्षेत्र का गंभीर संकट और इसके परिणामस्वरूप बहुत सारे लोगों की आजीविका की समस्याओं को पूँजीवादी विकास के माध्यम से हल नहीं किया जा सकता है क्योंकि इस विकास ने ही इस संकट को खड़ा किया है। भारत में शहरों में पूंजीवादी विकास हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप केवल भारतीय अभिजात वर्ग लाभान्वित हुआ जबकि राज्य की जन विरोधी नीतियों के कारण काटकुट की आदिवासी महिलाओं जैसे ग्रामीण गरीबों की स्थिति और खराब हुई है।

उनकी मांगों और दलीलों के प्रशासन द्वारा लगातार अस्वीकृति ने महिलाओं को भूख हड़ताल शुरू करने के लिए मजबूर किया। जून 1998 में, अठारह भील महिलाएं पुलिस दमन को समाप्त करने और झूठे मामलों को वापस लेने, पर्याप्त स्वास्थ्य सेवाओं के प्रावधान करने और क्षेत्र के गैर-आदिवासी लोगों के शोषण के खिलाफ कार्रवाई की मांग को लेकर अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल पर बैठी। पुलिस प्रशासन विशेष रूप से दमनकारी तरीकों को समाप्त करने से इनकार कर रहा था, खासकर जब से संगठन ने प्रभावी ढंग से उनके भ्रष्ट और दमनकारी कार्यों को रोक दिया था। खरगोन जिले के पिछले पुलिस अधीक्षक ने स्पष्ट रूप से कहा था कि वह अपने कर्मचारियों को आदिवासी जनता की संगठित शक्ति से भयभीत नहीं होने दे सकते। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के इस आश्वासन पर

कि संगठन द्वारा किए गए मानवाधिकारों के उल्लंघन की शिकायतों की एक स्वतंत्र जांच की जाएगी, अंततः 10 जून को हड़ताल को खत्म कर दिया गया।

लगातार राज्य उत्पीड़न के विरोध में, महिलाओं ने कंसारी नू वदावनों, यानि कंसारी के सम्मान में नामक संगठन का गठन किया। कंसरी देवी जीवन शक्ति प्रदान करने वाला भीलों का प्रधान खाद्यान्न ज्वार का प्रतीक है। इस तरह, महिलाएं नारी शक्ति के महत्व पर बल दे रही थीं और पारंपरिक भीली कृषि के संरक्षण की आवश्यकता पर बल दे रही थी। हालांकि ज्वार एक समय कृषि का मुख्य आधार हुआ करता था लेकिन पर्यावरणीय रूप से अस्थिर, पौष्टिक रूप से अवांछनीय पर व्यावसायिक रूप से अधिक लाभदायक सोयाबीन की खेती के फैलने के कारण वह धीरे-धीरे लुप्त हो रहा था।

यह दिलचस्प बात है कि ये आदिवासी संघर्ष उसी समय हो रहा था जब मेक्सिको में वहाँ के आदिवासी लोगों का चियापास आंदोलन हो रहा था। दोनों आंदोलन को केंद्रीकृत राज्यों से दमन का सामना करना पड़ा और आधुनिक औद्योगिक विकास के लालच और विनाश के खिलाफ जो संघर्ष इनके द्वारा शुरू किए गए थे वे सफल नहीं हो सके।

राज्य दमन, भले ही संगठन की प्रक्रिया को पूरी तरह से कुचलने में सक्षम नहीं था, फिर भी आदिवासियों द्वारा किए जा रहे संगरक्षों पर लगाम लगाने में राज्य को सफलता मिली। काटकुट में, महिलाएं इसके बाद अवैध शराब की बिक्री के खिलाफ कार्रवाई करने में सक्षम नहीं रही और यह फिर से शुरू हुई। पुरुषों ने फिर से शराब पीना शुरू कर दिया। जो शराब के उपभोग और बिक्री पर सामाजिक नियंत्रण और महिलाओं के पितृसत्तात्मक उत्पीड़न पर रोक स्थापित किया गया था वह ढील हो गया। शराबखोरी से सबसे ज्यादा पीड़ित महिलाएं, गांधी के समय से ही भारत में असंख्य शराबबंदी आंदोलनों में भाग ली हैं। कई अवसरों पर, ये अभियान सफल हुए हैं। आंध्र प्रदेश में शराब विरोधी अभियान सरकार द्वारा चलाए जा रहे साक्षरता अभियान से शुरू हो गया था। इस को विफल करने के सरकार के प्रयासों के बावजूद यह एक बड़ा आंदोलन बना और शराबबंदी लागू करनी पड़ी। हालाँकि यह निषेधाज्ञा बाद में आंध्र प्रदेश में वापस ले ली गई थी। गुजरात में, जहां शराबबंदी अभी भी जारी है, शराब आसानी से उपलब्ध है।

राज्य शराबखोरी को प्रोत्साहित करता है क्योंकि यह राजस्व का एक महत्वपूर्ण स्रोत है और पुलिस शराब की अवैध बिक्री को नहीं रोकती है क्योंकि वे व्यक्तिगत रूप से इससे लाभान्वित होते हैं। अवैध शराब बिक्री के लिए अधिक महत्वपूर्ण कारण यह है कि यह समाज में शक्तिशाली वर्गों के हित में है कि गरीब और उत्पीड़ित लोग अपनी स्थिति में सुधार के लिए संगठित सामूहिक कार्रवाई के बदले शराब में अपनी निराशा को डुबो दें।

इस प्रकार गरीब आदिवासी महिलाओं की समस्याओं का कोई आसान समाधान नहीं है। महिला सशक्तीकरण नारीवादियों के बीच एक चर्चा का विषय बन गया है और पुरुषवादी व्यवस्था भी इस चर्चा में शामिल होती है। अधिक प्रगतिशील नारीवादियों द्वारा पितृसत्तात्मक व्यवस्था को खत्म करने की क्रांतिकारी मांग की जाती है जबकि आम तौर पर व्यवस्था के अंदर ही महिलाओं को कुछ

सहूलियत मिल जाए इसका प्रयास किया जाता है। प्रगतिशील महिलवादी पुरुषों के पक्ष वाले श्रम के लिंग विभाजन और महिलाओं की यौनिकता पर पुरुशों का नियंत्रण, जो पितृसत्तात्मक उत्पीड़न की जड़ में है, को बदलने की बात करती है। जब कि व्यावहारिक महिलवादी इन दोनों चीजों को स्वीकार करते हैं और पितृसत्तात्मक संरचनाओं को चुनौती दिए बिना महिलाओं की परेशानियों को कम करने की कोशिश करती है इस उम्मीद के साथ कि शिक्षा और रोजगार के अवसरों में वृद्धि धीरे-धीरे सुधार लाएगी। इन दोनों से अलग जमीनी परिप्रेक्ष्यवाले महिलवादी इस बात पर जोर देते है कि सशक्तिकरण ऊपर से थोपे जाने के बजाय उत्पीड़ित समुदाय के भीतर की एक प्रक्रिया होनी चाहिए। इस प्रकार, महिलाओं को खुद की जरूरतों पर फैसला करनी चाहिए, चाहे वह प्रगतिशील हो या व्यावहारिक।

जमीनी स्तर पर व्यावहारिक और प्रगतिशील लैंगिक जरूरतों के बीच चुनने की यह समस्या निमाड़ की भील महिलाओं के संघर्ष में भी देखने को आया जहां आदिवासी छात्राओं की मांग कि उन्हें अपने छात्रावासों में उचित भोजन दिया जाए भी राज्य को मंजूर नहीं था। यहां तक कि महिलाओं को भी नहीं बख्शा जाता है यदि वे राज्य को चुनौती पहुंचाती हैं स्वयं को पितृसत्तात्मक उत्पीड़न से मुक्त करने के लिए। दुखदायी वास्तविकता यह है कि हर जगह गरीब महिलाएं वैश्विक पूंजीवादी औद्योगिक विकास और पितृसत्तात्मक उत्पीड़न के एक शातिर संयोजन से पीड़ित हैं।

हमारे काम के शुरुआती चरणों में स्थानीय खंड विकास अधिकारी द्वारा हम से मदद ली गई थी विकास योजनाओं के लिए पत्र ढूँढने के लिए। पर बाद में स्थितियाँ नाटकीय रूप से बदल गईं जब महिलाएं संगठित रूप से विकास सेवाओं को एक अधिकार के रूप में मांगने लगीं। अगर आप राज्य से भीख मांगते हो तो आप को बर्दाश्त किया जाएगा पर आप अगर हक जताते हो तो आपको सूली पर चढ़ाया जाएगा!

इस बीच, अनुसूचित क्षेत्रों में पंचायत प्रावधान विस्तार अधिनियम (पेसा) सन 1996 में पारित किया गया था। डॉ बी डी शर्मा के नेतृत्व में भारत जन आंदोलन द्वारा चलाया गया एक निरंतर अभियान के परिणामस्वरूप यह हुआ था। मध्य प्रदेश पंचायती राज अधिनियम में 1997 में पेसा के अनुसार संशोधन किया गया था। बाद में 1998 में, अधिनियम के कार्यान्वयन के नियमों को भी तैयार किया कर राजपत्र में प्रकाशित किया गया था।

पहली बार, इस अधिनियम ने आदिवासी क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर संगठनों को ग्राम स्व-शासन के लिए एक शक्तिशाली कानूनी साधन प्रदान किया। स्थानीय प्रशासन का जन विरोधी रुख को देखते हुए इस नए अधिनियम के प्रावधानों का उपयोग ग्रामीण गतिशीलता की एक मजबूत कार्यक्रम में किया गया जो तुरंत फल देने लगा। भले ही सुभद्रा और मैंने 1998 के बाद काटकुट क्षेत्र छोड़ कर इंदौर आ गया लेकिन पेसा के अनुसार ग्राम स्वराज्य की स्थापना के लिए आंदोलन इस क्षेत्र में तीन और वर्षों तक जारी रहा। पुरुषों और महिलाओं दोनों ने संघर्ष को चरम पर ले गया और आखिरकार, राज्य ने 2 अप्रैल, 2001 को मेहेन्डीखेरा गांव में इस आंदोलन को कुचलने के लिए अवैध दमन का सहारा लिया।

अध्याय 19 – आज के आधुनिक सिसिफस

एक यूनानी किंवदंती है कि कोरिंथ शहर के राजा सिसिफस को नर्क में एक पहाड़ पर बार बार एक भारी चट्टान को धकेल कर चढ़ाने का शाप दिया था। ऊपर पहुँचने के बाद चट्टान वापस लुड़ककर नीचे आ जाता था और उसे फिर चढ़ाना पड़ता था। सिसिफस को यह सजा इसलिए मिली थी क्योंकि वह नदियों के भगवान एसोपस के कहने पर उसकी बेटी को, जिसका अपहरण नरक के भगवान प्लूटो द्वारा किया गया था, छुड़ाने में उसकी मदद की थी। सिसिफस ने एसोपस की मदद इस शर्त पर की थी कि वह कोरिंथ को पानी मुहैया कराएगा। इस प्रकार, अपने लोगों के लिए पानी सुनिश्चित करने के बदले में, सिसिफस ने देवताओं के प्रकोप को झेल कर ताउम्र नरक में पहाड़ पर चट्टान चढ़ाते रहा। इसी तरह, पर्यावरणीय जन आंदोलनों के कार्यकर्ताओं ने भी देश के लिए अधिक टिकाऊ और विकेंद्रीकृत जल संसाधन प्रबंधन सुनिश्चित करने की कोशिश में आधुनिक विकास के झूठे भगवानों के प्रकोप झेल रहे है।

1991 में संघर्ष यात्रा की असफलता और भाजपा सरकार द्वारा दमन के बाद, जिसके कारण घाटी में बड़े पैमाने पर जनाधार का क्षरण हुआ, नबआ ने दुनिया भर में शहरी लोगों के बीच व्यापक आधार बनाया। इन सब के प्रयासों के परिणामस्वरूप, विश्व बैंक द्वारा स्वतंत्र समीक्षा करवायी गई जिसमें सरदार सरोवर बांध के आकल्पन और निर्माण में बहुत सारी खामियाँ पायी गई और बांध का काम रोकने की सिफारिश की गई। विश्व बैंक के दबाव में, भारत सरकार को बांध के लिए ऋण की शेष किस्तों को लेने से मना करना पड़ा। जापान सरकार ने भी जापान से बिजली पैदा करने वाले टर्बाइनों की खरीद के लिए जो ऋण देने की पेशकश की थी, उसे वापस ले लिया।

विश्व बैंक की बांध के निर्माण के लिए ऋण देने से मना करने से नबआ के कार्यकर्ताओं में उत्पन्न उत्साह अल्पकालिक था, क्योंकि गुजरात सरकार अपने संसाधनों और सार्वजनिक ऋणों से बांध के पर काम जारी रखा। बांध की ऊँचाई लगातार बढ़ने के कारण, इसके पीछे के गाँव धीरे-धीरे डूबने लगे। परिणामस्वरूप, महाराष्ट्र के पहले गांव, मणिबेली की भूमि को 1991 के वर्षा मौसम में जलमग्न होना था। इसलिए मेधा ने देश और दुनिया के शहरी लोगों, आदिवासियों और निमारी किसानों के एक दल का नेतृत्व करते हुए एक सत्याग्रह शुरू की। "नर्मदाई" नामक एक झोपड़ी को विशेष रूप से मणिबेली में इस उद्देश्य से बनाया गया था, कि नर्मदा के पानी के आने पर सत्याग्रही उसमें डूब जाएंगें। भारी पुलिस की मौजूदगी के बावजूद, पूरे समय घाटी से आने जाने वाले लोगों ने सत्याग्रह बरकरार रखा और नर्मदाई को आबाद रखा। पूरी कार्यवाही को प्रचार की दृष्टि से शानदार सफलता मिली। वर्षा ऋतु के दौरान पानी केवल झोपड़ी से पंद्रह फीट की दूरी तक आया, और इसलिए डूबने की वास्तविक परीक्षा नहीं हुई। यह बाद में "मणिबेली सत्याग्रह" के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

वर्षा ऋतु के बाद बांध का निर्माण कार्य फिर से शुरू हो गया, और 1992 में अगले मानसून के समय तक यह स्पष्ट हो गया कि नर्मदाई झोपड़ी डूब जाएगी। मणिबेली के हर ग्रामीण नबआ के साथ नहीं था। कुछ लोगों को पहले गुजरात में बसाया गया था। सरकार ने मार्च 1992 में उनके घरों और सामानों को उनके पुनर्वास स्थान पर ले जाने के लिए भारी पुलिस बल का इस्तेमाल किया। पुलिस ने

इसे नर्मदाई झोपड़ी में बैठे नबआ के समर्थकों पर हमला करने के बहाने के रूप में लिया और लगातार लोगों के साथ झड़पों के बाद दो सौ से अधिक लोगों को जेल में डाल दिया और नर्मदाई झोपड़ी को भी ध्वस्त कर दिया। यह दमन पूरे वर्षा ऋतु के दौरान जारी रहा। मणिबेली में एक पुलिस दल तैनात किया गया था ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि झोपड़ी का पुनर्निर्माण उसी स्थान पर नहीं हो। इसलिए इसे एक अन्य ऊंचा स्थान पर बनाया गया। आंजनबारा गाँव के लोगों को, जो नवनिर्मित झोपड़ी में सत्याग्रह करने गए थे, पुलिस ने गिरफ्तार कर जेल भेज दिया। घाटी के बाहर से कई समर्थकों ने भी घाटी के लोगों के साथ एकजुटता में जेल गए।

हालांकि, इस सबका सरकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और मानसून के बाद बांध पर काम फिर से शुरू हो गया। मेधा ने निमाड़ के एक बांध प्रभावित व्यक्ति, देवरामभाई के साथ, जून 1993 में मुंबई में भूख हड़ताल शुरू की। वे मांग रहे थे कि बांध पर काम रोका जाए और उसकी पूरी समीक्षा की जाए। चौदह दिनों के बाद, केंद्रीय जल संसाधन मंत्री ने विशेषज्ञों की एक स्वतंत्र समिति द्वारा बांध की व्यापक समीक्षा करने के लिए सहमत हुए, लेकिन उन्होंने बांध पर काम रोकने का आश्वासन नहीं दिया। इस समझौते पर भूख हड़ताल वापस ले ली गई। जुलाई 1993 में वर्षा की शुरुआत के साथ, मणिबेली में आदिवासियों के घर जलमग्न होने लगे, लेकिन ग्रामीणों ने अपनी झोंपड़ियों में रहकर एक शानदार प्रदर्शन किया और तेजी से बढ़ते पानी में डेट रहे। सुभद्रा के माता-पिता और पहले बने कई अन्य बांधों के प्रभावित लोगों ने इस प्रकार विरोध नहीं किए थे और बहुत आसानी से सरकार द्वारा विस्थापित किए गए थे। पुलिस ने इसके बाद मणिबेली निवासियों को जबरन उनके घरों से निकालकर पहाड़ के ऊपर टिन शेडों में ले गया जो इस उद्देश्य के लिए बनाए गए थे। नर्मदा के पानी ने झोपड़ियों और उनके सभी सामानों को डुबो दिया। मणिबेली के विठ्ठलभाई ने घोषणा की कि उन्होंने इसे बिल्कुल भी नुकसान नहीं माना क्योंकि उन्होंने सरकार को अपनी संपत्ति भिक्षा दी है जैसे कि वह एक भिखारी था।

गुजरात सरकार की असहिष्णुता और केंद्रीय जल संसाधन मंत्रालय में नौकरशाही ढिलाइ का मतलब था कि बांध की वादा की गई समीक्षा पर काम शुरू नहीं किया गया। साथ ही मणिबेली और बामनी गांवों के जलमग्न होने से नबआ को यह घोषणा करने के लिए मजबूर होना पड़ा कि मेधा अन्य कार्यकर्ताओं और ग्रामीणों के साथ "जल समर्पण" करेगी और मांग मंजूर नहीं होने पर खुद को नर्मदा में डुबो देगी। मेधा, तब अपनी लोकप्रियता के चरम पर थी। मुझे इस बात का अहसास तब हुआ जब एक बार रेल यात्रा के समय मेरे सह-यात्रियों ने देश में शासन की स्थिति के बारे में बात करना शुरू कर दिया। वे मुख्यधारा के राजनीतिक दलों के नेताओं और नौकरशाही की ईमानदारी और संवेदनशीलता की कमी की आलोचना की और सभी ने सहमति व्यक्त की कि देश को मेधा पाटकर जैसे महिला चाहिए जिसने भ्रष्ट राजनेताओं और नौकरशाहों के खिलाफ हिम्मत से लड़ रही थी। वे अंत में बोले कि यदि मेधा के समर्थन में अधिक लोग आ जाते तो भारत की तस्वीर बेहतर हो जाएगी। पूरे देश और विदेशों में, ऐसे कई लोग थे जो मेधा के बारे में ऐसा महसूस करते थे। इसलिए उसकी कुशलता के बारे में बहुत लोग चिंतित हो गए जब उसने नर्मदा में खुद को डूबने का संकल्प

लिया। मेधा जल समर्पण न करे यह सुनिश्चित करने के लिए महाराष्ट्र सरकार नदी के किनारे बड़ी संख्या में पुलिस तैनात कर दी।

मेधा पाटकर ने भूमिगत होकर घोषणा की कि अगर बांध का निर्माण को नहीं रोका जाता वह किसी उपयुक्त स्थान पर नदी में कूद जाएंगी। संसद सत्र उस समय चल रहा था और उस में हंगामा हो गया। फिर 1993 में सरकार ने आखिरकार बांध परियोजना की समीक्षा के लिए पांच स्वतंत्र विशेषज्ञों की एक टीम का गठन किया पर काम को रोकने का कोई ठोस आश्वासन नहीं दिया। मेधा ने समीक्षा समिति के गठन की घोषणा पर अपना जल समर्पण आंदोलन को वापस ले लिया और गुजरात में प्रकट हुई जहाँ उसे गिरफ्तार कर लिया गया। गुजरात सरकार ने इस समीक्षा समिति के साथ सहयोग करने से इनकार कर दिया और वर्षा ऋतु के बाद एक बार फिर से बांध का निर्माण शुरू कर दिया समीक्षा प्रक्रिया भले ही चल रही थी। नवंबर 1994 में भोपाल में मध्य प्रदेश सरकार पर बांध परियोजना से हटने का दबाव बनाने और इसे खत्म करने की मांग को लेकर एक धरना आयोजित किया गया था। जब इस मांग को मध्य प्रदेश सरकार मानने से इनकार किया तब मेधा कुछ अन्य बांध प्रभावित व्यक्तियों के साथ भूख हड़ताल पर बैठ गईं। जब तीन सप्ताह के बाद मेधा की हालत गंभीर होने लगी, तो पुलिस ने सभी भूख हड़ताल करने वालों को गिरफ्तार कर लिया और उन्हें एक अस्पताल में ले गया, जहां उन्हें जबरन ड्रिप लगाई गई।

प्रतीकात्मक सामूहिक कार्यवाही और पैरवी के माध्यम से बांध का काम बंद होने की बहुत कम संभावना को देखते हुए, नबआ ने कानूनी कार्रवाई का सहारा लिया और मई 1994 में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग और भारत के सर्वोच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटाया। दोनों ने इसका संज्ञान लिया। नबआ द्वारा उठाए गए मुद्दों पर संबंधित सरकारों को नोटिस जारी किए गए। चूंकि दोनों जगहों में एक साथ कार्यवाही जारी रखना कानूनी रूप से संभव नहीं था, इसलिए बाद में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग से याचिका वापस ले ली गई। सर्वोच्च न्यायालय ने सभी पक्षों को सुनने के बाद, 13 दिसंबर, 1994 को, जिस दिन भोपाल में मेधा और उनके सह-भूख हड़ताल करने वालों को गिरफ्तार किया गया था, निर्णय किया कि उन तथ्यों और तर्कों की समीक्षा करेंगे जिसके आधार पर सरदार सरोवर परियोजना का निर्माण किया जा रहा था। । सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय के बाद मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री ने 16 दिसंबर को घोषणा की कि उनकी सरकार भी बांध की समीक्षा करेगी। इस आश्वासन पर, मेधा और उनके सहयोगियों ने अपनी भूख हड़ताल वापस ले ली। बाद में मई 1995 में, सर्वोच्च न्यायालय ने मामले की सुनवायी चलने तक के लिए बांध के निर्माण पर रोक लगा दी। इससे नबआ को कुछ राहत मिली। यह नबआ द्वारा नर्मदा घाटी को बचाने के लिए किया जा रहा संघर्ष का उच्चतम बिंदु था।

सरदार सरोवर बांध के खिलाफ यह दिलदार संघर्ष ने घाटी में इस तरह के कई और संघर्षों को प्रेरित करने में सफल रहा। 1992 में जबलपुर के पास आंदोलन शुरू हो गया जहां बरगी बाँध का निर्माण 1990 में पूरा हो चुका था और एक सौ साठ गाँवों को जलमग्न कर दिया गया था। वहाँ भी विस्थापितों के पुनर्वास के लिए पर्याप्त प्रावधान नहीं किए गए थे। बहुत से गरीब उजड़े हुए बांध

प्रभावित लोगों को जबलपुर जाकर आजीविका के लिए साइकल रिक्शा चलाना पड़ा। जल्द ही बरगी के विस्थापित भी आंदोलन शुरू कर दिया। इसके कारण बर्गी के विस्थापितों का संगठन, बरगी बाँध विस्थापित एवं प्रभावित संघ को जलाशय में मछली पकड़ने का अधिकार दिया गया, जिसे पहले सरकार ने ठेकेदारों को दिया था। बाद में, नर्मदा की एक सहायक नदी तवा नदी पर 1980 के दशक में निर्मित तवा बांध के विस्थापित आदिवासी भी किसान आदिवासी संगठन के तत्वावधान में आंदोलन करने लगे और जेल, पुलिस पिटाई और डंडों के दौर से गुजरने के बाद उन्हें भी यह अधिकार मिल गया। विस्थापितों के इन संघों ने इन जलाशयों में मछली पकड़ने की गतिविधियों को इतनी अच्छी तरह से प्रबंधित किया है कि वे खुद मुनाफा कमाते थे और सरकार को भी शुल्क अदा करते थे। पर बाद में ठेकेदारों और नौकरशाही की मिलीभगत के कारण इन संघों से ठेका चीन लिया गया।

हालाँकि, सरकार द्वारा डूबी हुई भूमि के बदले में पुनर्वास हेतु ज़मीन की अधिक महत्त्वपूर्ण माँग पर कोई सुनवाई नहीं हुई। लम्बे भूख हड़ताल और जल समर्पण अभियानों के बावजूद यह नहीं हुई। हमेशा की तरह, सरकार कुछ आश्वासन देती थी और फिर इन आश्वासनों को नकारने के लिए दमनकारी उपायों का सहारा लेटी थी। इसी तरह, मान और वेदा जैसी सहायक नदियों पर बांधों के निर्माण के खिलाफ आंदोलनों को भी दमन और झूठे आश्वासनों के दौर से गुजरना पड़ा। विस्थापितों द्वारा भूख हड़ताल के बाद भी उनकी जमीन जलमग्न हो गई और वे पुनर्वास से वंचित रहे।

सर्वोच्च न्यायालय ने अंततः 1998 में सरदार सरोवर परियोजना के मामले का निपटारा करते हुए कहा कि बांध बनना चाहिए, लेकिन नर्मदा न्यायाधिकरण के प्रावधानों के अनुसार विस्थापितों के उचित पुनर्वास होना चाहिए। शीर्ष अदालत ने बांध के निर्माण पर से रोक हटा दी। इससे बांध को पूरी तरह से रद्द करने की संभावना खत्म हो गई। न केवल बांध के समर्थन में खड़ी राजनीतिक शक्तियां नबआ की तुलना में अधिक मजबूत थी, बल्कि न्यायालय ने उसके द्वारा प्रस्तुत दलील को खारीज की कि बांध भविष्य में एक आपदा साबित होगा। बांध को रोकने के लिए नबआ को कम प्रभावी जल समर्पण कार्यक्रमों को वापस आयोजित करने के लिए मजबूर होना पड़ा। उस समय अंग्रेजी में उपन्यास लिखकर मशहूर हुई अरुंधति राय मैदान में कूद गईं और इस लड़ाई में जान फूँक दी। हालांकि, यह पर्याप्त नहीं था, और बांध का निर्माण जारी रहा जो अधिक से अधिक गाँव को लगातार जलमग्न करते रहा।

विस्थापित लोगों के पुनर्वास सही तरीके से नहीं होने के कारण, नबआ ने सर्वोच्च न्यायालय में अवमानना याचिका दायर कर बांध के निर्माण में बाधा डालते रहा। मूल समस्या यह थी कि गुजरात, महाराष्ट्र, या मध्य प्रदेश में अच्छी गुणवत्ता की सस्ती कृषि भूमि उपलब्ध नहीं थी। यदि नर्मदा न्यायाधिकरण के प्रावधान के अनुसार, विस्थापितों को अच्छी कृषि भूमि दी जानी थी, तो परियोजना की लागतें बहुत बढ़ जाती। इसलिए मध्य प्रदेश सरकार, जिसे अधिकांश विस्थापितों को पुनर्वासित करना था, उन्हें मौद्रिक मुआवजे देकर मामले को निपटाने की कोशिश की। नबआ के विरोध के बावजूद, नर्मदा नियंत्रण प्राधिकरण ने 2006 में बांध के निर्माण को जारी रखने की अनुमति दे दी। मेधा कुछ अन्य विस्थापितों और समर्थकों के साथ दिल्ली में भूख हड़ताल पर बैठ गईं। एक बार फिर

उसकी तबीयत बिगड़ने के साथ ही उसे गिरफ्तार कर अस्पताल में डाल दिया गया। नबआ ने सर्वोच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटाया और मेधा ने अपनी भूख हड़ताल तोड़ दी। हालांकि, इस बार, सुप्रीम कोर्ट ने निर्माण पर रोक लगाने से इनकार कर दिया और और निर्णय सरकार पर छोड़ दिया। गुजरात में मुख्यमंत्री समेत सभी राजनीतिक दलों द्वारा बांध के समर्थन में आयोजित जुलूसों का भारी दबाव के कारण नबआ अंततः हार गया।

संख्या बल में नबआ कमजोर पड़ गया। मध्यप्रदेश में ज्यादातर बांध प्रभावित लोग सरकार से नकद मुआवजे लेकर संघर्ष से अलग हो गए। घाटी के केवल कुछ ही सदस्यों और देश और दुनिया भर के शहरी बुद्धिजीवियों के समर्थन से लड़ाई जारी रखा गया। इसीलिए नर्मदा घाटी में एक के बाद एक बांध बनाए गए है। सभी बांध पूरे हो चुके हैं। पुनासा के पास इंदिरा सागर बांध पर 2000 में एक कंपनी नर्मदा जलविद्युत विकास निगम के गठन के साथ काम शुरू हुआ। बाद में यह कंपनी ने ओंकारेश्वर बांध पर भी काम शुरू किया। इन बांधों के निर्माण का ठेका वही जयप्रकाश एसोसिएट्स को दिया गया जो सरदार सरोवर बांध का निर्माण किया हैं। सरकार ने प्रभावित भूमिहीनों को नकद मुआवजे के वितरण की। 1989 में हरसूद जुलूस के समय जो शुरुआती लामबंदी हुई थी, वह छिन्न-भिन्न हो गई थी और बांध 2004 में बनकर तैयार हो गया था। यह बांध वह कस्बे को जलमग्न कर दिया है, जहां 1989 में हमने बड़ी संख्या में एकत्रित होकर प्रतिज्ञा की थी कि हम विनाशकारी विकास को रोकेंगे। यह इस देश में राज्य की शक्ति के समक्ष पर्यावरणीय आंदोलनों की कमजोरी को दर्शाता है कि नबआ जैसे व्यापक स्थानीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आधार वाला संगठन भी अपना लक्ष्य हासिल नहीं कर पाया। "उचित पुनर्वास" नहीं हुआ और लोग विस्थापित कर दिए गए।

इसी प्रकार इंदिरसागर के नीचे नर्मदा पर ओंकारेश्वर और महेश्वर बांधों के निर्माण को रोकने के लिए आंदोलन भी कुछ समय तक संघर्ष करने के बाद असफल हो गए और यह दोनों बांध निर्मित हो गए। महेश्वर बांध के पानी के दरवाजे बंद नहीं किए गए है क्योंकि यह मुख्य रूप से एक निजी कंपनी द्वारा बनाया जा रहा है, जिसमें न तो इसके लिए पर्याप्त वित्त है और न ही तकनीकी क्षमता । प्रारंभ में, सरकार ने दमनकारी उपायों के माध्यम से बांध के खिलाफ आंदोलन को कुचलने की कोशिश की पर नबआ ने जबरदस्त अंतरराष्ट्रीय समर्थन की मदद से महेश्वर बांध के अंतरराष्ट्रीय वित्तीय और तकनीकी सहायता को रोकने में सफल रहा है।

अतः यह सवाल उठता है कि आधुनिक राज्य व्यवस्था को हराने के लिए एक रणनीति के रूप में सत्याग्रह कहाँ तक सफल हो सकता है? सत्याग्रह कुछ स्थितियों में सफल हो सकता है केवल तब जब सत्याग्रही बहुत बड़ी संख्या में होते हैं और अपने आंदोलन और गांधीवाद के दर्शन पर इतने आश्वस्त होते हैं कि वे उत्पीड़क पर नैतिक दबाव बनाकर उसका हृदय परिवर्तन करने में सक्षम होते हैं। पर इसके लिए हिंदू धर्म की तपस्या और अध्यात्मवाद पर भारी निर्भरता के कारण यह आम लोगों के रोजमर्रा के जीवन से दूर है और भील आदिवासियों की संस्कृति से तो बहुत ही दूर है। अरुंधति रॉय, जिन्होंने अपने बुकर प्राइज़ जीतने वाले उपन्यास "द गॉड ऑफ़ स्मॉल थिंग्स" में ज़िंदगी में भौतिक आनंद लेने के पक्ष में लिखा है, ने नर्मदा के संघर्ष पर अपने आलेख 'ग्रेटर कॉमन गुड' में

स्वीकार किया है कि गांधीवाद के सिद्धांत और अभ्यास के लिए बहुत मजबूत नैतिक शक्ति की आवश्यकता होती है, खासकर जब संभोग और उपभोग का त्याग करने की बात आती है, जो कि ज्यादातर सामान्य लोग नहीं कर सकते। गौरतलब है कि गांधी ने स्वयं स्वतंत्रता संग्राम के दौरान लिखा था कि, उनकी व्यक्तिगत अराजकतावादी मान्यताएं और जिस तरह के ग्राम स्वराज की स्थापना की बात उन्होंने हिंद स्वराज में की है उनके लिए वे नहीं लड़ रहे थे बल्कि उनका व्यावहारिक लक्ष्य एक संसदीय स्वशासन की स्थापना का था।

इसलिए भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान भी, जब अंग्रेजों के खिलाफ बड़े पैमाने पर विरोध प्रदर्शन हुए, गांधीवादियों ने अपनी तात्कालिक मांगों को भी हासिल नहीं कर पाए सत्याग्रह और भूख हड़ताल के द्वारा, आजादी जीतने की बात तो छोड़ ही दें। विरोध के इन तरीकों की विफलता का एक प्रमुख उदाहरण भगत सिंह और उनके सहयोगियों द्वारा भूख हड़ताल की थी। इनमें से एक, जतीन्द्रनाथ दास, उपवास के दौरान मारे गए।

केवल एक ही बार गांधी खुद कुछ हद तक सफल हुए थे और वह था 1932 में दलित जातियों के लिए अलग निर्वाचन के प्रस्ताव को रद्द करवाने में। डॉ भीमराव अंबेडकर के साथ इसको लेकर गतिरोध तब खत्म हुआ जब गांधी के भूख हड़ताल से प्रभावित होकर वे केवल दलितों के लिए आरक्षण पर सहमत हो गए। गांधीवादी भूख हड़ताल ने अंग्रेजों या मुसलमानों के दिलों को नहीं हिला पाया। दलितों के वोट न दे पाने का किस्सा आज भी जारी है क्योंकि इस देश के कुछ हिस्सों में दलितों को अभी भी उच्च जातियों द्वारा वोट डालने नहीं दिया जाता है।

आजादी के तुरंत बाद, तेलुगु उप-राष्ट्रवादी आकांक्षाएं, जो ब्रिटिश शासन के दौरान काफी समय से सुगबुगा रही थीं, उबाल पर आ गईं। हैदराबाद और मद्रास प्रेसीडेंसी क्षेत्र के कुछ हिस्सों को मिलाकर एक अलग आंध्र प्रदेश राज्य का गठन के लिए एक जन आंदोलन शुरू हुआ। आंदोलन के नेताओं में से एक, पोटी श्री रामुलु ने नवंबर 1952 में आमरण अनशन शुरू किया। जवाहरलाल नेहरू ने इस मांग को अनदेखा कर दिया और 15 दिसंबर 1952 को श्री रामुलु अनशन करते हुए मर गए। इसके बाद तेलुगु भाषी क्षेत्रों में जनता सड़कों पर आ गई। आखिरकार, नेहरू को पीछे हटना पड़ा, और 1953 में आंध्र प्रदेश राज्य का गठन किया गया। यह एक दुर्लभ उदाहरण है, जिसमें भूख हड़ताल करने वाले की मौत और उनकी मांग के लिए जबरदस्त जनसमर्थन की दृढ़ता के कारण सफलता मिली।

इसके विपरीत, सिख नेता और सिख राजनीतिक दल, अकाली दल के संस्थापकों में से एक, मास्टर तारा सिंह की भूख हड़ताल असफल रही। उन्होंने 1961 में सिख बहुमत वाले अलग पंजाब राज्य के गठन के लिए दबाव डालने के लिए भूख हड़ताल की पर केंद्र सरकार द्वारा कुछ अस्पष्ट आश्वासन के बाद इसे वापस ले लिए। इससे न केवल उन्हें दल के भीतर अपनी प्रमुख स्थिति को खोना पड़ा बल्कि राज्य के गठन में भी देरी हुई। इस प्रकार, एक महत्वपूर्ण मांग को हासिल करने में भूख हड़ताल की सफलता हड़ताल करने वाले की जान दे देने की दृढ़ता और मांग को पर्याप्त और संगठित जन आधार की अहम भूमिका होती है। नर्मदा घाटी में ऐसा जन आधार कभी नहीं था क्योंकि प्रभावित लोगों के गाँव नदी किनारे विस्तृत था और उनमें से अधिकांश के विश्वदृष्टि गांधी से काफी

अलग थी। गांधीवादी राजनीतिक कार्रवाई की सफलता के लिए आवश्यक शर्तों को नबआ ने कभी भी उसके भूख हड़ताल और जल समर्पण कार्यक्रमों में पूरी नहीं की है।

स्वतंत्र भारत में राज्य के खिलाफ सबसे बड़ी उथल-पुथल 1974 में नवनिर्माण आंदोलन के रूप में गुजरात राज्य में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व से शुरू हुई, जो बाद में बिहार राज्य में फैल गई और सम्पूर्ण क्रांति आंदोलेन बन गई। पर यह भी राज्य उत्पीड़न के कारण विफल रहा। जल्द ही इसे कुचलने के लिए आपातकाल घोषित किया गया और उन्नीस महीनों के तानाशाही शासन देश पर लागू हो गया।

क्योंकि नबआ या अन्य सभी पर्यावरणीय जन आंदोलनों की लामबंदी ने सम्पूर्ण क्रांति आंदोलन का ऐतिहासिक स्तर का एक छोटा हिस्सा भी हासिल नहीं किया है, इसलिए ये आंदोलन राज्य दमन का सामना करने में सक्षम नहीं हुए हैं और राज्य की नीतियों पर कोई खास प्रभाव नहीं डाल पाए हैं। मणिपुर में बड़े पैमाने पर लोग सशस्त्र बल विशेष शक्ति अधिनियम 1958 के खिलाफ आंदोलन किए थे। उत्तर पूर्वी राज्यों में सशस्त्र आंदोलनकारियों से निपटने के लिए यह कानून बनाए गया था जिसमें सशस्त्र बलों को लोगों को हिरासत में रखने और यहां तक कि उन्हें मारने के लिए शक्तियां प्रदान किया गया था। अपनी ताकत के कारण इन आंदोलनों ने कुछ सफलता हासिल की और इस कानून की समीक्षा एक सेवानिवृत्त सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश की अध्यक्षता वाली समिति द्वारा की गई थी। एक महिला, शर्मिला इरोम, इस कानून को रद्द करने की मांग करते हुए, 2 नवंबर, 2000 से भूख हड़ताल पर बैठ गई। उसे आत्महत्या करने के प्रयास के आरोप के तहत गिरफ्तार किया गया और अंतःशिरा ड्रिप के माध्यम से एकान्त में रखा गया था। अंततः शर्मिला को कई सालों तक भूख हड़ताल करने के बाद इसको वापस लेना पड़ा और आज भी यह कानून ज्यों के त्यों लागू है।

गांधी के बाद सत्याग्रह का सबसे सफल प्रयोग भारत में नहीं बल्कि अमरीका में हुआ है मार्टिन लूथर किंग के करिश्माई नेतृत्व में। यद्यपि उनका आंदोलन ने अश्वेतों के लिए बहुत सारे अधिकार सुनिश्चित किया फिर भी वर्तमान में उनकी स्थिति श्वेतों की तुलना में बहुत कमजोर है।

इस संदर्भ में बाबासाहेब अंबेडकर की उपलब्धियां किंग की तुलना में और अधिक है। उन्होंने अकेले संघर्ष कर दलितों के लिए बहुत कुछ हासिल किया है हालांकि उनके साथ किंग और गांधी जैसे विशाल जन समर्थन नहीं था। वे उदारवादी लोकतंत्र में विश्वास करते थे पर उन्हें मालूम था कि भारत के संविधान के द्वारा स्थापित संसदीय प्रणाली केवल ऊपर से लोकतान्त्रिक थी क्योंकि इसके नीचे कि सामाजिक आर्थिक व्यवस्था बहुत अधिक शोषणकारी थी। इसलिए उन्होंने दलितों को नारा दिया था - "शिक्षित हो, संगठित हो और संघर्ष करो"। दुर्भाग्यवश बाबासाहेब के उपदेश और काम को बाद में दलितों ने एकजुट होकर आगे बढ़ाने में असफल रहे है एवं आज भी सवर्णों का ही बोलबाला है। 1980 के दशक में बहुजन समाज पार्टी ने जरूर दलितों को उत्तर प्रदेश में मनुवादी शोषण के खिलाफ संगठित कर प्रभावी राजनीतिक ताकत बनायी थी पर बाद में चुनावी राजनीति की भंवरजाल में इस ताकत का क्षरण हो गया है।

सत्याग्रह के लिए एक और समस्या है कि वह राज्य व्यवस्था का दमन और लोगों की स्वतःस्फूर्त हिंसा के बीच में फंस जाता है। गाँधीवाद के अहिंसा के कठिन शर्तों का जनता द्वारा पालन नहीं होता है ऐसी स्थितियों में। इसके बाद उनकी ऊर्जा राज्य दमन के द्वारा खत्म कर दिया जाता है। असहयोग आंदोलन के समय 1921 में चौरिचौरा कांड इस मामले में मशहूर है।

नबआ का इतिहास भी इस बात की पुष्टि करता है। भले ही नबआ ने गांधीवादी ढांचे के भीतर काम किया हो, पर आदिवासियों ने, जिनकी एक लड़ाकू परंपरा है, राज्य की अवैध हिंसा के जवाब में स्वतःस्फूर्त हिंसक कार्यवाही किए है। चाहे वह 1993 में आंजनबारा के ग्रामीणों की हिंसा हो या बाद में उसी साल महाराष्ट्र के निमगवन, सिक्का और सुरंग के ग्रामीणों की, जिसके परिणामस्वरूप नबआ के एकमात्र शहीद रेमल पुनिया वसावा की पुलिस के गोलीचालन में मौत हो गई, ये सभी में लोग अपनी परंपरा अनुसार लड़ रहे थे, अपने गैर आदिवासी नेताओं के निर्देशों की अवहेलना कर। ऐसे मामलों में, राज्य और भी अधिक दमन के साथ प्रतिहिंसा कर आंदोलन को पूरी तरह से कुचल देता है। गांधीवादी और मार्क्सवादी दो विपरीत दृष्टिकोण से राज्य की हिंसा का मुकाबला कर रहे हैं, लेकिन फिरभी राज्य हिंसा से निपटने में कोई कारगर रास्ता आज तक नहीं निकला है।

जब हमने काटकुट क्षेत्र में राजनीतिक लामबंदी शुरू की, तो हमने लोगों को इस अनिवार्यता के लिए तैयार करने की कोशिश की कि राज्य द्वारा अवैध हिंसा का उपयोग देर सवेर होगा ही। इस प्रकार, वहां के लोग इस हिंसा के प्रति सचेत थे और वे इस हिंसा का प्रतिहिंसा से मुकाबला नहीं करते थे। हालाँकि, चूंकि संगठन केवल बीस गांवों में फैली हुई थी, इसलिए राज्य व्यवस्था को कोई महत्वपूर्ण चुनौती देने के लिए आवश्यक विशाल जनसमूह नहीं बन पायी थी। इसलिए अंत में हमने अपने आप को नबआ के जैसे ही एक अंधी गली में पाया और आधुनिक भारतीय राज्य की ताकत की सामना नहीं कर पाया। वास्तव में, यह भारत में लगभग सभी पर्यावरणीय जन आंदोलनों का दुर्भाग्य रहा है, जो 1970 के दशक के चिपको आंदोलन के साथ शुरू हुए थे। वे ऐसे मुद्दों के इर्द-गिर्द अलग-अलग आंदोलन कर रहे थे, जो केवल किसी परियोजना या पर्यावरणीय आपदा से सीधे प्रभावित होने वाले लोगों की बहुत कम संख्या को प्रभावित करता हो। इस प्रकार यह सभी आंदोलन ऐसे पर्याप्त जन आधारों का निर्माण करने में असमर्थ हैं जो राष्ट्रीय या वैश्विक स्तर पर विनाशकारी विकास नीतियों को चुनौती दे सकते हैं।

सिसिफ़स एक ऐसा साहसी व्यक्ति थे कि एक अवसर पर उसने मृत्यु के देवता का भी अपहरण कर उसे अपने महल में बंद कर रख दिया था। फिर उसे मुक्त करने के लिए युद्ध के देवता को भेजना पड़ा। पर आखिरकार उसे बार बार एक पहाड़ी पर एक चट्टान को चढ़ाने और फिर उसे लुढ़कते हुए देखने की सजा मिली। हम भारत के पर्यावरणीय जन आंदोलनों के कार्यकर्ता भी पारिस्थितिक मृत्यु के देवता को कैद करने की कोशिश कर रहे हैं, पर आधुनिक विकास के देवता लगातार पुलिस के रूप में अपने पालतू कुत्तों को हमें जलील करने के लिए भेज रहा है। ऐसा लगता है कि हमें राज्य की मनमानी के पहाड़ के ऊपर बड़े पैमाने पर जनसमूह की चट्टान को लगातार चढ़ा रहे हैं, पर फिर यह

देखते है कि वह वापस नीचे लुड़क जाता है। इस तरह के निरर्थक और निराशाजनक श्रम से ज्यादा सजा क्या हो सकती है?

फ्रांसीसी लेखक अलबेर कामू के अनुसार, जब वह पहाड़ के नीचे वापस आ जाता है, तब सिसिफ़स खुश होता है क्योंकि उस समय वह अपने भाग्य के बारे में नहीं सोचता है, बल्कि देवताओं के खिलाफ विद्रोह करने की अनिवार्यता पर सोचता है। वह अपने भाग्य को स्वीकार करता है और संघर्ष का आनंद उठाकर देवताओं को हराने का फैसला करता है। इसलिए विचारधारा और कार्यवाही में अनेक त्रुटियों के बावजूद वह चट्टान को पहाड़ के ऊपर स्थायी रूप से रखने में विफलता की परवाह किए बिना चट्टान को बार बार चढ़ाता है। इस प्रकार, वैचारिक और व्यावहारिक समस्याओं के बावजूद, मेधा पाटकर और नबआ इस देश में पर्यावरणीय जन आंदोलनों की चट्टान के द्वारा राज्य की मनमानी के पहाड़ पर कुठार चलाने के लिए प्रशंसा के पात्र हैं। और इस तरह कई लोगों को आधुनिक विकास के भगवान का पूजन अच्छा लगता है और कुछ ही लोग ऐसे है जो सिसिफस के मिथक को जारी रखना चाहते है।

अध्याय 20 – अराजकतावाद की विडंबना

केंद्रीकृत राज्य तंत्र के विरुद्ध लड़कर उसे उखाड़ फेंकने का अभियान, चाहे वह हिंसक या अहिंसक हो, केवल तब सफल हो सकता है जब आंदोलनकारी जनता के एक बड़े केंद्रीकृत संगठन हो जो राज्य की अवैध शक्ति प्रयोग का अपने सदस्यों की यापार संख्या के बल पर मुकाबला कर सके। । लेकिन अराजकतावादी सभी प्रकार के केंद्रीकरण के खिलाफ हैं और वांछित विकेंद्रीकृत समाज व्यवस्था को प्राप्त करने के लिए साधनों की शुद्धता पर जोर देते हुए केन्द्रीकृत संगठन बनाने से इनकार करते है। इसलिए वे राज्य के विरुद्ध एक व्यापक जन चुनौती प्रस्तुत नहीं कर सकते हैं। इस विरोधाभासी प्रतीत होने वाले परिदृश्य का सामना करते हुए, थोरो जैसे कुछ अराजकतावादियों ने राज्य के खिलाफ अहिंसक असहयोग के व्यक्तिगत नुस्खे बताए जबकि शहीद भगत सिंह जैसे लोग राज्य के खिलाफ हिंसा के व्यक्तिगत कृत्यों में अपना विश्वास जताया है (हालांकि बाद में कारागार में कैद के दौरान वे मार्क्सवाद को अपना लिया)। ये दोनों रणनीतियाँ स्वाभाविक रूप से केन्द्रीकृत राज्य व्यवस्था को उखाड़ फेंकने में अप्रभावी साबित हुई हैं।

इस विडंबना से उबरने के लिए वे अराजकतावादियों ने, जिन्होंने वास्तव में बड़े पैमाने पर दुनिया को बदलने की कोशिश की है, कई सम्झौतापरस्त तरीके अपनाए है। एक सामान्य तरीका यह है कि एक छोटा अराजकतावादी संगठन का गठन कर इसे राज्य के खिलाफ आंदोलनरत एक बड़े केंद्रीकृत जन संगठन के साथ जोड़ देना। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान गांधी ने इस कार्यशैली का अनुसरण किया था। ऐसे करने में समस्या यह है कि अराजकतावादी सिद्धांत और कार्रवाई की शुद्धता को अक्सर जलांजलि देनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त, हमेशा यह खतरा होता है कि जब सत्ता अंततः हासिल की जाती है, तो केंद्रीकृत संगठन अराजकतावादियों को दूर धकेल देता है और राज्य व्यावस्था को जनता के विरुद्ध इस्तेमाल करने लगता है। भारत में आजादी के बाद गांधीवादियों के साथ यही हुआ है और 1917 की बोल्शेविक क्रांति के बाद रूसी अराजकतावादियों के साथ भी यही हुआ है। गांधी ने संसदीय स्व-शासन के लिए संघर्ष के दौरान उनका ग्राम स्व-शासन के अराजकतावादी कार्यक्रम को स्थगित कर दिया था। कुछ लोगों ने उम्मीद की थी कि स्वतंत्रता प्राप्ती के बाद ग्राम स्वराज स्थापित हो पर नेहरू के नेतृत्व वाली कांग्रेस ने गांधी के जबरदस्त करिश्माई प्रभाव के चलते राज्य की सत्ता हासिल करने के बाद उनके अराजक्तावादी विचारों को दर किनार कर दिया।

एक ऐसे संसदीय प्रणाली की स्थापना की गई, जिसमें राजनीतिक दलों के द्वारा पूरे चुनाव में प्राप्त मतों के आधार पर विधायी संस्थाओं में सदस्यता के वितरण के बजाय प्रत्येक चुनाव क्षेत्र में सब से अधिक मत प्राप्त करने वाला उम्मीदवार को प्रतिनिधि घोषित किया जाना था। परिणामस्वरूप एक ऐसा परिदृश्य निर्मित हुआ जिसमें सत्ताधारी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को अनुचित लाभ मिला। भले ही उसे कुल मतों में से बहुमत से कम मत मिले, पर फिर भी उसे अधिकांश सीटें मिलीं। इसके अलावा, कांग्रेस ने चुने हुए प्रतिनिधियों और उनके समर्थकों को खरीदने के लिए तरह तरह के प्रलोभन दिया, जिससे समाजवादियों और साम्यवादियों के कार्यकर्ताओं और नेताओं का निरंतर कांग्रेस की ओर पलायन हुआ।

आजकल, सभी राजनीतिक दल, विचारधारा में दायें से बाएं तक और सामाजिक व्यवस्था के निचले हिस्से से लेकर शीर्ष तक, जो चुनावों में हिस्सा लेते हैं, अनुचित साधनों का इस्तेमाल करते है चुनाव जीतने के लिए। दरअसल, दलितों की बहुजन समाज पार्टी भी, जिसने शुरुआत में चुनाव में भाग लेते समय "मनुवादी" सवर्णों की गंदी राजनीति को साफ करने के लिए एक स्पष्ट आह्वान किया था, बाद में अन्य दलों का भ्रष्ट तरीका अपनाना शुरू कर दिया। सभी पार्टियों ने कांग्रेस मॉडल की नकल की है। कोई आश्चर्य नहीं कि संगीन अपराधियों ने, जिनके पास शक्ति और स्थानीय संपर्क दोनों हैं, शर्मनाक तरीके से बड़ी संख्या में चुनाव जीतना शुरू कर दिया है और बता दिया है कि राजनीति में कोई नीति बचा नहीं है। चूंकि चुनाव जीतना और सत्ता में बने रहना सामाजिक परिवर्तन और लोगों के लिए उन्मुख शासन का साधन होने के बजाय लाभ कमाने का जरिया बन गया है, इसलिए वर्तमान में चुनावी और विधायी प्रणालियाँ दोनों ही बेतुके नौटंकी में सिमट कर रह गए हैं।

1990 के दशक में देश भर में ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में सामुदायिक तौर पर शासन के तीसरे स्तर 73 वें और 74 वें संवैधानिक संशोधन के साथ प्रारंभ हुआ। पर इस जमीनी स्तर पर भी नीति विहीन राजनीति का बोलबाला देखा गया है। भारतीय गणतंत्र के शुरुआती वर्षों में, पंचायत राज को पूरी तरह से दर किनार कर दिया गया था। हालांकि, 1950 के दशक की शुरुआत से क्रियान्वित सामुदायिक विकास कार्यक्रम की विफलता के कारण 1957 में इसकी समीक्षा करने के लिए बलवंतराय मेहता समिति का गठन किया गया। समिति ने पाया कि सही आकल्पन और लोगों की भागीदारी के अभाव में, कार्यक्रम नौकरशाही की दुर्भावना के कारण असफल हो गया था। । समिति ने त्रिस्तरीय पंचायत राज व्यवस्था की स्थापना का सुझाव दिया। इस प्रकार, देश के कई हिस्सों में एक अल्पविकसित स्थानीय शासन प्रणाली शुरू की गई। लेकिन यह सभी प्रयास असफल रहे क्योंकि राज्य सरकारें पंचायतों को शक्तियां नहीं देना चाहती थीं। केंद्र सरकार के पास संसाधनों और शक्ति की केन्द्रीकरण के कारण राज्य सरकारों के पास तुलनात्मक रूप से बहुत कम शक्तियां और संसाधन थे, और वे जो कुछ भी उनके पास था उसे पयांचायतों के साथ बांटना नहीं चाहते थे। इसके अलावा, जिला स्तर की नौकरशाही ग्रामीण विकास योजनाओं की जिम्मेदारी पंचायतों को सौंपने के खिलाफ थी।

1960 के दशक के उत्तरार्ध में नक्सली विद्रोह और 1974 - 75 में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में हुए जन आंदोलन के बाद यह स्पष्ट हो गया था कि जमीनी स्तर पर जन आकांक्षाएँ नई दिशाएँ तलाश रही थीं। 1977 में चुनावों के बाद, केंद्र सरकार ने अशोक मेहता समिति की स्थापना की, और इसने पंचायती राज की स्थापना के लिए व्यापक सिफारिशें कीं। इसके बाद, पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चा सरकार और कर्नाटक में जनता पार्टी की सरकार ने ग्रामीण स्थानीय प्रशासन के साथ एक नया प्रयोग शुरू किया। ये प्रयोग काफी सफल रहे क्योंकि इससे शासन और विकास कार्यों में लोगों की अधिक भागीदारी हुई । भारतीय राजनीति में कांग्रेस का प्रभुत्व कम होने लगा और मजबूत क्षेत्रीय दल उभरने लगे। इस प्रकार राज्यों ने केंद्र की कीमत पर अपनी शक्ति और संसाधनों की हिस्सेदारी बढ़ाना शुरू कर दिया और अपने स्वयं के क्षेत्रों में अधिक स्वतंत्रता प्राप्त की। इसने उन्हें जमीनी स्तर पर संसाधनों के विकास के लिए और अधिक उत्तरदायी बना दिया। इसलिए समय के साथ, जमीनी स्तर से दबाव निर्माण के परिणामस्वरूप देश भर में पंचायत राज को अपनाया गया।

हालाँकि, संसदीय चुनावों की पहले वर्णित विकृतियाँ गाँव स्तर तक पहुँच गई हैं, जिससे मेरे मित्र और सहकर्मी शंकर का कहना है कि सरपंच या पंचायत के निर्वाचित प्रमुख का शासन वास्तव में लोगों पर एक "परपंच" या धोखा है।

सैद्धांतिक रूप से, पंचायतों के स्तर पर भ्रष्ट राजनीतिक प्रथाओं का मुकाबला करना संभव हो सकता है यदि एक अच्छा स्थानीय जन संगठन मौजूद होता है। इसने खेदुत मजदूर चेतना संगठ (खेमचेस) को पंचायत चुनावों में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए प्रेरित किया जब पहली बार 1989 में मध्य प्रदेश में प्रत्यक्ष मतदान के आधार पर यह चुनाव आयोजित किए गए थे। KMCS चार पंचायतों में स्पष्ट बहुमत में था। उनमें से दो में, पंचों और सरपंचों के पदों के लिए उम्मीदवारों के चयन के लिए पूर्व में हुई बैठकों में सर्वसम्मति से निर्णय हुआ। इसलिए कोई प्रतिस्पर्धा नहीं थी क्योंकि प्रति सीट केवल एक उम्मीदवार ने नामांकन पत्र दाखिल किया था। दो अन्य पंचायतों में, चीजें इतना आसान नहीं था। कांग्रेस ने यह सुनिश्चित किया कि उसके उम्मीदवारों ने सरपंच और पंच के पद के लिए खेमचेस के उम्मीदवारों के विरोध में नामांकन दाखिल किया। इस विरोध के बावजूद, खेमचेस ने इनमें से एक पंचायत में पर कब्जा कर लिया। हालांकि, हमारे लिए चौंकाने वाली बात यह थी कि खेमचेस ने अट्ठा पंचायत में सरपंच का पद गंवा दिया, जहां हमारा मुख्यालय था। साथ ही हमारे वार्ड से पंच के लिए खेमचेस के उम्मीदवार एक वोट से हार गए। यह स्पष्ट था कि खेमचेस के ही सदस्यों ने चुनावों से पहले की बैठकों में तय किए गए आधिकारिक उम्मीदवारों के खिलाफ मतदान किया था।

बाद में किए गए विसलेषण से पता चला कि अट्ठा पंचायत के सामान्य मतदाता राज्य व्यवस्था के साथ लंबे टकराव के पक्ष में नहीं था वरन संघर्ष के द्वारा अधिग्रहित की गई वन भूमि की खेती के अधिकार हासिल करने के बाद वे नरम रवैया अपनाना चाहते थे। कांग्रेस का सरपंच पद के लिए उम्मीदवार, जो खेमचेस के एक पूर्व कार्यकर्ता था, प्रशासन के साथ एक नरम दृष्टिकोण का पक्षधर था और इसलिए उसे और अधिक मत मिले। पंच के मामले में यह सामने आया कि खेमचेस के उम्मीदवार ने शुरुआती वर्षों में, लकड़ी काटने वाले ठेकेदारों के लिए काम करते हुए बाकी लोगों के वेतन हड़प लेता था और विरोध करने पर वह लोगों के साथ मारपीट भी करता था। इस तथ्य के बावजूद कि उन्होंने बाद में खुद को सुधार लिया और संगठन को स्थापित करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, लोगों ने उन्हें अपने पहले अपमान और उसके हाथों मिली यातना के लिए दंडित करने का फैसला किया।

इस सब में जिस बात ने मुझे सबसे ज्यादा हिला दिया, वह यह था कि हम कार्यकर्ताओं को लोगों के बीच व्याप्त इस गुप्त "प्रतिरोध" के बारे में कोई हवा नहीं लगी। बैठकों में खुलकर सामने आने और अपनी पसंद बताने के बजाय, उन्होंने हमारे खिलाफ गुप्त मतदान का उपयोग करने का फैसला किया! मैंने अपने राजनीतिक काम के उस प्रारंभिक चरण में एक महत्वपूर्ण सबक सीखा - कि जनता न केवल अपने उत्पीड़कों को, बल्कि अपने मुक्तिदाताओं को भी गुप्त प्रतिरोध की पेशकश करती है, जब उन्हें लगता है कि वे बहुत अधिक क्रांतिकारी कदम अपना रहे है।

यह, निश्चित रूप से, एक पुरानी समस्या है जिसका सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन के लिए लड़ने वाले कार्यकर्ताओं ने अक्सर सामना किया है। अधिकतर लोग सिर्फ एक सभ्य जीवन चाहते हैं और थोड़े से सुधार से संतुष्ट होकर सक्रिय राजनीतिक संघर्ष से दूर रहना चाहते हैं। दमन के मामले में वे राज्य के साथ लगातार टकराव के बजाय एक समझौता का विकल्प चुनते हैं। चुनावी राजनीति के कारण, स्वतंत्र भारत में राज्य, हालांकि दमनकारी होता है, फिर भी उसे वैधता बनाए रखने के लिए लोगों की मांगों को कुछ हद तक पूरी करनी होती है। इस प्रकरण के बाद, खेमचेस की राजनीति कार्यकर्ताओं की क्रांतिकारी उद्देश्यों के बजाय लोगों की वरीयताओं के साथ समझौते करते हुए सुधारवादी हो गई!

एक राजा के बारे में किस्सा है कि एक बार वे अपने प्रजा को एक दावत के लिए एक गिलास दूध देने के लिए कहा था। लोगों को गुपचुप तरीके से ढक्कन में एक छेद से दूध को एक बड़े बर्तन में डालना था। अंत में जब बर्तन के ढक्कन को निकाला गया तो पाया गया कि वह पानी से भरा था। हर किसी ने एक गिलास पानी का योगदान दिया था, यह सोचकर कि यह दूसरों के दूध के योगदान में पकड़ा नहीं जाएगा! इसी तरह, हमारे जैसे अराजकतावादियों के लिए, जिनके पास जेल में कैद होने के अलावा अल्पावधि में लोगों को देने के लिए शायद ही कुछ भी ठोस होता है, चुनावों के गुप्त मतदान हमारे अराजकतावादी सपने के लिए पानी का कब्र साबित होता है।

1989 के उस पंचायत चुनाव में जीवन में पहली बार मैंने मतदान किया था। इसके पहले मैंने चुनावों की पूरी प्रणाली को एक झांसा माना करता था और कभी मतदान नहीं किया था। पर उन चुनावाओं में मैंने बढ़ चढ़ कर प्रचार और प्रबंधन में भाग लिया था, जिसने मुझे मतदान करने के लिए उत्साहित किया था। लेकिन, उस पराजय के बाद चुनावी प्रक्रिया से पूरी तरह से मेरा मोहभंग हो गया और मैंने उसके बाद बहुत सालों तक मतदान नहीं किया जब तक कि आम आदमी पार्टी मैदान में नहीं आया।

पंचायतों में भ्रष्टाचार इसलिए होता है कि वहाँ भी वही आम चुनाव प्रणाली अपनाया गया है जो राज्य और केंद्र सरकारें चुनने के लिए लागू है। ग्रामीणों की पारंपरिक पद्धति को नकारा गया है जहां ग्राम सभाओं द्वारा निर्णय लिया जाता है, जो आमतौर पर आकार में छोटा होता है और उसमें सभी सदस्य भाग ले सकते है। पंचायतों की निर्वाचित कार्यकारिणी, सरपंच और पंचों का कोई वेतन नहीं होता है। वे पंचायत के कार्याओं में उनके द्वारा लगाए गए समय के लिए क्षतिपूर्ति के लिए भ्रस्टाचार का सहारा लेते है। यह समस्या उन तीन पंचायतों में सामने आई, जिसमें 1989 में खेमचेस सत्ता में आई थी। हमने सरपंचों के समर्थन में रोटेशन द्वारा काम करने वाले लोगों की एक टीम बनाकर इस समस्या को दरकिनार करने की कोशिश की और हम कार्यकर्ताओं ने भी खूब भागदौड़ की। जल्द ही हमने पाया कि हमारी योजनाओं के लिए ग्रामीण विकास विभाग के नौकरशाही के विरोध के कारण कोई भी काम करना बहुत कठिन था।

फिर भी, हमने अलीराजपुर जिले में पहली बार जल ग्रहण क्षेत्र विकास में कुछ अच्छा काम किया और ग्रामीण स्तर पर आय सृजन के लिए अधिकांश विकास निधि का उपयोग किया। यह व्यवस्था

टिकाऊ नहीं थी क्योंकि इसमें हमारी सफलता इस पर निर्भर था कि इसकी निगरानी करने वाले हमारे कार्यकर्ता सक्रिय रहे। जिस क्षण हम व्यापक मुद्दों के संघर्षों में व्यस्त हो गए, हमने जो व्यवस्था बनाई थी वह ध्वस्त हो गई। लोगों ने नौकरशाही के साथ संघर्ष करने में सरपंचों की मदद करने से इनकार कर दिया। आखिरकार, सभी तीन सरपंचों को नौकरशाही के सहयोग के लिए भ्रष्टाचार का सहारा लेना पड़ा। इसके बाद के चुनावों में हालात और भी अजीब हो गए, जिसमें खेमचेस के सदस्य एक-दूसरे के खिलाफ खड़े हो गए। खेमचेस ने आखिरकार यह निर्णय की कि वह एक संगठन के रूप में पंचायत चुनावों में सक्रिय रूप से भाग नहीं लेगा, पर उसके सदस्य ऐसा करने के लिए स्वतंत्र थे।

राजस्थान में मजदूर किसान शक्ति संगठन (मकशस), जिसने बाद में पंचायतों के भीतर भ्रष्टाचार के मुद्दे को उठाया और सूचना के अधिकार के लिए एक सफल राष्ट्रीय अभियान चलाया, भी इस मूल समस्या को दूर नहीं कर पाया। सन 2000 के पंचायत चुनावों में जीतने वाले दो मकशस सरपंचों को उस समय के लिए बाहर के स्रोतों से प्राप्त धन से क्षतिपूर्ती दिया जाना था, जो उन्होंने पंचायत मामलों के प्रबंधन में लगाए थे। इस बाहरी समर्थन के साथ पंचायत के हितों में अच्छी तरह से काम करने के बावजूद, मकशस 2005 के चुनावों में इन पंचायतन पर सत्ता बनाए रखने में असमर्थ रहा। इन पंचायतों में से एक में वह गांव शामिल है जिसमें संगठन का मुख्यालय है। मकशस ने एक अराजकतावादी सोच के साथ इन चुनावों को लोगों के घोषणापत्र और एक घोषणा के साथ लड़ा था कि सरपंच के लिए कोई भी उम्मीदवार 2000 रुपये से अधिक खर्च नहीं करेगा। यह भी वादा किया था कि निर्वाचित सरपंचों को उस समय के लिए बाहरी धनराशि का समर्थन दिया जाएगा जो वे पंचायत को देते हैं। फिर भी, मकशस के सरपंच पद के बारह उम्मीदवारों में से केवल दो, अन्य उम्मीदवारों के खिलाफ चुनाव जीतने में कामयाब रहे, जिन्होंने अपने चुनाव अभियानों पर हजारों रुपये खर्च किए। राजनीतिक शक्ति के अति-केंद्रीकृकरण और उसके परिणाम स्वरूप हो रहे भ्रष्टाचार को खत्म करने के लिए लंबी लड़ाइयां लड़ने के विपरीत लोग अपनी समस्याओं के लिए तत्काल सुधार की माँग करते हैं। इस प्रकार, जनता की उत्साहहीनता और राज्य के दमन के बीच अराजकतावादी कार्यकर्ता अपने आप को अकेला पाता है।

संसद और विधानसभाओं में और यहां तक कि पंचायत स्तर पर भी अपनी उपस्थिति दर्ज कराने में असमर्थता ने भारत में पर्यावरणवादी आंदोलन को गंभीर रूप से बाधित किया है। फलस्वरूप इन आंदोलनों को पैरवी और कानूनी लड़ाइयों पर भरोसा करना पड़ता है। परंतु राजनीतिक दबाव बनाने में इन तरीकों की अपनी सीमाएं हैं जब विकास और शासन के मूलभूत मुद्दे दांव पर होते हैं। नबआ ने नेशनल एलायंस ऑफ पीपुल्स मूवमेंट्स (एनएपीएम) की छतरी के नीचे देश के सभी प्रमुख पर्यावरणवादी जन आंदोलनों के गठबंधन बनाने का बीड़ा उठाया है। लेकिन चूंकि इन सभी आंदोलनों की अपनी ताकत पर्याप्त नहीं होती है कि वे चुनाव जीतने में सक्षम हो, इसलिए वे एक साथ मिलकर भी बहुत बेहतर प्रदर्शन करने में सक्षम नहीं होते हैं। गणित की तरह, एक दूसरे के साथ गुणा किए गए छोटे अंशों के परिणामस्वरूप इनका गुणनफल राष्ट्रीय स्तर पर एक छोटा नगण्य अंश होता है! एनएपीएम द्वारा नदियों को जोड़ने की योजना का मूर्खतापूर्ण उद्यम के खिलाफ दिए जा रहे तर्क की अवहेलना कर सरकार द्वारा उस पर अमल की कोशिश की जा रही हैं।

जोसेफ हेलर के उपन्यास कैच-22 में उसके नायक योसेरियन से पूछा जाता है कि वह किसे अधिक पसंद करता है, जीवित रहना या युद्ध जीतना। वह जवाब देता है कि वह दोनों चाहता है, क्योंकि युद्ध जीतने का किसी मृत व्यक्ति के लिए कोई फायदा नहीं है। उसे कहा जाता है कि इस प्रकार की सोच से वह केवल दुश्मन की मदद करेगा। वह निडरता से जवाब देता है कि दुश्मन वह व्यक्ति है जो किसी को भी मार देता है, चाहे वह युद्ध के किसी भी पक्ष का हो। वर्तमान में अराजकतावादी पर्यावरण आन्दोलनदारी खुद को एक अत्यधिक केंद्रीकृत मानव सभ्यता के द्वारा प्रकृति के साथ किए जा रहे युद्ध में शामिल पा रहे हैं। वे पागल योद्धा जो इस वैश्विक मानव सभ्यता को नियंत्रित करते हैं, लगातार इस युद्ध को, जो निरर्थक और घातक दोनों हैं, जीतने के लिए कोशिश कर रहे है। जब अराजकतावादियों को विकास और प्रगति के दुश्मन होने का करार दिया जाता है, तो वे कहते है कि इस तरह की प्रगति प्रकृति और मनुष्यों दोनों के लिए दुश्मन है। अगर इस प्रगति के लिए दुनिया भर के करोड़ों वंचित लोगों को लगातार अपने जीवन और आजीविका से हाथ धोना पड़ रहा है, तो इसका क्या उपयोग है? योसेरियन की तरह, अराजकतावादी भी विनाशकारी विकास के पागलपन में फंसे है और उससे कोई छुटकारा नजर नहीं आ रहा है।

अध्याय 21 - भैंस के आगे बीन बजाना

भारतीय जनता के लिए सबसे बड़ी त्रासदी रहा है स्वतंत्रता के समय ब्रिटिश उपनिवेशवाद की जगह आंतरिक उपनिवेशवाद का प्रतिस्थापन। इस आंतरिक उपनिवेश में, जनता की कीमत पर दक्षिणपंथी राजनेताओं, जमींदारों, राजाओं, उद्योगपतियों और नौकरशाहों को लाभान्वित होना था। इन शोषक समूहों के बीच आपसी भाईचारे की भावना है और इसलिए जमींदारों, राजाओं, उद्योगपतियों और नौकरशाहों का चुनावी राजनीति में प्रभाव बढ़ते गया है। वर्तमान में इस तमाशे में फिल्मी सितारों और खूंखार अपराधियों का भी आगमन हो गया है। भारतीय संविधान के, जिसे 1951 में अपनाया गया था एवं जो इस अन्यायी व्यवस्था को संभव बनाने के लिए एक कानूनी ढांचा प्रदान प्रदान करता है, कुल 395 धाराओं में से 250 को औपनिवेशिक भारत सरकार अधिनियम 1935 से लगभग शब्दशः नकल किया गया था। जोर इस पर दिया गया था कि एक मजबूत केंद्रीकृत राज्य तंत्र हो जो आम नागरिकों द्वारा अपने हकों के लिए किए जा रहे संगठित संघर्ष को आसानी से दबा सके। इसके लिए, भारतीय दंड संहिता, अपराध प्रक्रिया संहिता, पुलिस अधिनियम, निवारक निरोध कानून, भारतीय वन अधिनियम और भूमि अधिग्रहण अधिनियम जैसे सभी कठोर औपनिवेशिक कानूनों को जारी रखने की अनुमति दी गई थी। संविधान का मसौदा तैयार करने वाले नौकरशाह काफी चतुराई के साथ नौकरशाहों को अभियोजन से बचाने वाले प्रावधानों को संविधान में शामिल किए। देश के नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार दिए गए थे, जो ब्रिटिश शासन के दौरान नहीं थे। ये विभिन्न बुनियादी स्वतंत्रता और सामाजिक और आर्थिक न्याय से संबंधित हैं। क्योंकि, राज्य और नौकरशाहों द्वारा इनका उल्लंघन को केवल उच्च और सर्वोच्च न्यायालयों में महंगे मुकदमेबाजी द्वारा चुनौती दी जा सकती है, इसलिए प्रभावी रूप से नागरिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय गरीबों के लिए सुनिश्चित नहीं हो सका।

सत्तारूढ़ राजनेताओं, उद्योगपतियों, सामंतों और नौकरशाही के बीच इस अपवित्र सांठगांठ के कारण करोड़ों गरीब नागरिकों की स्थिति में बेहतरी लाने में भारतीय राज्य की पूरी तरह से असफलता और नेहरू के औद्योगिक विकास के विनाशकारी परिणाम आजादी के बाद के डेड़ दशक में स्पष्ट हो गए। सोशलिस्ट पार्टी के नेता, डॉ राम मनोहर लोहिया, ने 1963 में कांग्रेस सरकार के खिलाफ पहला अविश्वास प्रस्ताव लाया। उन्होंने आरोप लगाया कि जबकि नेहरू पर प्रतिदिन रु 25,000 खर्च किए जा रहे थे, गरीब व्यक्ति प्रतिदिन मुश्किल से तीन आना या लगभग 20 पैसे कमा रहा था। सरकार की प्रतिक्रिया थी कि योजना आयोग के अनुमानों के अनुसार, किसी व्यक्ति की औसत दैनिक कमाई 15 आना या 95 पैसे थी और 20 पैसे नहीं। डॉ लोहिया ने भारतीय संसदीय बहसों के इतिहास में सबसे अधिक समय तक चलने वाली शोध परक बहस में दिखाया कि किस तरह से योजना आयोग अपने अनुमान के मुताबिक देश के सबसे अमीर लोगों की कमाई और सब से गरीब लोगों की कमाई का औसत माँ को आकलित कर संसद को भ्रमित किया है। जबकि उनका अपना अनुमान देश के केवल सबसे गरीब लोगों के प्रतिदर्श पर आधारित था, जो उस समय देश की सत्तर प्रतिशत आबादी थी। प्रस्ताव पर बोलने के लिए सूचीबद्ध विपक्ष के सभी सदस्यों ने डॉ लोहिया को अपना समय दे दिए ताकि वे बेरहमी से गलत शासन और दुर्भावनापूर्ण विकास की वास्तविकता को उजागर कर सके।

"तीन आना - पन्द्रह आना बहस" के नाम से मशहूर यह बहस नेहरू की प्रतिष्ठा को पहली बार संसद में हिलाया और बाद में कांग्रेस पार्टी की शक्ति की गिरावट का अग्रदूत बना।

ब्रिटिश काल के भारतीय सिविल सेवा (आईसीएस) अधिकारियों, जो स्वतंत्र भारत में नागरिक प्रशासकों के प्रवृत्ति निर्धारित किए थे, के शाही रवैये का एक अंदाज, भारतीय सिविल सेवकों में से एक, के.पी.एस.मेनन के यह कथन से मिलता है, "एक आईसीएस कलेक्टर एक डिप्टी कलेक्टर या पुलिस अधीक्षक के साथ हाथ मिला सकता है, भले ही वह प्रांतीय सेवा से हो। उसे बैठने भी दिया जा सकता है। वे कलेक्टर को उसके पहले नाम से भी बुला सकते है बिना 'राव साहिब' या 'खान साहिब' के सम्बोधन से। लेकिन तहसीलदार या पुलिस निरीक्षक ऐसा नहीं कर सकता है। इस तरह की रीतियों से ब्रिटिश अधिकारी अपना वर्चस्व बनाया रखता था। आईसीएस के भारतीय अधिकारी भी इस परंपरा के अनुरूप ही बर्ताव करते हैं।" इस शाही माहौल को देखते हुए, यह आश्चर्यजनक नहीं है कि देश के शुरुआती भारतीय प्रशासनिक सेवा (भाप्रसे) अधिकारियों में से एक, बी.पी.आर विट्ठल को, जो गांधीवाद से प्रभावित छात्र के रूप में चरखे पर खादी का धागा बनाते थे, सन 1950 में भाप्रसे अधिकारी बनने के बाद इसे त्याग देना पड़ा था क्योंकि "युवा भाप्रसे अधिकारी के लिए कताई करने को वैसे हीं पाखंडी माना जाता जैसे युवाओं का धर्मनिरपेक्षता और लैंगिक न्याय के लिए आंदोलन करना।" गांधी उस पर दया करके उस समय तक स्वर्ग चले गए थे।

भाप्रसे का एक और प्रारंभिक अधिकारी, टी.एस.आर. सुब्रमण्यम, जो बाद में केन्द्रीय सरकार के कैबिनेट सचिव के रूप में देश के शीर्ष नौकरशाही पद को सुशोभित किए थे, ने अपने संस्मरण में ब्रिटिश वायसराय कॉर्नवॉलिस को अच्छा प्रशासक होने की श्रद्धांजलि अर्पित की है भारत में पहला व्यवस्थित (और किसानों की दृष्टि से अत्यधिक प्रतिगामी) भूमि बंदोबस्त प्रणाली स्थापित करने के लिए । सुब्रमण्यम की पहली पोस्टिंग कलेक्टर के रूप में 1965 में पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले में हुई थी, जहां 1942 में अंग्रेजों के खिलाफ बड़े पैमाने पर किसान विद्रोह हुआ था। इस जिले में जमीन का वितरण इतना असमान है कि इस क्षेत्र के गरीब किसानों और भूमीहीनों के बड़े हिस्से को आजीविका की तलाश में मुंबई, दिल्ली और कोलकाता शहरों की ओर पलायन करना पड़ता है। कॉर्नवॉलिस के प्रति उनकी श्रद्धा को देखते हुए, इस भाप्रसे के अधिकारी से शायद ही उम्मीद की जा सकती थी कि वे किसानों के हित में उस समय तक पारित किए गए सूदखोरी रोधक कानूनों और विभिन्न भूमि सुधार कानूनों को लागू करें। इसके बजाय उन्होंने अपने आधिकारिक निवास के बगीचे में क्रिकेट का अभ्यास के लिए इंतेजाम करने में खुद को व्यस्त करना पसंद किया। वे एक क्रिकेट टीम तैयार किया और वह गर्व से घोषणा करता है कि उसके वहाँ से स्थानांतरित होने से पहले वह टीम अन्य जिलों के साथ मैच जीतना शुरू कर दिया था।

घर के करीब, 1994 में, अलीराजपुर में एक नए भाप्रसे अधिकारी को उपखंड मजिस्ट्रेट (एसडीएम) के रूप में नियुक्त किया गया था। वह अपने बंगले में तुरंत केबल टीवी कनेक्शन चाहता था। एकमात्र केबल टीवी प्रदाता के पास केबल खत्म हो गया था और उसने कहा कि उसे इंदौर से ताजा आपूर्ति प्राप्त करने में एक या दो दिन लगेंगे। एसडीएम ने कुछ सुनने को राजी नहीं था और उसने उस

केबल टीवी वाले को अप्रस की धारा 151 के तहत गिरफ्तार कर जेल भेज दिया था। यह धारा लोगों को सार्वजनिक शांति भंग करने से रोकने का प्रावधान है। एसडीएम ने महसूस किया होगा कि अलीराजपुर जैसे अंदरूनी जगह में उनकी टीवी देखने से वंचित होना उनके मन की शांति का उल्लंघन था। बेचारा केबल टीवी प्रदाता तब तक जेल में रहा, जब तक उसका कर्मचारी इंदौर जाकर केबल लाकर कनेक्शन स्थापित नहीं किया। जब मैंने केबल ऑपरेटर को कलक्टर के पास जाने और एसड़ीएम की शिकायत करने की सलाह दी, तो उसने डर के मारे यह कहते हुए अपने हाथों को जोड़ लिया कि उसके लिए जो हुआ था वह पर्याप्त था और मुझे अपनी सलाह अपने पास रखनी चाहिए!

यह धारा, अप्रस के कुछ अन्य ऐसे धाराओं के साथ, जो सभी सार्वजनिक कानून और व्यवस्था सुनिश्चित करने और आपराधिक तत्वों द्वारा शांति भंग करने को रोकने के लिए पारित किए गए हैं, ऐसे आसान उपकरण हैं जिनके सहारे प्रशासन किसी भी लोकतांत्रिक सामूहिक विरोध को आसानी से दबा सकता है। सैद्धांतिक रूप से, पुलिस और कार्यकारी मजिस्ट्रेटों के बीच एक शक्तियों का विभाजन है जिसके तहत इन धाराओं में गिरफ्तार किए गए लोगों को जेल भेजे जाने से पहले मैजिस्ट्रैट के सामने पेश किया जाता है यह जाँचने के लिए कि वास्तव में पुलिस द्वारा लगाए गए आरोप सही है या नहीं। हालांकि, जब लोकतांत्रिक जन विरोधों को नियंत्रित करने की बात आती है, तो मजिस्ट्रेट खुद विरोध प्रदर्शन करने वाले नेताओं को गिरफ्तार करने का निर्णय लेते हैं। पुलिस इन आदेशों को अंजाम देती है और गिरफ्तार लोगों को उन्हीं मजिस्ट्रेटों के सामने लाती है जिन्होंने उनकी गिरफ्तारी का आदेश दिया है। जिस व्यक्ति को गिरफ्तार किया जाता है, उसे खुद को मुचलका भरना होता है और जमानत भी प्रस्तुत करनी होती है। उसके बाद उसे नियमित रूप से अदालत में उपस्थित होना होता है। अंत में, आरोपित व्यक्ति को इस आशय के एक बंधन लेख पर हस्ताक्षर करना होता है कि भविष्य में वह शांति बनाए रखेगा। एक बार जब कोई व्यक्ति इस बंधन लेख पर हस्ताक्षर करता है, तो वह स्वतः स्वीकार करता है कि उसने शांति भंग किया था। यानि वह अपना अपराध स्वीकार करता है और उसके बाद उसे दोषी माना जाता है। अगर इस प्रकार कई दफा किसी व्यक्ति को इन धाराओं में दोषी ठहराया जाता है, तो वह प्रशासन की नज़र में एक संगीन अपराधी बन जाता है। ऐसा होने पर प्रशासन एक और आपराधिक कानून के तहत एक प्रक्रिया शुरू कर सकता है जिसमें आरोपित व्यक्ति को वह जिला, जिसमें वह निवास करता है और आसपास के सभी जिलों से निष्कासित किया जाता है। अक्सर जन आंदोलनों में लोगों के खिलाफ कई झूठे आपराधिक मामले दर्ज किए जाते हैं और इसलिए प्रशासन के लिए एक जन आंदोलन के कार्यकर्ता के खिलाफ बहिष्कार का आदेश पारित करना आसान होता है।

अप्रस की धारा 151 के तहत मुझे कई बार जेल हुई है लेकिन मैंने कभी भी बंधन लेख पर यह कहते हुए हस्ताक्षर नहीं किया कि मैं भविष्य में शांति बनाए रखने जा रहा हूं। जब यह पहली बार मुझ पर लगाया गया था, तो उच्च न्यायालय ने पुलिस को मेरे गिरफ़्तारी के समय प्रक्रियाओं का पालन नहीं करने के लिए फटकार लगाने के बाद मुझे बिना शर्त रिहा कर दिया गया था। यह पहला मौका था जब अलीराजपुर में किसी ने प्रशासन द्वारा प्रतिबंधात्मक निरोध के गैरकानूनी इस्तेमाल के खिलाफ उच्च न्यायालय का रुख किया था और इसने स्थानीय प्रशासन के भीतर एक छोटी सी हलचल पैदा

कर दी थी। बाद के अवसरों पर, कभी-कभी मैं भूख हड़ताल कर या प्रशासन, यह जानकर कि मैं किसी भी कागज़ पर हस्ताक्षर नहीं करूँगा स्वयं ही प्रकरण वापस लेने से, रिहा हुआ हूं। एक अवसर पर, देवास के पुलिस अधीक्षक ने मुझे एक बस से गिरफ्तार किया था जिसमें मैं यात्रा कर रहा था, बस मुझे यह दिखाने के लिए कि वह कितना ताकतवर है। इसके बाद उन्होंने पश्चिमी मध्य प्रदेश के पांच जिलों में चारों ओर वायरलेस संदेश भेजे यह पता करने के लिए कि मेरे खिलाफ कोई गिरफ्तारी वारंट लंबित है या नहीं। पर उस समय कोई गिरफ़तारी वारंट नहीं थे; इसलिए अंततः मुझे आठ घंटे तक हिरासत में रखने के बाद, उन्होंने अपने गुर्गों को अप्रस की धारा 151 के तहत मेरे खिलाफ झूठी आरोपपत्र तैयार करने का आदेश दिया। इस बीच, मैं लगातार निचले स्तर के पुलिसकर्मियों को दबाव डालते रहा कि सर्वोच्च न्यायालय के फैसलों के अनुसार मेरी गिरफ्तारी के कारणों को बताते हुए एक गिरफ्तारी ज्ञापन मुझे दिया जाय। इसलिए जब उन्होंने आखिरकार मुझे आठ घंटे के बाद धारा 151 अप्रस के तहत गिरफ्तारी ज्ञापन पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा, तो मैंने ऐसा करने से इनकार कर दिया। इससे पुलिस के लिए एक समस्या पैदा हो गई, और अंततः एसडीएम, जिनके सामने मुझे पेश किया गया, ने मेरे खिलाफ दाखिल आरोप पत्र को गलत बताते हुए मुझे बिना शर्त रिहा कर दिया!

आदिवासियों से मेरे जैसे इस तरह की कानूनी कुशलता की उम्मीद नहीं की जा सकती है। ये लोग हमेशा एक बंधन लेख पर हस्ताक्षर करते हैं जिसमें लिखा होता है कि वे भविष्य में शांति बनाए रखेंगे और इसलिए खुद को दोषी ठहराते है। इस तरह के एक आदिवासी कार्यकर्ता, कई लड़ाइयों के अनुभवी, जिसमें से काटकुट में होस्टल वार्डन के खिलाफ लड़ाई का पहले ही उल्लेख किया गया है, छोटेलाल बामनिया हैं जो अभी और इस दुनिया में नहीं है। खरगोन जिले के पुलिस अधीक्षक ने जिला कलेक्टर को एक प्रस्ताव रखा, जिसमें छोटेलाल के खिलाफ लंबित सभी मामलों को सूचीबद्ध किया गया और मांग की गई कि उसे जिले से बाहर कर दिया जाए। इसके बावजूद ki उसे किसी भी मामले में दोषी नहीं ठहराया गया धारा 151 अप्रस के मामलों के अलावा।

जब उन्हें निर्वासन आदेश दिया गया, तो हमने उसके खिलाफ एक आवेदन तैयार किया आर मैं गृह सचिव के समक्ष इसे दर्ज करने के लिए भोपाल छोटेलाल के साथ गया। इसके पहले महेंद्रिखेड़ा में आदिवासी मोर्चा संगठन को निशाना बनाने के लिए बड़े पैमाने पर दमन किया गया था, जिसमें मुझे एक खतरनाक विध्वंसक करार दिया गया था। मैंने सोचा था कि अगर मैं गृह सचिव को अपनी पहचान बताऊंगा, तो छोटेलाल को कोई भी राहत नहीं मिलेगा। इसलिए मैंने पुष्पेन्द्र से, जो उस समय भोपाल में एक शाम का अखबार का संपादक बन गया था, उसके नाम से गृह सचिव के साथ मुलाकात का समय मांगने को कहा। मैं पुष्पेंद्र के साथ उसके सहायक बनकर जाने का फैसला किया।

हम तीनों सचिवालय के लिए रवाना हो गए, और कुछ के प्रारंभिक आदान-प्रदान के बाद, पुष्पेन्द्र ने गृह सचिव को छोटेलाल की ओर से आवेदन सौंपा। जब उन्होंने पढ़ा कि छोटेलाल आदिवासी शक्ति संगठन के सदस्य है, तो उन्होंने पुष्पेंद्र को चेतावनी दी कि यह राज्य को उखाड़ फेंकने का संकल्प लिए एक खतरनाक संगठन है, और अगर पुष्पेंद्र ने सावधानी नहीं बरती, तो वह गंभीर संकट में पड़ सकते हैं। वह बताया कि छोटेलाल और उनके जैसे अन्य आदिवासी साधारण लोग थे, और असली

अपराधी राहुल बनर्जी है जो उन्हें पर्दे के पीछे से भड़का रहा है। उन्होंने यह भी कहा कि मैं एक चालाक व्यक्ति था, जो गुप्त रूप से पश्चिमी मध्य प्रदेश में नक्सलवाद के प्रसार के लिए आधार तैयार कर रहा था। उन्होंने खेद व्यक्त किया कि महेन्दीखेड़ा में राज्य द्वारा की गई दमनात्मक कार्रवाई के बावजूद, मेरी उपस्थिति के कारण इस क्षेत्र से अतिवादी कार्यों के बीज को मिटाया नहीं जा सका है।

गृह सचिव ने पुष्पेंद्र से कहा कि जिस तरह से मैं राज्य के प्रयासों को बेअसर करने के लिए प्रेस और अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार संगठनों का उपयोग करता हूं उससे राज्य में चरमपंथ को जड़ से खत्म करने का अभियान कमजोर पड़ रहा है। सचिव ने मेरी गतिविधियों के बारे में गोपनीय फ़ाइल से पढ़ना शुरू किया। पुष्पेंद्र ने मुझे नोट्स लेने के लिए कहा! मुझे मेरे खिलाफ लगाए गए सारे झूठे इल्जामों की सूची की जानकारी मिली। अन्य बातों के अलावा, यह कहा गया कि सुभद्रा और मेरी शादी नहीं हुई थी और हम केवल एक साथ रह रहे थे। शादी के बाद सुभद्रा ने अपना उपनाम नहीं बदला था। इसके चलते पुलिस इस निष्कर्ष पर पहुंची कि हम शादीशुदा नहीं है। दरअसल, सुभद्रा के अपने पहले के उपनाम को बनाए रखने के फैसले से नौकरशाही के साथ कई विचित्र मुकाबले हुए हैं। एक अवसर पर जब मैं इंदौर में निवास करना शुरू किया तो मतदाता सूची में अपना नाम दर्ज कराने गया था। एसडीएम ने सुभद्रा का उपनाम खापर्डे रखने से इनकार कर दिया। जब मैंने उनसे कहा कि सुभद्रा एक स्वतंत्र व्यक्ति हैं और उन्हें जो भी उपनाम पसंद है, उसका उपयोग करने के लिए वे स्वतंत्र हैं, तो उन्होंने मुझे बताया कि मुझे इस तरह की अधिक भाव खाने वाली पत्नी को सबक सिखाने का सुनहरा अवसर मिला है और इसका फायदा उठाकर मुझे उसका उपनाम बदल देना चाहिए मतदाता सूची में! हमें इसके बाद कलेक्टर के पास जाना पड़ा ताकि सुभद्रा का उपनाम ठीक से मतदाता सूची में दर्ज हो सके। फिर भी प्रकाशित मतदाता सूची केवल सुभद्रा के पिता का पहला नाम दिखाती है न कि उसका उपनाम!

गृह सचिव के साथ बैठक के अंत में, छोटेलाल ने उन्हें आवेदन की प्राप्ति के प्रमाण के रूप में उसकी प्रति पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा। एक बार फिर, सचिव यह कहते हुए भड़क गए कि एक साधारण आदिवासी इस प्रकार रसीद के लिए गृह सचिव से पूछने की हिम्मत नहीं कर सकता है। उन्होंने कहा यह सब मेरी करतूत थी। हम कार्यालय से बाहर आ गए, और एक बार सचिव के श्रवण सीमा से बाहर हो जाने पर हम हँसी में फूट पड़े जो कि सचिवालय के गलियारों में गूँजते रहा। पुष्पेंद्र ने आखिरकार मेरी पीठ पर ताली ठोका और कहा, "राहुल तुम्हारे सारे संघर्ष व्यर्थ नहीं गए है।" यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि विभिन्न मुद्दों पर दो महीने के लिए विचार के बाद, गृह सचिव ने छोटेलाल की अपील को खारिज कर दिया। हम फिर उच्च न्यायालय में अपील किए और सात महीने के बाद उच्च न्यायालय ने जिला बदर के आदेश को रद्द कर दिया। उच्च न्यायालय ने माना कि निर्वासन का आदेश अवैध था और कानून के प्रावधानों और प्राकृतिक न्याय के मूल सिद्धांतों का भी उल्लंघन किया गया था। हमने तब पुलिस अधीक्षक और जिला कलेक्टर को न्याय नोटिस की मांग करते हुए कहा कि उच्च न्यायालय के आदेश में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उन्होंने छोटेलाल को अवैध रूप से परेशान किया था, और इसलिए उन्हें लिखित माफीनामा देना चाहिए और मुआवजा देना

चाहिए। जाहीर है कि दोषी अधिकारियों से कोई जवाब नहीं आई। हमने बाद में विभिन्न प्राधिकरणों को आवेदन भेजे हैं, अदालतों में दोनों के खिलाफ मुकदमा चलाने की अनुमति की मांग करते हुए जैसा कि कानून के तहत अनिवार्य है। पर इसके भी कोई जवाब नहीं आए।

एक आदर्शवान युवा भाप्रसे अधिकारी ने एक बार बड़वानी में कृषि श्रमिकों को न्यूनतम वैधानिक मजदूरी प्रदान करने का प्रयास किया था, जिसे तुरंत स्थानीय राजनीतिक ताकतों के दबाव में अलीराजपुर स्थानांतरित कर दिया गया था। वहां उन्होंने स्थानीय पुलिस द्वारा हत्याओं को आत्महत्या के रूप में चला देने की गलत प्रथा की जांच शुरू की। एक बार फिर, उन्होंने स्थानीय राजनीतिक दिग्गजों के विरोध का सामना करना पड़ा, जिन्होंने उनके खिलाफ गैर-जमानती गिरफ्तारी वारंट जारी करवाया। उन्होंने हमें उसकी मदद के लिए प्रेस में हमारे संपर्कों का उपयोग करने की अपील की। उन्होंने मुझे उस समय यह भी बताया कि पुलिस "अपराधियों का एक गिरोह है जिन्हें कानून की मंजूरी है।"

इसके बाद जब वह 1993 में जिला कलेक्टर के रूप में फिर से अलीराजपुर आया तब तक वह आदर्शवान युवक एक खौफनाक नौकरशाह में बदल चुका था। पहले के दिनों के हमारे सौहार्दपूर्ण संबंधों को भूलकर उन्होंने खेमचेस और नबआ की कमर तोड़ने का फैसला किया, जिनकी गतिविधियाँ तब पूरे जोरों पर थीं। इन सबका परिणाम ककराना का अपरिहार्य टकराव था, जहां उसने खेमला को थप्पड़ मारा। खेमला और अन्य कार्यकर्ताओं को अलीराजपुर में एसडीएम, जो भी एक भाप्रसे अधिकारी था, और पुलिस द्वारा पीटा गया था। फिर वे सभी अलीराजपुर की सड़कों पर हथकड़ी में घुमाये गए। अंजनबारा टकराव के बाद वह और क्रूड हो गया और हम पर पुलिसिया दमन बरपाया। हमें पिटाई करने और हम सभी को जेल में डालने के लिए पुलिस को उकसाया। यहां तक कि उन्होंने अलीराजपुर में सरकारी पैसे से हमारे खिलाफ एक जुलूस भी निकाली। मध्यप्रदेश उस समय राष्ट्रपति शासन के अधीन था। चूँकि उनके कार्यों को प्रशासन द्वारा समर्थन किया गया था, इसलिए हम यह मान सकते है कि राज्य की पूरी नौकरशाही हमारे संगठन के इस अवैध दमन में शामिल था। यह केवल उच्चतम न्यायालय के हस्तक्षेप ही था कि हमारी याचिका में वर्णित मानव अधिकारों के उल्लंघन को सही मानते हुए इस अधिकारी को स्थानांतरित कर दिया गया।

एक भाप्रसे अधिकारी ने अपने सहकर्मियों का एक मूल्यांकन किया है, जो साबित करता है कि भारत जैसे अधिकतर ग्रामीण विकासशील देश के लिए वे कितने अप्रासंगिक और बुरे है - "गरीबों के लिए चिंता का दुर्भाग्यपूर्ण अभाव इसमें देखने में आता है कि जिस तरह से भाप्रसे अधिकारी अपनी नौकरी ग्रेड करते हैं। ... औद्योगिक और वाणिज्यिक विभागों में पद और निगमों में उच्च पद पर पदस्थ होना वे सब से अहम मानते हैं। ये पद भाप्रसे अधिकारी को केन्द्र सरकार में प्रवेश करने में सक्षम बनाते हैं और साथ ही उद्योगपतियों और व्यापारियों के साथ संबंध बनाने का अवसर भी देते हैं जिनके साथ उनका वर्ग संबंध है। इसके बाद सूची में वे पद होते है जो काफी सत्तावले होते है जैसे जिला का प्रभार, गृह, स्थापना, वित्त आदि विभाग। सबसे कम प्राथमिकता उन पदों को दी जाती है जहां उत्कृष्ट प्रदर्शन का सीधा फायदा सबसे गरीब लोगों को होगा, जैसे कि हरिजन और समाज कल्याण

विभाग, राजस्व प्रशासन, भूमि सुधार, भूमि निपटान, ग्रामीण विकास, आदि।" वह आगे कहते हैं, "1960 के दशक के उत्तरार्ध में एक अधिकारी मध्य भारत के एक पिछड़े जिले में गया, लेकिन दो साल के प्रवास में उनकी एकमात्र याद यह थी कि यह जिला प्राचीन प्रतिमाओं से भरा हुआ था और वे उत्साह से उन्हें ढूंढते थे और पुरावशेष को अपना लेते थे। न केवल उनकी कार्रवाई की अवैधता ने उन्हें परेशान नहीं किया, बल्कि उन्होंने वहाँ के लोगों की गरीबी, सामाजिक ऋणग्रस्तता और जिले में तीव्र शोषण पर ध्यान नहीं दिया।

कुछ भाप्रसे अधिकारियों ने अलीराजपुर में हमारे काम के शुरुआती दौर में हमारी मदद की। इन अधिकारियों में से कुछ ने बाद में सुभद्रा को उनकी एक महत्वपूर्ण व्यक्तिगत लड़ाई लड़ने में मदद की। भारतीय समाज की सबसे बड़ी त्रासदियों में से एक है सभी समुदायों में महिलाओं के लिए संपत्ति विरासत में पाने के अधिकारों की कमी है। ग्रामीण क्षेत्रों में यह और भी अधिक समस्या है, जहाँ कभी-कभी भूमि एकमात्र आर्थिक संसाधन होती है, जिसके कारण महिलाओं को गंभीर पितृसत्तात्मक उत्पीड़न सहना पड़ते है। स्वतंत्र भारत के पहले कानून मंत्री के रूप में, बाबासाहेब अम्बेडकर ने महिलाओं को समान विरासत के अधिकार देने के लिए एक कानून बनाने की कोशिश की पर उन्हें कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। चार साल के निरर्थक प्रयासों के बाद, उन्होंने 1951 में इस विरोध से चिढ़कर इस्तीफा दे दिया। हालांकि, बाद में कुछ राज्यों में इस तरह के कानून लागू किए गए। मध्य प्रदेश में, कृषि भूमि के उत्तराधिकार के बारे में कानून स्पष्ट रूप से कहता है कि बेटों के साथ-साथ बेटियों को भी अपने माता-पिता के पुश्तैनी भूखंड के बराबर हिस्सा दिया जाएगा। हालांकि, व्यवहार में, यह कभी भी लागू नहीं होता है। सुभद्रा ने अपने हिस्से पर दावा करने का फैसला किया जब 1993 में उनके पिता का निधन हो गया। उनके भाइयों ने स्पष्ट रूप से उसे हिस्सा देने से मना कर दिया। इसलिए उसने अपना हिस्सा पाने के लिए प्रशासन को आवेदन करने का फैसला किया।

सौभाग्य से, उस समय बस्तर के जिला कलेक्टर एक भाप्रसे अधिकारी थे, जिन्हें हम अलीराजपुर में उनकी पद स्थापना के समय से जानते थे। वे कार्यवाही को आगे बढ़ाया और चाराम के तहसीलदार ने एक मामला दर्ज किया जो सुभद्रा के पक्ष में गया। हालाँकि, बाद में जिला कलेक्टर के स्थानांतरण के कारण तहसीलदार के आदेश का कार्यान्वयन ठप हो गया था। एक बार फिर एक भाप्रसे, मुख्यमंत्री के सचिव ने, जिन्हें हम जानते थे, हस्तक्षेप किया और कुछ ही समय में तहसीलदार पुलिसकर्मियों की एक टुकड़ी के साथ जैपरा गए और सुभद्रा की जमीन का हिस्सा माप कर उसे दे दिया। नौकरशाही के अपने उपयोग होते हैं, आखिरकार, जब उनकी ताकत को अपने फायदे के लिए लगाना होता है। पूरे भारत में महिलाओं को यह अधिकार देने के लिए अब एक केंद्रीय अधिनियम बनाया गया है। परंतु यह सोचने की बात है कि कितने गरीब ग्रामीण महिलाएं सुभद्रा के जैसे भाप्रसे अधिकारियों से संपर्क स्थापित करने में सक्षम होंगी, ताकि इस कानून को लागू किया जा सके।

ये अधिकारी जिन्होंने स्थानीय राज्य के खिलाफ हमारी लड़ाई में पहले हमारी मदद की थी, जो कि बुनियादी तौर पर इस प्रणाली को चुनौती नहीं दे रहे थे, उन्होंने बाद में खुद को हमसे दूर कर लिया, जब हमने राज्य तंत्र के खिलाफ संघर्ष को प्राथमिकता दी। महेंद्रिखेरा में सरकार द्वारा घोर अवैध

उत्पीड़न की तैयारी और उसके बाद, एक भी भाप्रसे मित्र ने हमारे पक्ष में बात नहीं की। भाप्रसे में अधिक संवेदनशील आत्माएं प्रणाली के मूल जन-विरोधी स्वभाव को देखते हुए कुछ समय बाद इस्तीफा देने के लिए मजबूर हो जाते है। डॉ बी.डी. शर्मा मध्य प्रदेश में ऐसा करने वाले पहले व्यक्ति थे। कई वर्षों बाद, हर्ष मंडेर 2002 में गुजरात दंगों के बाद इस्तीफा दे दिया था। उन्होंने सरकारी कार्य से बहुत पहले ही छुट्टी ले ली थी गैर सरकारी संस्थाओं में काम करने के लिए जब एक प्रशासक के रूप में उनके शुरुआती अनुभवों ने उन्हें दिखाया कि सरकारी नौकरी करते हुए गरीबों के हित में काम करना कितना मुश्किल था। एक भाप्रसे अधिकारी का सबसे अच्छा उदाहरण जिसने इस्तीफा दिया है और फिर अपने जीवन को पीड़ितों को न्याय दिलाने के लिए समर्पित कर दिया है, अरुणा रॉय हैं।

1985 में जब मैं उनसे पहली बार मिला था, तो उन्होंने मुझे बताया था कि एक भाप्रसे अधिकारी के रूप में वह जमीन पर बैठकर आम लोगों के साथ खुलकर बात नहीं कर पाती थीं। अगर आप ऐसा नहीं करते तो आप उनकी समस्याओं को कैसे समझ सकते हैं। उन्होंने 1974 में भाप्रसे से इस्तीफा दे दिया था और लोगों के साथ काम करने के लिए समाज कार्य अनुसंधान केंद्र में शामिल हो गए। लेकिन ग्रामीण विकास कार्य के एक दशक के बाद, वह भी खेमराज की तरह महसूस की कि विकास में भागीदारी की बातें तब तक खोखली रहेंगी जब तक उत्पीड़न के संरचनाओं को ध्वस्त कर लोगों को स्वतंत्र रूप से सोचने और कार्य करने का मौका नहीं दिया जाता हो। उन्होंने खेमराज को अलीराजपुर जाने के लिए प्रोत्साहित किया था और शुरुआती दौर में वहाँ के काम में मदद करने के लिए कुछ समय बिताया था। बाद में, उसने तिलोनिया से बाहर निकलने और 1980 के दशक के अंत में दक्षिणी राजस्थान में उदयपुर जिले की भीम तहसील में काम करने का फैसला किया। यह एक ऐसा क्षेत्र था जहां से अधिकांश किसानों को काम के लिए पलायन करना पड़ता था, क्योंकि उनके खेतों से उपज सामान्य बारिश के वर्षों में भी पर्याप्त नहीं होती थी। इसके अलावा, 1986 से यह क्षेत्र सूखे की चपेट में था, जिसके परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन में और कमी आई थी। इसने अरुणा और क्षेत्र में किसानों और कृषि श्रमिकों के संगठन, मजदूर किसान शक्ति संगठन (मकशस) को क्षेत्र में रोजगार के अवसरों को बेहतर बनाने के लिए वैकल्पिक तरीकों की खोज करने के लिए मजबूर की।

उनकी जांच से पता चला कि पंचायतों के माध्यम से किए जा रहे ग्रामीण विकास कार्यों के कार्यान्वयन में भारी अनियमितताएँ हो रही थीं। इस प्रकार स्थानीय राज्य और निर्वाचित पंचायत प्रतिनिधियों के बीच सांठगांठ से उत्पन्न भ्रष्टाचार को जड़ से मिटाने का अभियान शुरू हुआ। "हमारा पैसा हमारा हिसाब" मकशस का नारा बन गया। यह स्पष्ट था कि विभिन्न तरीकों से धन का दुरुपयोग किया जा रहा था, जैसे कि फर्जी मस्टर रोल और बिना किसी निर्माण कार्य किए उसका मूल्यांकन में उसे पूर्ण बता देना। लेकिन इस फर्जीवाड़ा का पर्दाफाश करने के लिए, किए गए कार्यों के अभिलेख और किए गए मजदूरी भुगतानों की जांच करना आवश्यक था। पर नौकरशाही जनता के निरीक्षण के लिए अपने अभिलेखों को सार्वजनिक करने से इनकार कर दिया यह कहते हुए कि उन्हें सरकारी लेखा परीक्षकों द्वारा प्रमाणित किया गया था। उच्च-स्तरीय नौकरशाही और राजनेताओं को हस्तक्षेप करवाने के प्रयासों ने कोई ठोस परिणाम नहीं लाया क्योंकि यह मांग खतरनाक थी जो केवल पंचायत ही नहीं बल्कि उच्च स्तर पर भी अभिलेखों को सार्वजनिक करवाने तक पहुँच सकती

थी। मकशस ने तब सत्याग्रह के पारंपरिक गांधीवादी साधनों का सहारा लिया और सरकार को इन अभिलेखों को उपलब्ध कराने के लिए मजबूर किया। प्रारंभ में संगठन ने उसी तरह के पुलिस दमन झेल जो आम तौर पर इस तरह के आंदोलन का भाग्य है। पर मकशस डटे रहा और आखिरकार, राजस्थान सरकार ने इस मामले में कुछ रियायतें दीं।

ईस समय मकशस ने वर्ष 1995 में एक नई रणनीति अपनायी, जिसने भारत में सार्वजनिक जन कार्रवाई के क्षेत्र में एक विशाल बदलाव लाया है। नियमित रूप से राज्य द्वारा आंदोलनों की जन कार्यवाही पर दमन बरपाने की प्रवृत्ति से बचने के लिए मकशस ने "जन सुनवाई" की शुरुआत की। इसमें में प्रेस और समाज के प्रभावशाली लोगों को जुटाकर सरकार और नौकरशाही के प्रतिनिधि के साथ गांवों में विशेष रूप से आयोजित बैठकों में उपस्थित किए जाते थे। आम जनता इन बैठकों में भाग लेते थे और विवरण देते थे कि कैसे उन्हें उनके वेतन या अन्य विकासात्मक लाभों से वंचित किया गया था। इरादा यह था कि सरकार और प्रशासन पर नैतिक दबाव बनाकर उन्हें गरीब जनता के प्रति न्याय करने के लिए प्रेरित किया जा सके। यह जल्द ही एक आंदोलन का रूप ले लिया जिसने देखते ही देखते पूरे राष्ट्र में फैल गया। वंचित तबकों को हर तरह के अधिकारों और फायदों से मरहूम रखने के खिलाफ जगह जगह जन सुनवाइयाँ आयोजित की जाने लगीं। इस आंदोलन ने सूचना के अधिकार के लिए राष्ट्रीय अभियान का रूप ले लिया। जन सुनवाई ने जमीनी स्तर पर लोगों की लामबंदी को बढ़ाने और समाज में सहानुभूति रखने वाले लोगों को आंदोलन को साथ लाने की नबआ की पूर्व में विकसित नीति को और अच्छा किया। इसके कारण न केवल 2005 में सूचना का अधिकार अधिनियम पारित हुआ है, बल्कि कई अन्य राष्ट्रीय अभियानों, जैसे आदिवासियों के आधिकार, आवास, बाल और विकलांग लोगों के अधिकार, को भी प्रेरित किया है। राज्य की नुमाइंदों के द्वारा मानवाधिकारों के उल्लंघन पर ध्यान आकर्षित करने के लिए विशेष रूप से जन सुनवाइयाँ काम में आई हैं। अरुणा को वर्ष 2000 में सामुदायिक नेतृत्व के लिए प्रतिष्ठित रेमन मैग्सेसे पुरस्कार से सम्मानित किया गया था, जो पहले जयप्रकाश नारायण और बाबा आमटे को भी मिले थे।

जन सुनवाइयाँ, हालांकि, जन कार्यवाहियों का विकल्प नहीं हो सकते है। समाज में स्थायी परिवर्तन लाने के लिए बड़ी संख्या में उत्पीड़ित लोगों के जन कार्यवाहियों में शामिल होना आवश्यक है। यद्यपि, जन सुनवाइयाँ अधिकारों के उल्लंघन पर ध्यान केंद्रित करने का एक साधन हैं, लेकिन वे स्वयं यह सुनिश्चित नहीं कर सकते हैं कि इन उल्लंघनों का निवारण किया जाएगा। जन सुनवाइयों पर लिए गए फैसलों के समर्थन में बड़े पैमाने पर जनसमूह की अनुपस्थिति के कारण राजनीतिक कार्रवाई का यह रूप गांधीवादी संघर्ष के अन्य रूपों के जैसे ही राज्य की ताकत के सामने फीका पद जाता है। राजस्थान के राजसमंद जिले के उमरवास पंचायत में मकशस द्वारा वर्ष 1999 में किए गए जन सुनवाई के एक बहुचर्चित उदाहरण में पासा बुरी तरह से पलट गया था। पंचायत के सरपंच जो दलित थे, 1995 के चुनाव में शक्तिशाली सवर्णों द्वारा प्रायोजित एक दलित सरपंच चुना गया था क्योंकि वह पंचायत अनुसूचित जाति के लिए आरक्षित थी। वह इन उच्च जाति के नेताओं के हाथों में एक मोहरा था, जो वार्ड सदस्यों के रूप में चुने गए थे। वे तरह तरह के अनियमितताओं में लिप्त थे। जब उनके नाम पर बेहिसाब से भारी मात्रा में राशि का आहरण बढ़ी, तो सरपंच चिंतित हो गए

और उन्होंने मकशस से संपर्क किया। इसने उच्च जाति के नेताओं को चिढ़ा दिया और उन्होंने ग्रामीण विकास नौकरशाही के साथ मिलकर दलित सरपंच को निलंबित करवा दिया और उस दुरुपयोग किए गए राशि की वसूली की सूचना थमा दी। इसके बाद आयोजित होने वाली जन सुनवाई में अरुंधति रॉय ने अध्यक्षता की और जिला कलेक्टर और पुलिस अधीक्षक भी उपस्थित थे। उच्च जातियों द्वारा उन्हें डराने-धमकाने के बावजूद ग्रामीणों ने सरपंच के पक्ष में बात रखी। नौकरशाहों की मिलीभगत से उच्च जातियों ने किस तरह से धन का दुरुपयोग किया इस बारे में विस्तृत बयान दर्ज किया गया। हैरानी की बात है कि, जन सुनवाई में एक प्रस्ताव पारित होने के बावजूद कि भ्रष्ट वार्ड पंचों और नौकरशाहों के खिलाफ आपराधिक मामला दर्ज किया जाना चाहिए, पुलिस ने दलित सरपंच के खिलाफ पंचायत के धन का दुरुपयोग के लिए मामला दर्ज किया!

आखिरकार, अरुणा को दलित सरपंच के खिलाफ दर्ज प्रकरण को वापस करवाने के लिए उच्च-स्तरीय नौकरशाही में अपने संपर्कों का इस्तेमाल करना पड़ा। इसके बाद भी, शक्तिशाली उच्च जाति के वार्ड पंचों के खिलाफ कोई आपराधिक मामला नहीं चलाया जा सका, जिन्होंने वास्तव में धन का गबन किया था।

मकशस की जन सुनवाइयों में आम तौर पर प्राप्त सफलता को अन्य जन संगठनों और गैर-सरकारी संगठनों द्वारा इतनी आसानी से कहीं और दोहराया नहीं जा सका है, क्योंकि वे नौकरशाही और मुख्यधारा के राजनीतिक दलों में मकशस के समान संपर्क स्थापित नहीं कर पाए हैं। यह वास्तव में संभव नहीं है कि सत्तारूढ़ अभिजात वर्ग मकशस के एक विशेष उदाहरण के अलावा अन्य संगठनों का समर्थन करेगा जमीनी स्तर पर पारदर्शिता लाने के लिए जो उनकी शक्ति और आधिपत्य में कटौती करेगा। आखिरकार, स्थानीय विकास के लिए पारदर्शिता की मांग और संसाधनों के अधिक न्यायपूर्ण आवंटन की मांग और नर्मदा घाटी के आदिवासियों द्वारा विनाशकारी विकास को रद्द करने की मांग के बीच फासला छोटी सी है। मेधा के विपरीत, जिन्होंने राज्य को सीधे तौर पर अन्यायपूर्ण कानूनों और नीतियों को निरस्त करने और अपने न्यायपूर्ण कानूनों को पूरी तरह से लागू करने की चुनौती दी है, अरुणा ने सिर्फ अच्छे कानूनों को बनाने और उन्हें कुछ हद तक लागू करवाने पर संतोष किया है और इसलिए उन्हें थोड़ी बहुत सफलता मिली है। जब 2004 में केंद्र में कांग्रेस के नेतृत्व वाली गठबंधन सरकार के लिए कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गांधी की अध्यक्षता में राष्ट्रीय सलाहकार परिषद का गठन किया गया था, तब अरुणा को इस शक्तिशाली निकाय का सदस्य चुना गया था। उन्होंने इस अवसर का उपयोग दो बहुत अच्छे काम के लिए किया, जिसके परिणामस्वरूप सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 और राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम, 2005 पारित किया गया।

परंतु जनता की मांगों की पैरवी की गंभीर सीमाएँ हैं। ये राजनीतिक रणनीति संयुक्त राज्य अमेरिका में विकसित किया गया है जहां राजनीतिक दलों के राज्य द्वारा वित्त पोषण के नियम छोटे समूहों के लिए चुनावों में भाग लेना कठिन बना देते हैं, जीतने की बात तो दूर है; इसलिए प्रगतिशील राजनीतिक संगठनों की स्थिति अमरीका में भारत की तुलना में और भी अधिक "बिन पेंदे के लोटा" की छवि है।

क्योंकि भारत में नागरिक समाज संयुक्त राज्य अमेरिका की तुलना में बहुत कम विकसित है, इसलिए पैरवी और जन सुनवाई के द्वारा शासन में जन उन्मुख परिवर्तन लाना मुश्किल हैं।

सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 में संसद द्वारा पर्दे के पीछे कुछ उच्चस्तरीय नाटक के बाद पारित किया गया था। अरुणा ने सोनिया गांधी को नौकरशाहों द्वारा तैयार किए गए टूथलेस के बजाय आरटीआई पर राष्ट्रीय अभियान द्वारा तैयार प्रारूप प्राप्त करने की आवश्यकता पर प्रभावित करने के लिए राष्ट्रीय सलाहकार परिषद की अपनी सदस्यता का उपयोग किया। इन दोनों महिलाओं ने नौकरशाहों के कड़े विरोध का मुकाबला किया, और स्वतंत्र भारत में अभी तक का सबसे प्रगतिशील अधिनियम पारित हो गया। इस कानून का अधिकतर नौकरशाहों द्वारा अवहेलना की जाती है जो एक बहाने या दूसरे पर जानकारी देने से इनकार करते हैं। इसके परिणाम स्वरूप केंद्र और राज्यों में सूचना आयोग अपील के साथ अतिभारित हो गए हैं, जिस पर वे कर्मचारियों की कमी के कारण शीघ्रता से कार्यवाही नहीं सकते हैं।

बाद में, सरकार ने प्रमुख आर्थिक और राजनीतिक मामलों पर मंत्रियों के मंत्रिमंडल द्वारा लिए गए निर्णयों के बारे में फाइलों पर नौकरशाहों द्वारा किए गए नोटों के रहस्योद्घाटन को रोकने के लिए अधिनियम में संशोधन करने के लिए तैयार थी। मीडिया की आलोचना ने इसे रोकने में कामयाबी हासिल की।

मध्य प्रदेश कैडर के एक और संवेदनशील भाप्रसे अधिकारी, जो उस समय मसूरी में लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासनिक अकादमी के निदेशक थे, जहाँ आईएएस कैडरों को प्रशिक्षित किया जाता है, एक दिलचस्प किस्सा सुनाए। उन्होंने कहा कि उन्होंने एक पाठ्यक्रम शुरू किया था जिसमें प्रशिक्षु भाप्रसे अधिकारियों को गांव के विकास के लिए महत्वपूर्ण विषय पर नुक्कड़ नाटक करना और गाना गाना पड़ता था। उन्होंने लोगों के अनुकूल संचार के तरीकों को विकसित करने के लिए इसे पेश किया था। दूसरी ओर प्रशिक्षु अधिकारियों ने प्रतिक्रिया व्यक्त की कि वे लोगों पर शासन करना सीखने आए हैं ना कि कैसे गाना और नाटक करना है। जब इस देश में बहुसंख्यक नौकरशाह अभी भी औपनिवेशिक सत्ता के नशे में डूबे हुए है, तो उनसे पारदर्शी, जन-केंद्रित शासन और पर्यावरण के अनुकूल विकास के लिए काम करने की उम्मीद करना भैंस के आगे बीन बजाने के बराबर है।

अध्याय 22 – जेल भरो

मनमानी ढंग से जेल में डाल दिया जाने के बाद अलीराजपुर में अपने केबल टीवी प्रदाता मित्र के चेहरे पर आई खौफनाक आशंका मुझे लगातार याद दिलाती है कि पुलिस लॉकअप और जेलों के डर के माध्यम से कैसे आम नागरिकों पर राज्य की शक्ति बनाई रखी जाती है। ये दो आधुनिक संस्थान सभी राज्यों का एक अभिन्न हिस्सा हैं - चाहे वह राजनीतिक रूप से दाईं ओर या बाईं ओर स्थित हो। इनके बिना, विद्रोहियों द्वारा उत्पन्न की गई चुनौतियों के सामने कोई भी राज्य अस्तित्व में नहीं रह सकता है। इस प्रकार, राजनीतिक परिवर्तन के लिए किसी भी जन आंदोलन के लिए इन संस्थानों के दुष्ट प्रभावों का मुकाबला करने के लिए एक व्यावहारिक रणनीति होनी चाहिए क्योंकि अमेरिकी लोकगायिका जोन बैज़ द्वारा किया गया गायन कि जेलों को धराशायी किया जाय, वर्तमान में अव्यावहारिक है। राम मनोहर लोहिया ने जोर देकर कहा था कि सामाजिक आंदोलनों के लोगों और कार्यकर्ताओं के लिए जेल सबसे अच्छा प्रशिक्षण स्थल है और इसलिए उन्हें सविनय अवज्ञा आंदोलनों के दौरान अधिक से अधिक भर दिया जाना चाहिए। "सविनय अवज्ञा एक सशक्त राजयविरोधी कार्य है" और "जेल भरो" इसका मुख्य हथियार है। उत्पीड़न के भय से जनता को छुटकारा दिलाते हुए, सामूहिक कार्रवाई का यह रूप, राज्य की जनता पर शासन करने की शक्ति को गंभीर चुनौती पहुँचाती है। यही कारण है कि प्रगतिशील सामाजिक आंदोलनों ने हमेशा लोगों को राज्य के साथ संघर्ष की स्थितियों में धकेलने की कोशिश की है जिसके परिणामस्वरूप उन्हें जेल में बंद होना पड़ा है। शाहदा में श्रमिक संगठन के वाहारूभाई ने इस संबंध में एक बहुत अच्छा गीत तैयार किया है जो इस प्रकार है -

आना जन पुलिस थाना
जेल हमारा घर
कोर्ट हमारी आंगनबारी
काहे के लिए डर
मत छेड़ो पुलिस वाले
मत छेरो भाई

काटकुट में हमारे काम के दौरान, जहाँ महिलाएँ संघर्ष में सबसे आगे थीं, सुभद्रा सात अन्य महिलाओं के साथ जेल गईं। ऐसा उन्होंने पहली बार किया था। जेल के दरवाजे पर ही टकराव शुरू हो गया जहाँ जेलर ने उन्हें अपने गहने उतारने और जमा करने को कहा। सुभद्रा और महिलाओं ने ऐसा करने से इनकार कर दिया क्योंकि उन्होंने कहा कि वे राजनीतिक कार्यकर्ता हैं और अपराधी नहीं हैं। इस पर एक विवाद हुआ, जिसे महिलाओं ने जीता। इसने जेल में उनके चौदह दिन के प्रवास के लिए सही माहौल बना दिया क्योंकि उन्होंने जेल परिसर में प्रवेश करने से पहले ही अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर ली थी। उन्होंने जेल मैनुअल के प्रावधानों के अनुसार भोजन किया और उन्हें सैनिटरी नैपकिन भी प्रदान किए गए, जो शायद जेल में महिलाओं के लिए पहली बार हुआ था। बाद में, सुभद्रा जेल में भूख हड़ताल पर चली गईं, और अंततः उन्हें अस्पताल ले जाना पड़ा और उनके शर्तों के अनुसार निजी

मुचलके पर रिहा किया गया कोई जमानतदार प्रस्तुत किए बिना। इस प्रकार, उनके जेल प्रवास के दौरान वे शाही अंदाज में समय बिताए क्योंकि वे राजनीतिक कैदियों के रूप में अपनी स्थिति स्थापित किए थे बावजूद इसके कि वे झूठे आपराधिक आरोपों में गिरफ्तार किए गए थे ।

हम सामूहिक जेल भरो जैसी स्थिति केवल एक बार ही निर्मित कर पाए थे जब अलीराजपुर जिले में अंजनवाड़ा की घटना हुई थी। उस अवसर पर, खेमचेस के कई सारे कार्यकर्ताओं को पुलिस लॉकअप में बंद कर पीटा गया और फिर जेल भेज दिया गया था। खेमचेस के सदस्यों ने जेल को पूरे एक महीने तक आबाद रखा। अंजनवाड़ा की घटना में गिरफ्तार किया गया पहला व्यक्ति एक आदिवासी कार्यकर्ता था, जिसे जेल भेजे जाने से पहले बुरी तरह से पीटा गया था और फिर उसे जेल के कैदियों द्वारा भी प्रताड़ित किया गया था। अमित, जिन्होंने एक पत्रकार वार्ता आयोजित करने की कोशिश की थी, को उनके साथियों के साथ गिरफ्तार कर लिया गया था। कार्यकर्ताओं में से एक के पति, जो उस समय दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्यापन करते थे, हमारी मदद करने के लिए आए और उन्हें भी तुरंत गिरफ्तार कर लिया गया यह झूठे आरोप लगाकर कि वह पुलिसकर्मियों की हत्या के प्रयास किया था।

जब वह पुलिस लॉकअप में था, तब एक अन्य व्यक्ति, जो उस महिला कार्यकर्ता का दोस्त था, जिसके पति को गिरफ्तार किया गया था, संयुक्त राज्य अमेरिका से उससे मिलने आया था। उस समय तक, कुछ हद तक पुलिस और प्रशासन की अत्याचार के खिलाफ राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पर्याप्त शोर मच गया था इसलिए पुलिस ने इस व्यक्ति को गिरफ्तार करने की हिम्मत नहीं की, लेकिन उसे पूछताछ के लिए पुलिस स्टेशन बुलाया गया। जब उन्हें पुलिस स्टेशन लाया गया, तो लॉकअप में विश्वविद्यालय के शिक्षक ने उसे सावधान करने के लिए कुछ तरीका ढूंढा। संयोग से, विश्वविद्यालय अध्यापक एक कुशल संगीतज्ञ है और इसलिए बाहर के दूसरे व्यक्ति को चेतावनी देने के लिए, वह एक मशहूर अंग्रेजी गाना गाने लगा। बाहर का आदमी ने सोचा कि कैसे कोई पुलिस स्टेशन में यह गाना गया रहा है और उन्होंने मामला समझ गया और जोर देकर पुलिस से कहा कि उन्हें हिरासत में रखे गए कार्यकर्ता से मिलने दिया जाए, क्योंकि यह उनके मूल अधिकारों में से एक था। पुलिस ने इसकी अनुमति नहीं दी और उसे भगा दिया।

रविवार के साप्ताहिक बाजार के लिए छकतला जाने वाले अट्ठा के अवल सिंह को वहां गिरफ्तार कर लिया गया और मारपीट के बाद जेल भेज दिया गया। उन्हें उस समय यह भी नहीं पता था कि अंजवारा में कुछ बड़ी घटना हुई थी। यह देखते हुए, अट्ठा का एक अन्य ग्रामीण, गुठिया, पीछे के गली से होकर बाजार किए बिना ही वापस गाँव लौट गया! घर लौटने के बाद, जब तक स्थितियाँ फिर से सामान्य नहीं हो गईं, तब तक वह घर के पास के पहाड़ियों में छिपा रहा। खेमचेस से जुड़े लोगों को सभी जगहों से गिरफ्तार कर, फिर पुलिस लॉकअप में पीटकर जेल भेज दिया जा रहा था। अदालत में ले जाने या जेल भेजे जाने के दौरान, वे सभी अलीराजपुर की मुख्य सड़कों पर हथकड़ी परेड किए जा रहे थे। हर जगह आतंक था। इसलिए, जिन्हें गिरफ्तार नहीं किया गया था, वे कार्यकर्ता कुछ लोगों को इकट्ठा किया और फिर मेधा के नेतृत्व में अलीराजपुर में एक जुलूस निकाली। इसके बाद ही स्थिति

कुछ हद तक शांत हुई। एक बैठक आयोजित की गई, जहां बाहर से आए लोगों ने लोगों को संबोधित किया। इसने कुछ समय के लिए प्रशासन को नरम कर दिया। महिला कार्यकरताओं के लिए अग्रिम जमानत की अर्जी दाखिल की गई थी, और अदालत द्वारा इन्हें मंजूर कर लिए जाने के बाद, वे स्वतंत्र रूप से जेल के अंदर रहने वालों को रिहा करवाने के लिए काम करने लगे।

इस समय तक जेल में अमित सहित कुछ बीस लोग थे। उन्हें खुद को एक अतिरिक्त बैरक दिया गया था, और मांग करने पर उन्हें ढोलक भी मिला। इसलिए उन्होंने अपना समय गीत गाने और चुटकुलें सुनने में बिताया। उन्होंने एक नया चुटकुला रचा जो वाकई बहुत मजेदार था। एक अनपढ़ आदिवासी ने एक सभा में एक कार्यकर्ता को यह कहते हुए सुना था कि संविधान के अनुसार, जो इस देश का प्रमुख "कानून की चोपरी" या कानून की मुख्य पुस्तक है, नागरिकों को पुलिस के मनमानी के खिलाफ नारे लगाने का अधिकार है और ऐसा करने पर पुलिस कुछ कार्यवाही नहीं कर सकती है और मारपीट भी नहीं। इस तरह के उद्बोधन से उत्साहित होकर आदिवासी थाना पर गया और पुलिस के खिलाफ नारे लगाने लगा। उसे तुरंत गिरफ्तार किया गया और पीटा गया। आदिवासी ने गर्मजोशी से विरोध किया कि कनून की चोपरी में लिखा है कि उसे पुलिस के खिलाफ नारे लगाने का अधिकार है जो उसने किया है। पुलिस ने इसके बाद वह आदिवासी के सामने भादवि को खोला और उन्हें यह अधिकार दिखाने के लिए कहा। आदिवासी अनपढ़ था इसलिए वह अपनी उंगली को एक पृष्ठ पर यूं ही रखा। पुलिस ने उसे उसके द्वारा रखी गई उंगली के नीचे लिखी धारा के तहत एक झूठा आरोप पत्र बनाकर जेल भेज दिया। जमानत पर बाहर आने के बाद उन्होंने कार्यकर्ता को अपने अनुभव से अवगत कराया, जो कार्यकर्ता के बताए हुए बातों के विपरीत था। कार्यकर्ता ने आदिवासी के साथ गया और उसने पुलिस से पूछा कि उन्होंने संविधान के उल्लंघन कर कैसे आदिवासी साथी को गिरफ्तार किया है, जब कि वह देश का सर्वोच्च कानून है। पुलिस ने कहा कि वह जो एकमात्र कानून जानते है वह भादवि है और दोनों को शांतिभंग करने और पुलिस के कार्य में अनावश्यक बाढ़ डालने के आरोप में गिरफ्तार कर पीटा और उन्हें वापस जेल भेज दिया। जेल के रास्ते में, आदिवासी ने दुःखी कार्यकर्ता की पीठ थपथपाई और कहा, "कोई बात नहीं, आपको अगली बार सही कानून की चौपड़ी पढ़ना याद रहेगा।" चुटकुला का आशय यह है कि कोई भी राजनीतिक कार्यकर्ता को, जो पुलिस से लोहा लेना चाहते हैं, भादवि और दप्रस को ठीक से पढ़ना चाहिए न कि संविधान को!

पुलिस को, निचले स्तर के सिपाही से लेकर उच्चतम अधिकारी तक, अपराधियों और हकों के लिए आंदोलन करने वाले लोगों के बीच कोई अंतर नहीं दिखती है। बल्कि वे अपराधियों के साथ बेहतर तरीके से पेश आते हैं, जिनसे वे पैसे निकाल सकते हैं। पहला भारतीय पुलिस सेवा (भापुसे) अधिकारी, जिनसे मैं मिला था, एक पुलिस अधीक्षक, ने मुझे पहले कुछ परिचयात्मक वाक्यों के बाद कहा था कि अगर मैं मेरी सरकार विरोधी काम बंद नहीं करता तो वे मुझे जेल में बंद कर देंगें। जब यह स्पष्ट हो गया था कि पुलिस लॉकअप या जेल मेरे लिए कोई आतंक नहीं था फिर भी एक वरिष्ट पुलिस अधिकारी अपनी आदत से बाज नहीं या पाए। इसके बाद, कई अन्य पुलिस अधीक्षक ने मेरे साथ एक ही भाषा का उपयोग किया है। कुछ ने मुझे प्रतिरोधक कानूनों के तहत जेल में बंद कर दिया है, पर मैं हर बार बिना शर्त रिहा किया गया हूँ जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है। एक पुलिस अधीक्षक

को इस बात का पछतावा भी था कि मैं सरकार विरोधी काम कर पा रहा था क्योंकि पड़ोसी देश पाकिस्तान के विपरीत, इस देश में हमारा एक लोकतांत्रिक संविधान था, जिसने मुझे पुलिस के अवैध कार्यों के खिलाफ उच्च न्यायालयों में जाने का अधिकार दिया था। एक अन्य पुलिस अधीक्षक ने मुझे अफसोस के साथ बताया कि राष्ट्रीय और राज्य मानवाधिकार आयोग की निगरानी के कारण हिरासत में अभियुक्तों की पिटाई करना मुश्किल हो गया था। एक और पुलिस अधीक्षक ने मुझे बेशर्मी से कहा था कि उसने संविधान के बारे में कुछ नहीं सोचा था, क्योंकि लोगों की अशिक्षा और गरीबी को देखते हुए, वे उच्च न्यायालयों में नहीं जा सकते थे, और इसलिए पुलिस आसानी से मनमानी कर सकती थी। उसने मुझे धमकाया कि मुझे जेल में बंद कर देगा। यह महेंद्रिखेरा गोलीकांड के बाद हुआ था, जो निर्णायक रूप से स्थापित कर दिया था कि राज्य या उसके संतरी मुझे कुछ भी कर लें पर मैं अपनी राह से विचलित नहीं होऊँगा।

जेल की स्थिति बहुत बुरी है। जब भी मैं जेल गया हूं, कैदियों ने कहा है कि जेल परिसर में मेरे प्रवेश से भोजन की गुणवत्ता और मात्रा में सुधार हुआ है। लेकिन जब मैं पहली बार महाराष्ट्र में एक हत्या के मामले आरोपी के रूप में जेल गया था तब ऐसा नहीं था। मुझे शाहदा में पुलिस लॉकअप में सत्रह अन्य आरोपियों के साथ रखा गया था, जो श्रमिक संगठन का केंद्र था। हमारे आगमन ने जगह की भारी कमी पैदा कर दी और हम अन्य कैदियों के साथ तंग आ गए, छोटी सी कमरे में। जमानत मिलने तक के लगभग एक पखवाड़े के प्रवास का सबसे खराब हिस्सा मच्छर थे। वे चौबीस घंटे हमें पागलों की तरह काटते रहते थे। मेरे एक सह-आरोपी ने मज़ाक किया और कहा कि मच्छर "कुन कुन छे ता, कुन कुन छे ता" गा रहे हैं - कौन कौन है यहाँ। उस प्रश्न का उत्तर था "वे जो दिमाग से सही नहीं हैं"! आखिर, पुलिस के साथ लड़ना तो एक प्रकार का पागलपन है। लॉकअप में रहते हुए, मुझे पहली बार मलेरिया हो गया; इसके बाद मुझे अगले चार वर्षों में बार-बार मलेरिया होते रहा, जिसने मुझे अलीराजपुर से विदा लेने के लिए मजबूर कर दिया और खुद को ठीक करने के लिए इंदौर जाना पड़ा।

यह मामला पुलिस द्वारा सामूहिक आंदोलनों को तोड़ने के लिए व्यवस्थित रूप से की जाने वाली कार्यवाही का एक विशिष्ट उदाहरण है। खेमचेस ने उस अतिरिक्त कमाई को पूरी तरह से रोक दिया था जो पुलिस को उन मामलों से मिलती थीं जो उनके पास पहले आते थे। यहां तक कि जब एक कुत्ते दूसरे कुत्ते को काटता था, तब भी पुलिस थाने में झगड़ा तोड़ने के बाद पैसा जमा करना पड़ता था। पुलिस के लिए आय का मुख्य स्रोत पुरुषों और महिलाओं के प्रेम संबंधों के विवादों से था। पूर्व-वैवाहिक या विवाहेतर यौन संबंध के कारण गर्भवती हुई और गर्भपात करवाने की इच्छा रखने वाली महिलाओं को पुलिस की अनुमति लेनी पड़ती थी और उन्हें ऐसा करने के लिए जुर्माना देना पड़ता था! अन्य सभी उत्पीड़नों की तरह, पितृसत्तात्मक उत्पीड़न भी अंततः पुलिस द्वारा बनाए रखा गया था। एक अवसर पर, एक ऐसा मामला थाने तक पहुंचने के बाद, पीड़ित पक्ष, जो एक ऐसा गाँव का था, जो तब तक खेमचेस का हिस्सा नहीं बन पाया था, खेमला के पास मदद के लिए आया था क्योंकि पुलिस एक बड़ी राशि की मांग कर रही थी। अपने विशिष्ट शैली में, खेमला पुलिस थाने गए, पुलिस को बुलाया और उन्हें इस तरह की जबरन वसूली प्रथाओं से दूर रहने की चेतावनी दी। पुलिस ने

लड़की के पिता को गिरफ्तार किया और उसे लड़की को बयान देने के लिए मजबूर किया कि खेमला ही उसे बहकाया था और उसे गर्भवती कर दिया था। हमें इस बारे में पता चला, और पुलिस से पहले, हम गर्भवती लड़की और उसके पिता को अलीराजपुर के अनुविभागिया दंडाधिकारी के पास उनके सही बयान दर्ज करने के लिए ले आए। खेमला ने डूबते डूबते एक उफान पर बह रही नदी में कूद गया था ताकि पुलिस को पूर्व वह उस परिवार तक पहुँच सका उन्हें अलीराजपुर लाने के लिए। मेरी तरह, खेमला ने भी उनके खिलाफ झूठे बलात्कार का मामला दर्ज किया जाने की संभावना से डर गया था!

पुलिस ने तब अपने एक दलाल को उकसाने का फैसला किया, जिसकी आय भी खेमसचेस की वजह से प्रभावित हुई थी, ताकि संगठन को तोड़ने का प्रयास किया जा सके। यह दलाल एक खूंखार कातिल था और वह खेमचेस के सदस्यों की पिटाई करने लगा। खेमचेस द्वारा की जा रही बैठक पर यह दलाल और उनके साथियों ने हमला किया; इसके परिणामस्वरूप एक लड़ाई हुई जिसके बाद दलाल और उसके गुर्गे भाग गए और ग्रामीणों द्वारा पीछा किया गया। बैठक नर्मदा नदी के तट पर हो रही थी। इसलिए दलाल और उसके साथियों ने नदी में कूद कर उस पार तैर कर गए और खेमचेस के सदस्यों ने उनका पीछा किया। धनुष और बाण के साथ युद्ध में दलाल का भाई मारा गया। दलाल ने खेमचेस के सदस्यों के खिलाफ हत्या का आरोप लगाया, जिसमें मुझे भी यह कहकर फंसाया गया था कि मैं दिल्ली से दलाल को मारने के लिए आदेश लाया हूं और इसके लिए बैठक आयोजित करने की साजिश रचाई थी, जिसके कारण दलाल का भाई की मौत हो गई थी। खेमला किसी तरह बलात्कार के आरोप से बच गया था, लेकिन मैं हत्या का आरोप से बच नहीं पाया। किसी को एक झूठे मामले में फँसाने के लिए केवल एक दो लोगों के बयान चाहिए कि उन्होंने आरोपी व्यक्ति को कुछ अपराध करते देखा है। भले ही इन झूठे बयानों को प्रमाणित करने के लिए कोई परिस्थितिजन्य या भौतिक सबूत नहीं हो, प्रथम दृष्टया प्रकरण दर्ज करने के लिए यह पर्याप्त है एवं इस प्रकरण से छुटकारा मुकद्दमा में सबूतों के परीक्षण के दौरान इनका झूठा साबित होने के बाद ही मिलती है।

महेन्दीखेड़ा की घटना के बाद, पुलिस ने एक बार फिर हमारे खिलाफ कई झूठे मामले दर्ज कर दिया ताकि वे अपनी खुद की अवैध करतूतों को ओझल कर सकें। हत्या के प्रयास और सशस्त्र गैरकानूनी जमावड़ा जैसे भादवि के धाराओं के अलावा पहली बार हम पर राज्य के खिलाफ सशस्त्र युद्ध छेड़ने के गंभीर आरोप भी लगाया गया था। जब अंततः मुकदमा चला, तो हमने अप्रस के संबंधित धाराओं के अनुसार प्रकरण को खारिज करने के लिए आवेदन किया, क्योंकि लगाए गए आरोपों का समर्थन में कोई विशेष सबूत नहीं था, खासकर राज्य के खिलाफ युद्ध छेड़ने का आरोप तो सरासर बेबुनियाद था। बेचारे न्यायाधीश पर हमें आरोप मुक्त न करने के लिए बहुत दबाव डाला गया। अंततः, उन्होंने हमारे खिलाफ आरोपों को तय कर दिया और मुकदमा चलाने का आदेश दिया। इसलिए हमें इस आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील करनी पड़ी।

इस मामले में मैं सबसे लंबे समय तक जेल में रहा और यह सब से मनोरंजक भी रहा। मैंने ढाई महीने जेल में गुजारे। जब मैं अंदर गया शुरू में तब मैं भूख हड़ताल पर था और अगर मैं इसे जारी रखता तो हो सकता है कि मैं पहले ही मुक्त हो गया होता। पर मुझे उस समय कुछ आराम की

ज़रूरत थी - शारीरिक और मानसिक दोनों तरह के दबावों ने मुझे थका दिया था। चूँकि मेरी मरने की कोई इच्छा नहीं थी इसलिए मुझे यह भी लगा कि केवल मेरी रिहाई के लिए भूख हड़ताल पर रहना उसी तरह का आधा-अधूरा व्यक्तिवादी गांधीवादी कदम होगा, जिसके मैं वैचारिक रूप से खिलाफ था। काटकुट और देवास में हमने जो काम किया था, उसके पीछे पूरा विचार यह था कि लोगों को खुद के बल पर संघर्ष करना चाहिए। मैंने सोचा कि राज्य के दमन को लोगों को झेलना चाहिए ताकि उनमें राज्य से लड़ने के लिए आवश्यक ताकत और सहनशक्ति का विकास हो सकें।

जेल उस के लिए एक आदर्श स्थान है जो गहरी सोच में समय बिताना चाहता है। विचाराधीन और निरोधात्मक कानूनों के तहत हिरासत में लिए गए कैदियों के लिए कोई चिंता नहीं है, क्योंकि समय पर भोजन की आपूर्ति की जाती है और यदि इसलिए समय का उपयोग अध्ययन और विचारमंथन में बखूबी किया जा सकता है। नेहरू ने 1940 के दशक की शुरुआत में जेल में रहते हुए भारतीय इतिहास को पढ़ा और लिखा और अपने आधुनिक मंदिर निर्माण की योजनाओं को मजबूती दी। जबकि लगभग उसी समय इतालवी कम्युनिस्ट एंटोनियो ग्रामची ने दूसरी जेल में पूंजीवादी राज्य उत्पीड़न के एक प्रेरक और अभिनव विश्लेषण प्रस्तुत किया और इसके प्रभुत्व के कारणों को इस प्रकार उजागर किया कि वह विसलेषण आज भी प्रासंगिक हैं। इसलिए, मैंने तब तक वर्षों से किया गया संघर्ष का काम की समीक्षा करना शुरू किया और इस तरह से इस पुस्तक को लिखने का विचार पहली बार मेरे दिमाग में आया। मैंने पढ़ने में समय का उपयोग करने का निर्णय लिया और अपने शुभचिंतकों से कहा कि वे मुझे कुछ पुस्तकों की आपूर्ति करें। मैंने अनपेक्षित रूप से ऋषि व्यास द्वारा लिखित हिंदू धर्मग्रंथ श्रीमद् भागवत पुराण प्राप्त किया। यह किताब मुझे जेलर ने दी थी जो एक धर्मपरायण व्यक्ति था। प्राचीन हिंदू रहस्यवाद का यह पुस्तक पारलौकिक सच्चाइयों की खोज के लिए सांसारिक इच्छाओं के त्याग की वकालत करता है। हालांकि मैं राहस्यवादी नहीं हूं बहरहाल ऐसे विचार उस व्यक्त मन को शांत कर देते थे। भागवत पुराण में रोजाना डुबकी लगाने के बाद, मैं आदिवासियों के संघर्षों के बारे में कम सोचने लगा और पूरी तरह से जेल में अपने समय का आनंद लेने लगा।

यह पहली बार था जब मुझे अपराधियों से लंबी बात करने का मौका मिला। मेरे साथ जेल में आदिवासी चोर और लुटेरे थे। इन लोगों को कई मामलों में फंसाया गया था। यह पुलिस की एक आम प्रथा है कि एक बार जब वे एक चोर को पकड़ लेते हैं, तो वे उसे प्रताड़ित करते हैं और उसे कई अन्य चोरी कबूल करवाते हैं, जिसके लिए उनके पास कोई सुराग नहीं होता है। इस प्रकार ये चोर पेशेवर अपराधी बन जाते हैं, और रिहा होने के बाद भी जब भी उनके आसपास के क्षेत्रों में चोरी होती है, तो उन्हें पुलिस द्वारा हिरासत में ले लिया जाता है। इन गरीब आदिवासियों ने मुझसे पूछा कि क्या इसका कोई हल है। मैंने उन्हें बताया कि सबसे अच्छा समाधान यह है कि एक बार जब वे न्यायालय से बरी कर दिए जाते हैं - जैसा कि अक्सर होता है, तो पुलिस की जांच की कमी को देखते हुए - उन्हें पुलिस के खिलाफ आपराधिक मानहानि की कार्यवाही करनी चाहिए। कानून और अधिकारों से संबंधित विभिन्न चीजों पर मेरी सामान्य सलाह इतनी दिलचस्प रही कि जल्द ही मैं राज्य से

लड़ाई के कानूनी तरीकों पर जेल के कैदियों के लिए नियमित अनौपचारिक सत्र आयोजित करने लगा।

इसकी खबर जल्द ही पुलिस तक पहुँच गई। पुलिस ने मुझ पर राज्य के खिलाफ सशस्त्र युद्ध छेड़ने की साजिश रचने का आरोप लगाया था। जाहिर है, इस आरोप का समर्थन में उनके पास कोई सबूत नहीं था। उन्होंने गवाहों द्वारा कुछ मनगढ़ंत बयान दर्ज किए थे लेकिन ये अस्पष्ट थे। तो मेरे अनौपचारिक कानूनी प्रशिक्षण की यह खबर उनके कानों में मधुर संगीत लगी। एक दिन मेरे प्रति सहानुभूति रखने वाले जेलर ने मुझे बताया कि मेरे खिलाफ शिकायत है कि मैं विद्रोह करने के लिए जेल के अंदर के आदिवासियों को उकसा रहा था और जेल में रखे हथियारों को छीन कर जेल से भागने की साजिश रचा रहा था। मैंने कथित तौर पर हथियारों और आदिवासियों के साथ राज्य के खिलाफ पूर्ण युद्ध शुरू करने की योजना बनाई थी। मैंने उससे कहा कि वह आदिवासियों से पूछ सकता है कि क्या मैंने ऐसा कुछ कहा है। इसके तुरंत बाद, मुझे इस जेल से हटाकर एक दूसरे जेल भेज दिया गया। उसके बाद, अनुविभागिया दंडाधिकारी और पुलिस अधीक्षक जेल में गए और गरीब आदिवासियों को बुरी तरह से पीटना शुरू कर दिया और उन्हें इस आशय के बयान देने के लिए मजबूर करने लगे कि मैंने उनके साथ राज्य के खिलाफ एक युद्ध की योजना बनाई थी। उन्होंने इस उत्पीड़न के बावजूद ऐसा करने से इनकार कर दिया और बाद में मुझे इसके बारे में बताया जब मैं उनसे दोबारा जेल के बाहर मिला।

यह मुझे अमेरिकी मार्क्सवादी इतिहासकार विलियम हिंटन का बताया हुआ माओ ज़े डोंग के एक किस्से की याद दिलाता है। एक बार जब माओ एक बुजुर्ग ग्रामीण के घर में डेरा डाले हुए थे, तो वह और उनके साथी उनके साथ एक रेडियो सुन रहे थे। बुजुर्ग ग्रामीण, जिन्होंने पहले कभी रेडियो नहीं देखा था, ने कहा कि यह आकाश से आने वाली भगवान की आवाज़ है। इस पर सब लोग हँसने लगे। लेकिन माओ ने तुरंत अपने साथियों को डांटा और फिर आधे घंटे तक उस वृद्ध व्यक्ति को समझाया कि रेडियो कैसे काम करता है और यह भगवान की आवाज़ नहीं है। बाद में, यह गाँव कुओमितांग के हाथों में पड़ गया और उन्होंने इस बूढ़े व्यक्ति को माओ के ठिकाने के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रताड़ित किया। बूढ़े व्यक्ति ने यातना के बावजूद किसी भी जानकारी को देने से इनकार कर दिया। उसी तरह, जिन गरीब आदिवासियों से मैंने जेल में बात की थी, वे ज्ञान और थोड़ा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार के भूखे थे। उन्होंने मेरे साथ बिताए कुछ उनके लिए ज्ञानवर्धक घंटों को इतना महत्व दिया कि उन्होंने पिटाई के बावजूद मेरे खिलाफ झूठे बयान देने के लिए पुलिस के सामने झुकने से इनकार कर दिया।

पुलिस का इरादा अपराध को रोकना नहीं है, बल्कि उससे लाभ उठाना है। आमतौर पर, जो पेशेवर अपराधी नहीं हैं, वे पुलिसकर्मियों से पिटाई से बचने के लिए हजारों रुपये रिश्वत देते हैं। पुलिस पिटाई का डर का इस्तेमाल करते हैं पैसे कमाने के लिए। पुलिस अपने मुखबिरों के माध्यम से विभिन्न प्रकार के अपराधों के बारे में पता करती है, फिर भी कुछ गंभीर अपराधिक मामलों को छोड़कर अपराध को जड़ से खत्म करने के लिए बहुत कुछ नहीं किया जाता है। पेशेवर गवाहों के

बयानों के साथ कमजोर आरोपपत्र तैयार की जाती है। घूस के पैसे मिल जाने के बाद, पुलिस ज्यादातर मौकों पर अपराधियों के खिलाफ कार्यवाही नहीं करती है। फ्रांसीसी लेखक अनातोले फ्रांस ने व्यंग्यात्मक रूप से लिखा है - "कानून अमीरों के साथ-साथ गरीबों को भी पुलों के नीचे सोने, सड़कों पर भीख मांगने और रोटी चुराने से मना करता है।" अमीर हमेशा कानून का उल्लंघन कर सकता है, पर केवल गरीब ही है जो कानून के लंबे हाथ से पकड़ा जाता है और जेलों में भर दिया जाता है। कुल मिलाकर, मैंने अपने जेल प्रवासों को अपने जीवन के सबसे अच्छे अनुभवों में माना है। और सभी अभिजात क्लबों की तरह, जेलों में प्रवेश केवल निमंत्रण से ही हो पाता है!

आश्चर्य की बात नहीं है कि पुलिस मानवाधिकार आयोगों द्वारा हिरासत में हिंसा की निगरानी से परेशान है क्योंकि इससे उसकी कमाई रुक रही है। हालांकि, मानवाधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए की जा रही अधिक निगरानी के बावजूद स्थितियाँ खराब बनी हुई हैं, और हिरासत में होने वाली मौतों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। इसलिए उच्चतम न्यायालय ने पुलिस की मनमानी और यातना के खिलाफ 1987 में दायर किया गया मूल याचिका को लंबित रखा है ताकि पुलिस पर लगातार निगरानी रखी जा सके। समस्या यह है कि सत्ताधारी राजनीतिक दल अपने विरोधियों को सबक सिखाने और किसी भी प्रगतिशील जन-उन्मुख आंदोलन को कुचलने के लिए पुलिस की मनमानी शक्तियों के उपयोग करते हैं, और इसलिए इस सुरंग के अंत में कोई रोशनी दिखायी नहीं देती है।

पुलिस ने कभी मुझे शारीरिक रूप से यातना नहीं दी है। तब भी नहीं जब मैं हत्या की साजिश रचने के गंभीर आरोप के तहत पहली बार जेल गया था। मेहेन्दीखेड़ा की घटना में, जिस क्षण से पुलिस ने मुझे हिरासत में लिया था, मैंने उन्हें अपने खिलाफ गिरफ्तारी ज्ञापन प्रस्तुत करने के लिए कहना शुरू कर दिया था, जैसा कि सुप्रीम कोर्ट ने आदेश दिया था। उन्होंने चौबीस घंटों के लिए मुझे लेकर चारों ओर चक्कर लगाया, यह तय करने के लिए कि मुझको लेकर क्या करना है, जबकि मैं लगातार उनपर दबाव डालते गया कि वे मेरे गिरफ्तारी ज्ञापन तैयारी करें। उन्होंने आखिरकार ऐसा तब किया जब गिरफ्तारी ज्ञापन की तैयारी के लिए चौबीस घंटे की समय सीमा समाप्त होने वाली थी। चूंकि गिरफ्तारी ज्ञापन तैयार नहीं था इसलिए वे किसी को भी सूचित नहीं कर सकते थे कि मैं कहाँ था, और मुझे किन धाराओं के तहत गिरफ्तार किया गया था। इसलिए बाहर के लोगों को पुलिस द्वारा अस्पष्ट उत्तर दिए जा रहे थे, जिसके कारण वे आशंकित हो गए। एमनेस्टी इंटरनेशनल ने रेड अलर्ट जारी करते हुए कहा कि मेरी जान को खतरा है और मध्य प्रदेश सरकार को बड़ी संख्या में मेल और फैक्स आने शुरू हो गए। इस अंतरराष्ट्रीय दबाव के परिणामस्वरूप, मुझे कुछ नहीं हुआ। लेकिन मामले के अन्य सभी गिरफ्तार किए गए आदिवासियों को बुरी तरह से पीटा गया और हमेशा की तरह, न्यायिक दंडाधिकारियों ने इस गैरकानूनी पिटाई के बारे में उनसे की जा रही शिकायतों का संज्ञान नहीं लिया।

हमारे एक साथी, बसरुद्दीन को अप्रस की धारा 151 के तहत गिरफ्तार किया गया और उसके साथ इसी तरह मारपीट की गई। इसने उसे इतना हतोत्साहित कर दिया कि एक समय के निडर कार्यकर्ता

ने इसके बाद राजनीतिक काम से हमेशा के लिए मुँह मोड लिया। महेन्दीखेड़ा की घटना के बाद, उन्हें ढाई महीने के लिए जेल में रखा गया था, जो कि गैरकानूनी है क्योंकि धारा 151 एक निवारक प्रावधान है और इसके तहत एक अभियुक्त को पंद्रह दिनों के बाद अपने आप रिहा कर देना चाहिए। मैं जेल से बाहर आने के बाद अनुविभागिया अधिकारी को उच्च न्यायालय में ले जाने की धमकी देने के बाद ही उन्होंने उसे मुक्त किया। हालाँकि जेल के कर्मचारियों को खेद था कि उन्हें उसे छोड़ना पद रहा है क्योंकि बसरुद्दीन के उच्च कोटी के आयुर्वेदिक चिकित्सक थे। जेल में रहते हुए बसरुद्दीन, जेलर से लेकर नीचे के वार्डरों तक सभी के अपनी पुरानी बीमारियों में से कुछ को हल करने में सफल हुए, जिनमें सबसे पुराना नपुंसकता भी शामिल था!

सबसे विचित्र एक बूढ़े आदमी की कहानी थी, जो एक पखवाड़े बिताने के लिए हर महीने के पहले सप्ताह में जेल में आता था। इस व्यक्ति को नियमित रूप से जुए के नियंत्रण के लिए बने कानून के प्रावधानों के तहत आरोपित किया जाता था। यह बूढ़ा व्यक्ति मुंबई से संचालित एक सट्टेबाजी व्यवसाय का हिस्सा था, जो पूरे देश में विस्तृत है। पुलिस और राजनीतिक दलों ने इस सट्टे के धंधे से घूस लेकर इसे चलने देते है। कभी-कभी, पुलिस को बहाने के तौर पर कुछ लोगों को गिरफ्तार करना पड़ता है। इस वृद्ध व्यक्ति को उसके समूह के मालिक के द्वारा पुलिस के साथ किए गए सौदे अनुसार पंद्रह दिन जेल में बिताने के लिए दैनिक वेतन दिया जाता था! पुलिस के लिए सबसे आकर्षक कमाईयों में अवैध शराब की बिक्री और जुए से "हफ्ता" अव्वल है। यह दो सबसे शातिर व्यवसाय गरीबों को अपनी गरीबी से मजबूती से बांध रखा है। ये दोनों सामाजिक और आर्थिक रूप से हानिकारक गतिविधियाँ पुलिस की शह से चलती हैं। जब कभी भी इन गतिविधियों के खिलाफ कोई लोकप्रिय लामबंदी होती है, तब पुलिस ऐसे विरोधियों के खिलाफ प्रकरण बनती जैसे कि सुभद्रा और काटकुट की महिलाओं के विरुद्ध किया गया।

दुनिया भर के अधिकांश गरीबों और वंचितों को जीवित रहने के लिए अपराध का सहारा लेना, अवैध प्रवास करना, अवैध व्यवसाय चलाना, अवैध आवासों में रहना, नशीली दवाओं के दुरुपयोग से उनके दुखों को दूर करना या सामाजिक और आर्थिक न्याय के लिए सामूहिक आंदोलन में भाग लेना होता है। यह उन्हें लगातार पुलिस के साथ संघर्ष करने के लिए मजबूर करता है और इसलिए जेलों में गरीबों की भारी तादाद होती है। डॉ लोहिया द्वारा बताया गया सामूहिक जेल भरो कार्यक्रम राज्य के विरुद्ध लड़ाई के लिए एक शक्तिशाली रणनीति है, लेकिन इसके लिए यह आवश्यक है कि जनता और कार्यकर्ता जेल में बंद होने के समय को एक प्रशिक्षण पर्व के रूप में लें न कि जेल जाने से बचते रहे। इसलिए आंदोलनकारियों का एक प्रिय नारा है -

जब तक जेल में चना रहेगा
आना जाना बना रहेगा

अध्याय 23 - न्याय दूर अस्त

जब सुभद्रा को पुलिस थाने के सामने धरने पर बैठने के लिए दर्ज कराए गए झूठे मामले में न्यायिक दंडाधिकारी के सामने पेश किया गया, तो दंडाधिकारी ने उसे यह कहते हुए फटकार लगाई कि उसे "नेतागिरी" में शामिल नहीं होना चाहिए। सुभद्रा ने इस तरह की चटपटी भाषा को हल्के में नहीं लिया और दंडाधिकारी से कहा कि उन्हें इस तरह की टिप्पणी करने का कोई अधिकार नहीं है और मामले के कागजात में बताई गई बातों तक खुद को सीमित रखना चाहिए। "नेतागिरी" शब्द का उपयोग उन लोगों को ताना देने के लिए किया जाता है जो वंचितों के लिए बोलने की हिम्मत करते हैं। जबकि उच्च वर्गों के पास नेता है, जो लोग वंचितों के लिए लड़ते हैं वे नेता नहीं कहलाते बल्कि उनपर नेतागिरी करने का आरोप लगता है और उनपर राज्य का दमन बरपाया जाता है। दंडाधिकारी के साथ बहस में, सुभद्रा ने भादवि की वैधता पर ही सवाल उठाया, क्योंकि यह एक औपनिवेशिक कानून है, जिसे रद्द किया जाना था क्योंकि यह कई मामलों में संविधान का उल्लंघन करता है। इस सब के बीच सुभद्रा ने अन्य महिलाओं के साथ जमानत देने से इंकार कर दिया, बावजूद इसके कि उनके खिलाफ मामला जमानती था। इसलिए उन्हें जेल भेज दिया गया जैसा कि जेल भरो अभियान के तहत उनका उद्देश्य था। सुभद्रा ने दंडाधिकारी की मनमानी के खिलाफ जिला जज और उच्च न्यायालय में शिकायत की, लेकिन नतीजा यह हुआ कि दंडाधिकारी और भी नाराज हो गए और उन पर जुर्माना लगाया।

सुभद्रा ने बाद में जेल में भूख हड़ताल की और मांग की कि उसे व्यक्तिगत मुचलके पर बिना शर्त रिहा किया जाए क्योंकि वह एक अपराधी नहीं बल्कि एक राजनीतिक कार्यकर्ता थी। इसके पहलस्वरूप पुलिस को एक समीक्षा के बाद मामले को वापस लेना पड़ा और उसे तुरंत रिहा कर दिया गया। हालांकि, बाद में जिन पुलिस महानिरीक्षक और पुलिस अधीक्षक ने इस मांग को स्वीकार कर लिया था उनका तबादला हो गया और हमेशा की तरह पुलिस ने मुकदमा वापस लेने के आश्वासन से मुकर गया। प्रारंभिक दंडाधिकारी का विरोधी रुख और उसके बाद वालों की उदासीनता का नतीजा हुआ कि मामला खत्म होने से पहले आठ साल बीत गए। कुछ गवाहों की बयान ली गई, लेकिन क्योंकि अन्य कुछ गवाहों की गवाही बाकी था इसलिए मामला घसीटते गया। झूठे होने के नाते, मामले को आरोप ते करने के स्तर पर ही खारिज कर दिया जाना चाहिए था। अन्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण हम आरोप तय करने के चरण में मामला खारिज करने का आवेदन तैयार करने में विफल रहे। अदालतों द्वारा सुभद्रा को उसपर लगे झूठे आरोपों से बरी करने एक दशक बिताया गया ताकि वह "नेतागिरी" करने से बाज आए।

आंजनवाड़ा की घटना में, हत्या के प्रयास के गंभीर धाराओं से जुड़े चार झूठे मामले दर्ज किए गए थे, और कुछ तीस लोगों और कार्यकर्ताओं को उनमें फंसाया गया था। पुलिस ने हिरासत में अधिकांश अभियुक्तों को पीटा और फिर दंडाधिकारी के सामने पेश करने से पहले उन्हें अलीराजपुर की सड़कों पर हथकड़ी पहनाकर घुमाया। जब मैंने दंडाधिकारी को बताया कि मुझे उच्चतम न्यायालय के कई फैसलों के बावजूद हथकड़ी में पेश किया गया है, जब कि हिरासत में लिए गए विचाराधीन अभियुक्तों

को हथकड़ी नहीं लगानी है, तो उन्होंने कहा कि उच्चतम न्यायालय के फैसले अलीराजपुर की विशेष परिस्थितियों में लागू नहीं होता है और पुलिस किसी को भी खतरनाक मानकर उसे हथकड़ी पहना सकता है। फिर भी, मैंने जोर देकर कहा कि इसे लिखित रूप में दर्ज किया जाय कि मैं उनके सामने हथकड़ी में पेश किया गया हूं। उन्होंने ऐसा किया और बाद में जब हम उच्चतम न्यायालय में याचिका दर्ज किया तो इसके कारण उन्हें उच्चतम न्यायालय का फटकार सुनना पड़ा।

महेन्दीखेड़ा की घटना में मेरी गिरफ्तारी के बाद मेरे जमानत की अर्जी पहले महीने में पेश ही नहीं किया गया क्योंकि मेरे ऊपर नक्सली होने का झूठा आरोप लगाया गया था और नक्सलियों का नाम सुनते ही न्यायाधीश घबरा जाते है। इस समय के दौरान, कई स्वतंत्र आयोगों द्वारा की गई जांच के अहवालों का व्यापक रूप से प्रचारित होने से यह स्थापित हो गया था कि प्रशासन ने संगठन के गांवों को अवैध रूप से नष्ट किया था, इसके चार सदस्यों को पुलिस की गोलीबारी में मार डाला था और फिर हमारे खिलाफ एक झूठा मामला दर्ज किया था। फिर भी, जब एक आवेदन दिया गया तब जिला न्यायाधीश ने जमानत देने से इनकार कर दिया बावजूद इसके कि मेरे खिलाफ कोई खास सबूत नहीं थे। मुझे जमानत नहीं देने के लिए प्रशासन द्वारा उस पर दबाव डाला गया था।

भारत में नागरिक सेवा के प्रशासक कार्यकारी दंडाधिकारी भी होते हैं जो कानून और व्यवस्था के मुद्दों और भूमि अभिलेखों के विवादों पर निर्णय लेते हैं। उनके पास बहुत शक्तियां होती हैं और वे आसानी से प्रतिकूल निर्णय दे सकते हैं, जिन्हें उच्च स्तर के न्यायालयों में चुनौती देनी होती है जिसके लिए बहुत खर्च करना होता है। वे चाहे तो वकीलों को भी धमका सकते है। आंजनवाड़ा की घटना के बाद, जिलाध्यक्ष ने अलीराजपुर में हमारे वकील को धमक दिया कि अगर वह हमारे लिए जमानत आवेदन प्रस्तुत करेगा तो उसका बुरा परिणाम होगा। इसलिए मेधा पाटकर को हमारी गिरफ्तारी के बाद हमारी ओर से अदालत में गुहार लगानी पड़ी और हमारी जमानत अर्जी पेश करने के लिए मध्य प्रदेश के बाहर से वकीलों को लाना पड़ा। इस जिलाध्ययक्ष ने अलीराजपुर में हमारे कार्यालय पर लगा साइन बोर्ड भी पुलिस द्वारा उखाड़ दिया यह कहते हुए कि यह "सार्वजनिक स्थान की विकृति" थी!

अधिकांश वकील लोगों के मददगार नहीं हैं। वे मामलों को वर्षों तक खींचते हैं ताकि वे उन्हें निरंतर कमाई प्रदान करते रहे। अधिकांश वकील मामलों को लम्बा खींचने की कोशिश करते हैं और अभियुक्तों से अधिक से अधिक धन प्राप्त करते हैं।

मामलों को लंबा करने से अदालतों में लिपिक कर्मचारियों को कुछ अतिरिक्त पैसे कमाने का मौका भी मिलता है। इन लोगों का अभियुक्तों से छोटी रिश्वत लेना आम बात है, ताकि वे उन्हें अपनी अदालत की अगली पेशी की तारीख दे सकें। उन्हें घूस नहीं देने का मतलब होगा कि बहुत कम अंतराल पर अदालत की तारीखें मिलेंगी। यह दंडाधिकारी और न्यायाधीशों की नजर में होता है। एक बार मैंने इनमें से एक लिपिक से पूछा कि क्या उन्होंने अपनी कमाई का एक हिस्सा दंडाधिकारियों को देते है। उन्होंने कहा कि उन्होंने प्रत्यक्ष तरीके से ऐसा नहीं करते है। पर दंडाधिकारी एक दिन लिपिक से कहेगा कि वह बाजार गया था और पाया कि एक निश्चित दुकान में खाना पकाने के तेल

का एक बहुत अच्छा ब्रांड बिक रहा है। फिर वह कहते है कि क्या लिपिक खाना पकाने के तेल की पंद्रह लीटर का डब्बा खरीदकर उसके घर ले आएगा। लिपिक के पास दंडाधिकारी को उपकृत करने के अलावा कोई विकल्प नहीं होता है! दंडाधिकारी और न्यायाधीश नियमित रूप से किसी एक पक्ष में मामले तय करने के लिए भारी रिश्वत लेते हैं। यह एक ऐसा खतरा बन गया है कि बीच बीच में मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय को कई दंडाधिकारी और न्यायाधीशों की सेवाओं को यह कहते हुए समाप्त करना पड़ता है कि उनके खिलाफ भ्रष्टाचार की शिकायतें सही पाए गए है।

इस घिनौनी कहानी से अलग उच्च न्यायालय और विशेष रूप से उच्चतम न्यायालय में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की दिशा में कुछ बेहतर फैसले आते है। कार्यपालिका की मनमानी और अवैध कार्यों से कुछ राहत इन उच्चतर न्यायालयों में मिल सकती है और साथ ही लाभकारी कानून को लागू करने में भी इनकी भूमिका होती है। हालाँकि, स्वतंत्रता के तुरंत बाद के वर्षों में ऐसा नहीं था जब उच्चतर न्यायपालिका ने संसद और राज्य विधानसभाओं द्वारा बनाए जा रहे प्रगतिशील विधानों को अवरुद्ध करने के लिए न्यायिक समीक्षा की अपनी शक्ति का उपयोग किया, विशेष रूप से भूमि सुधार को रोकने से संबंधित।

बाद में यह बेहतर हो गया है, क्योंकि उत्पीड़ितों के अधिकारों के समर्थन में उच्चतर न्यायालयों की न्यायिक सक्रियता के परिणामस्वरूप मानवीय, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और पर्यावरणीय अधिकारों के समर्थन में ढेर सारे निर्णय जनता के पक्ष में दिए गए हैं। इस प्रकार संविधान के प्रावधानों की व्याख्या इस तरह से की जाने लगी है जो गरीबों के लिए बहुत अधिक अनुकूल है। गैर-सरकारी संगठनों और मानवाधिकार संगठनों के रूप में तीसरे पक्ष अपनी ओर से ऐसा लगाकर गरीबों के पक्ष में मुकदमा दायर कर उन्हें लाभ पहुंचाए है।

1990 के दशक में अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के बाद, कुछ मामलों में कुछ प्रतिकूल निर्णयों के बाद गरीबों के अधिकारों को हासिल करने के लिए सामाजिक न्याय के प्रति सर्वोच्च न्यायालय की प्रतिबद्धता के बारे में संदेह हाल ही में व्यक्त किए जाने लगे हैं। और विशेष रूप से नबआ द्वारा उठाए गए उचित पुनर्वास के कठिन मुद्दे में उच्चतम न्यायालय का मुकर जाना इसका एक उदाहरण है। फिर भी, उच्च न्यायालयों द्वारा सकारात्मक हस्तक्षेप ने, सामान्य रूप से और विशेष रूप से मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में उन लोगों के लिए बड़े पैमाने पर पर्यावरणीय आंदोलनों को बड़ा समर्थन प्रदान किया है। यह बिना किसी हिचकिचाहट के कहा जा सकता है कि उच्च न्यायालयों के समर्थन के बिना, इन जन आंदोलनों को अधिक दमन और असफलता का सामना करना पड़ता।

आंजनबारा घटना में, मुख्य न्यायाधीश की अगुवाई में उच्चतम न्यायालय ने यातना और हथकड़ी लगाने के खिलाफ दिए गए निर्णयों की अवमानना और मानवाधिकारों के उल्लंघन के लिए मध्यप्रदेश सरकार पर कड़ा प्रहार किया था। अदालत ने आरोपित पुलिसवालों को उपस्थित रहने के लिए सूचना देने का आदेश दिया। जब खेमचेस के सदस्य संबंधित पुलिसकर्मियों को ये सूचना देने गए थे तो पुलिसवाले भाग गए थे! एक पुलिसवाला ने पुलिस थाने से अपने घर की ओर भाग गया, और जब उसका पीछा किया गया, तो वह पिछले दरवाजे से भाग निकला और किसी अन्य घर में घुस गया।

आदिवासियों के लिए यह पहला अवसर था कि वे पुलिस को इस तरह से भागते देखा। मध्य प्रदेश सरकार को एक पुलिसकर्मी और इसमें शामिल सभी प्रमुख अधिकारियों को निलंबित करना पड़ा। जिला कलेक्टर और पुलिस अधीक्षक का तबादला कर दिया गया। शीर्ष अदालत ने खेमचेस द्वारा लगाए गए आरोपों की केंद्रीय जांच ब्यूरो द्वारा जांच का आदेश दिया।

केन्द्रीय जांच ब्युरो ने यातना और हथकड़ी लगाने के आरोपों की पुष्टि की और यह भी खुलासा किया था कि पुलिस ने रोज नामचा और मामले की डायरी के साथ छेड़छाड़ की थी ताकि उनकी दोषपूर्णता को छिपाया जा सके। अदालत ने सभी दोषी अधिकारियों के खिलाफ मामले दर्ज करने का निर्देश दिया और उस दंडाधिकारी की भी खिंचाई की, जिसने मुझे बताया था कि हथकड़ी लगाने के खिलाफ सर्वोच्च न्यायालय का फैसला अलीराजपुर में लागू नहीं हो सकता था। न्यायाधीशों ने कहा, "इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि पुलिस द्वारा ऐसे कार्य किए गए हैं, जो सभी को चिंतित करते हैं जो मानवत और मानवाधिकारों को महत्व देते हैं। यह नहीं कहा जा सकता है कि मूक गरीबों का दिन खत्म हो गया है। गरीबी से त्रस्त लोगों में गुस्सा और कड़वाहट है। कानून लागू करने में इन पहलुओं को ध्यान देना चाहिए।"

महेन्दीखेड़ा गोलीबारी मामले के आरोपियों के लिए, उच्च न्यायालय में उनकी अपील बेतुका साबित हुई। अभियोजन पक्ष लगातार समय की मांग कर अंतिम सुनवाई से बचना चाहा। उच्च न्यायालय के न्यायाधीश भी बदलते रहे और कोई भी याचिकाकर्ताओं को निचली अदालत की कार्यवाही पर रोक नहीं दे सका। निचली अदालत में कार्यवाही विभिन्न तरीकों से एक ठहराव पर रखी गई थी, और उच्च न्यायालय में अपील का पीछा किया गया था जिसके परिणामस्वरूप राज्य के खिलाफ युद्ध छेड़ने के फर्जी आरोप को खत्म करने का फैसला आया लेकिन अन्य आरोपों को बरकरार रखा। उच्च न्यायालय के लिए समस्या यह थी कि पुलिस ने अपने आरोपों के समर्थन में 106 गवाहों के बयानों को जोड़ दिया था। इस प्रकार, भले ही गुणवत्ता नहीं हो, पर भारी मात्रा में फर्जी गवाह पेश कर, पुलिस मुकदमे में अभियुक्तों को फंसाने की कोशिश करती है।

इसके बाद, यह निचली अदालत में सुना गया और कुछ पचास गवाहों की जांच के बाद, यह स्पष्ट हो गया कि मामला पूरी तरह से मनगढ़ंत है और इसलिए न्यायाधीश ने इस तरह के और अधिक बेकार सबूतों को जांच करने के बजायय मामले को खत्म करने का फैसला किया। छह साल तक घसीटने के बाद आखिरकार हम निर्दोष साबित हुए।

भोपाल गैस त्रासदी और नबआ मामले में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय पहले ही उल्लेख किए जा चुके हैं। नबआ ने कार्यपालिका की मनमानी के खिलाफ कुछ राहत पाने के लिए सर्वोच्च न्यायालय पर निर्भर रहा, पर अंत में उच्चतम न्यायालय द्वारा मामले का निपटारा कर दिया गया, जिससे बांध के निर्माण को जारी रखने की अनुमति मिल गई। न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि सरदार सरोवर बांध का निर्माण केवल चरणों में ही आगे बढ़ेगा, जैसे जैसे प्रभावित व्यक्तियों के उचित पुनर्वास होगा। पुनर्वास की कमी के कारण, नबआ ने आपत्तियां दर्ज करना जारी रखा, इस प्रकार परियोजना की समाप्ति में और देरी हुई। इस रणनीति को बाद में इंदिरा सागर और ओंकारेश्वर बांधों के लिए भी

अपनाई गई थी। जबकि नर्मदा जल-विकास निगम और मध्य प्रदेश सरकार ने लोगों के विरोध प्रदर्शनों पर किसी न किसी तरह से रोक लगा दी और उचित मुआवजा और पुनर्वास प्रदान किए बिना 2004 में जबरन हरसूद शहर को खाली कर दिया। डूब क्षेत्र के बाकी गांवों के साथ निगम के प्रयासों को मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय द्वारा रोक दिया गया है, और निगम को बांध के फाटकों को बंद करने से तब तक रोका गया है जब तक कि प्रभावित लोगों को मुआवजा और पुनर्वास नहीं किया जाता है। ओंकारेश्वर बांध मामले में हाल के एक फैसले में उच्च न्यायालय ने यह भी आदेश दिया है कि राज्य को एनबीए कानूनी लागतों का भुगतान करना चाहिए ताकि अनावश्यक रूप से उसे राहत के लिए उच्च न्यायालय में आने के लिए मजबूर किया जा सके।

भले ही सर्वोच्च न्यायालय ने अब एसएसपी के मामले से किनारा कर लिया है और एनबीए के पैरों के नीचे से गलीचा खींच लिया है, लेकिन इस तथ्य से कोई फायदा नहीं हो सकता है कि 1995 से, जब सुप्रीम कोर्ट ने 2006 तक बांध के निर्माण पर रोक लगा दी, तब एनबीए की कट्टरपंथी लाइन से खुद को दूर करते हुए, इसके उच्चारण ने एक काफी स्थिर डांस फ्लोर प्रदान किया, जिस पर एनबीए अपने एंटी-डैम जिग को कोरियोग्राफ कर सकता है। भारत में मुगल साम्राज्य के बारे में एक टिप्पणी जो ब्रिटिश शासन से पहले थी, वह यह नहीं होनी चाहिए कि यह अंततः गिर गया, लेकिन आश्चर्य होना चाहिए कि यह दो शताब्दियों तक फैले इतने लंबे समय तक जीवित रहा। इसी तरह, किसी को भी सुप्रीम कोर्ट के बारे में शिकायत नहीं करनी चाहिए कि उसने एसएसपी को बेदखल कर दिया क्योंकि वह जल्द या बाद में ऐसा करने के लिए बाध्य था, लेकिन शुक्र है कि इसने "बंद न होएंगे, कोई ना कोई नफरत" के नारे का भी इस्तेमाल किया। एक दशक तक NBA के साथ कोरस में।

आदिवासियों के पक्ष में सबसे महत्वपूर्ण निर्णय सामथा मामले में पांचवीं अनुसूची का पालन है। संविधान की पाँचवीं अनुसूची के प्रावधान जो अनुसूचित क्षेत्रों में सरकारी भूमि सहित भूमि को गैर-आदिवासियों को हस्तांतरित नहीं कर सकते हैं। इसके अलावा, गैर-आदिवासियों को आदिवासी भूमि के हस्तांतरण को रोकने वाले अन्य क़ानून हैं। हालाँकि, इन प्रावधानों के बावजूद, आंध्र प्रदेश में अनुसूचित क्षेत्रों में भूमि पट्टों के माध्यम से खनन के उद्देश्य से निजी कंपनियों और सार्वजनिक निगमों को हस्तांतरित कर दी गई थी। विशाखापट्टनम जिले के एक गैर सरकारी संगठन, समता, ने इन पट्टों को उच्च न्यायालय में असंवैधानिक होने के रूप में चुनौती दी। अदालत ने समता के विवाद को खारिज कर दिया कि निजी कंपनियां न्यायिक रूप से गैर-आदिवासी व्यक्ति हैं और पट्टों को जारी रखने की अनुमति दी। तब समता ने इस आदेश के खिलाफ सुप्रीम कोर्ट में अपील की।

सुप्रीम कोर्ट ने समता तर्क को बरकरार रखा कि निजी खनन उद्योग भी गैर-आदिवासी 's व्यक्ति थे और इसलिए अनुसूचित क्षेत्रों में निजी उद्योगों के लिए आदिवासी भूमि में सभी खनन पट्टे शून्य और शून्य हैं। हालाँकि यह मामला आंध्र प्रदेश के कुछ दूरदराज के आदिवासी गांवों की ओर से दायर किया गया था, लेकिन अदालत का फैसला भारत के नौ राज्यों के लाखों आदिवासियों के लिए एक वरदान है, जिनके पांचवीं अनुसूची क्षेत्र हैं। जबकि सरकार, सार्वजनिक हित में, अभी भी अपने दम पर खनन कार्यों को शुरू कर सकती है, यह भूमि को निजी पार्टियों को पट्टे पर देने से स्पष्ट रूप से

मना किया गया था। इसके बजाय, न्यायालय ने सुझाव दिया कि आदिवासियों की सहकारी समितियों का गठन किया जाए और उन्हें उपयुक्त प्रशिक्षण के साथ पट्टे दिए जाएं। न्यायालय ने सरकार को आदिवासी क्षेत्रों के विकास के लिए एक समग्र नीति तैयार करने का भी निर्देश दिया ताकि खनन कार्यों ने आदिवासियों को तबाह करने के बजाय लाभान्वित किया। न्यायालय ने यह भी निर्धारित किया कि इन कार्यों से होने वाले मुनाफे का बीस प्रतिशत इस उद्देश्य के लिए अलग रखा जाए। अदालत ने आगे फैसला सुनाया कि एक खनन परियोजना को लागू करने से पहले आदिवासी ग्राम सभाओं की अनुमति लेनी होगी। सरकार ने इस फैसले के खिलाफ एक समीक्षा याचिका दायर की, जिसे सुप्रीम कोर्ट ने खारिज कर दिया। सरकार ने इस निर्णय को गोल करने के लिए संविधान में संशोधन करने के बारे में भी सोचा, बजाय सलाह के कि यह वें की सहकारी समितियों को बनाने में मदद करे।

इसके बाद, यह निचली अदालत में सुना गया था, और कुछ पचास गवाहों की जांच के बाद, यह स्पष्ट था कि मामला पूरी तरह से गढ़ा गया है और इसलिए न्यायाधीश ने इस तरह के और अधिक बेकार सबूतों के साथ निपटाने और मामले को खत्म करने का फैसला किया। छह साल तक घसीटने के बाद मामला आखिरकार हमारे अपरिहार्य बरी हो गया।

भोपाल गैस त्रासदी और नबआ के मामले में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के पहले ही उल्लेख किए जा चुके हैं। नबआ ने कार्यपालिका की मनमानी से राहत पाने के लिए सर्वोच्च न्यायालय पर निर्भर रहना जारी रखा पर बाद में न्यायालय द्वारा मामले का निपटारा कर दिया गया, जिससे सरदार सरोवर बांध के निर्माण को जारी रखने की अनुमति मिल गई। न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि बांध का निर्माण केवल चरणों में ही आगे बढ़ेगा जैसे जैसे प्रभावित परिवारों के उचित पुनर्वास सम्पन्न होगा। पुनर्वास पर प्रगति की कमी के कारण नबआ ने आपत्तियां दर्ज करना जारी रखा, इस प्रकार परियोजना में और देरी हुई। इस रणनीति को बाद में इंदिरा सागर और ओंकारेश्वर बांधों के लिए भी अपनायी गई थी। भले ही सर्वोच्च न्यायालय ने अंततः सरदार सरोवर बांध के मामले से किनारा कर लिया है लेकिन 1995 से 2006 तक बांध के निर्माण पर रोक लगी हुई थी और इस दौरान नबआ अपना बांध विरोधी मुहिम जारी रख सका।

आदिवासियों के पक्ष में सर्वोच्च न्यायालय का सबसे महत्वपूर्ण निर्णय समथा मामले में पांचवीं अनुसूची के पक्ष में है। संविधान की पाँचवीं अनुसूची में प्रावधान है कि अनुसूचित क्षेत्रों में सरकारी भूमि का गैर-आदिवासियों को हस्तांतरित नहीं कर सकते हैं। इसके अलावा, आदिवासी भूमि का गैर आदिवासियों को हस्तांतरण को रोकने वाले अन्य क़ानून भी हैं। हालाँकि, इन प्रावधानों के बावजूद, आंध्र प्रदेश में अनुसूचित क्षेत्रों में भूमि खनन के उद्देश्य से निजी कंपनियों को हस्तांतरित कर दी गई थी। विशाखापट्टनम जिले के एक गैर सरकारी संगठन, समथा, ने इन पट्टों को रद्द करने के लिए उच्च न्यायालय में चुनौती दी। अदालत ने समथा के विवाद को खारिज कर दिया कि निजी कंपनियां न्यायिक रूप से गैर-आदिवासी व्यक्ति नहीं हैं और पट्टों को जारी रखने की अनुमति दी। तब समथा ने इस आदेश के खिलाफ सर्वोच्च न्यायालय में अपील की।

सर्वोच्च न्यायालय ने समथा का तर्क को माना कि निजी खनन उद्योग भी गैर-आदिवासी व्यक्ति है और इसलिए अनुसूचित क्षेत्रों में निजी उद्योगों को दिए गए आदिवासी भूमि में सभी खनन पट्टे निरस्त कर दिए। हालाँकि यह मामला आंध्र प्रदेश के कुछ दूरदराज के आदिवासी गांवों की ओर से दायर किया गया था, लेकिन अदालत का फैसला भारत के नौ राज्यों के लाखों आदिवासियों के लिए एक वरदान है जो पांचवीं अनुसूची क्षेत्र में निवास करते हैं। जबकि सरकार, सार्वजनिक हित में, अभी भी अपने दम पर खनन कार्यों को शुरू कर सकती है, यह भूमि को निजी पार्टियों को पट्टे पर देने से स्पष्ट रूप से मना है। इसके बजाय, न्यायालय ने सुझाव दिया कि आदिवासियों की सहकारी समितियों का गठन किया जाए और उन्हें उपयुक्त प्रशिक्षण के साथ पट्टे दिए जाएं। न्यायालय ने सरकार को आदिवासी क्षेत्रों के विकास के लिए एक समग्र नीति तैयार करने का भी निर्देश दिया ताकि खनन कार्यों से आदिवासियों की तबाही होने के बजाय वे लाभान्वित हो। न्यायालय ने यह भी निर्धारित किया कि इन कार्यों से होने वाले मुनाफे का बीस प्रतिशत इस उद्देश्य के लिए अलग रखा जाए। अदालत ने आगे फैसला सुनाया कि एक खनन परियोजना को लागू करने से पहले आदिवासी ग्राम सभाओं की अनुमति लेनी होगी। सरकार ने इस फैसले के खिलाफ एक समीक्षा याचिका दायर की, जिसे सुप्रीम कोर्ट ने खारिज कर दिया।

न्यायशास्त्र को एक नई दिशा देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने पुलिस हिरासत में यातना पर चिंता व्यक्त करते हुए विधि आयोग द्वारा अनुशंसित साक्ष्य अधिनियम 1872 में संशोधन को सही माना। इसके अनुसार पुलिस हिरासत में रहने के दौरान किसी व्यक्ति को अगर शारीरिक चोट पहुंचती है या उसकी मौत होती है अदालत यह मान सकती है कि इसके लिए वह पुलिस अधिकारी दोषी है जिसके अधीन वह व्यक्ति हिरासत में लिया गया था। सर्वोच्च न्यायालय ने कानून में उचित बदलावों की सिफारिश की, न केवल हिरासत में हुए अपराधों पर अंकुश लगाने के लिए, बल्कि यह भी सुनिश्चित करने के लिए कि इस तरह के अपराध तुरंत ध्यान में लाए जाए।

संभवत: सर्वोच्च न्यायालय का सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावी हस्तक्षेप भारत में गरीबों की विशाल जनसंख्या के भोजन के अधिकार को सुनिश्चित करने के लिए हुआ है। खाद्य निगम के पास बड़े पैमाने पर अनाजों के भंडार होने के बावजूद देश में व्यापक भुखमरी और कुपोषण की विसंगति के बारे में लोक स्वतंत्रता संगठन की राजस्थान इकाई द्वारा दायर याचिका पर सुनवाई के दौरान सुप्रीम कोर्ट ने केंद्र और राज्य सरकारों पर कड़ा प्रहार किया है। सर्वोच्च न्यायालय ने आयुक्तों की नियुक्ति की सार्वजनिक खाद्य वितरण प्रणाली की निगरानी के लिए।

हालाँकि उच्चतर न्यायालय राजनेताओं और नौकरशाहों की मनमानी से कुछ राहत प्रदान करते हैं, लेकिन इन तक पहुंचना एक महंगा काम है। भोपाल गैस त्रासदी, नबआ, समथा या लोक स्वतंत्रता संगठन राजस्थान जैसे अधिकांश प्रसिद्ध मामलों में, शीर्ष के वकील निशुल्क पैरवी किए थे। पर आंजनबारा मामले के अलावा, हमें हमेशा वकीलों को शुल्क देना पड़ा है। गरीब याचिकाकर्ताओं के पक्ष में फैसला करते समय, शायद ही कभी उच्चतर न्यायालय मुकदमे की लागत उन्हें देने के आदेश देते हैं। इसलिए अधिकतर कोई संगठन ही गरीबों के लिए मामला लड़ते रहते है।

हाल के वर्षों में उककतर न्यायालय व्यक्ति स्वतंत्रता के मामले में कुछ दकियानूसी रुख अपनाए है। विशेष कर गैर कानूनी गतिविधि निरोधक अधिनियम के मामले में। इस अधिनियम को आतंकवादी गतिविधियों को रोकने के लिए पारित और संशोधित किया गया है और इस में अभियुक्तों को जमानत नहीं दिया जा सकता है भले ही उनके खिलाफ सबूत कितने ही कमजोर हो। इस कानून को कई बार उच्चतर और न्यायालयों में चुनौती दी गई है पर सर्वोच्च न्यायालय तक इसके स्वतंत्रविरोधी प्रावधानों को असंवैधानिक मानने से इनकार कर दिया है। इसलिए इस कानून में आरोपित व्यक्ति बरसों तक जेल में बंद रहते है जब तक कि प्रकरण न्यायालय में चलते रहता है।

एक बार सुभद्रा और मैं, अपने नौ महीने के बेटे के साथ, एक अदालत की सुनवाई में भाग लेने के लिए बरवाह गए थे। हम एक पुराने समाजवादी कार्यकर्ता के घर गए ताकि सुभद्रा हमारे बेटे को अदालत में जाने से पहले स्तनपान करा सकें। वहां हम भारतीय जनता पार्टी के एक सदस्य से मिले। उस व्यक्ति ने पहले ही हमारे कारनामों के बारे में सुना था, लेकिन यह पहली बार था जब हम मिल रहे थे। उन्होंने कहा कि उन्होंने खुद एक बार एक आंदोलन में भाग लिया था और पुलिस द्वारा एक मामले में फंसाया गया था। कुछ हफ्तों पहले वह मामला खत्म हुआ था अठारह साल तक चलने के बाद। उन्होंने इस तरह के मामलों के डर से फिर कभी किसी आंदोलन में हिस्सा नहीं लिया। उन्होंने कहा कि वह सुभद्रा और मुझे हमारे शिशु पुत्र के साथ अदालतों के चक्कर लगाते हुए देखकर बहुत प्रभावित है। वह खुद राज्य के खिलाफ संघर्ष के लिए इस तरह के उत्पीड़न को झेलने के बारे में नहीं सोच सकता था! मुख्यधारा की राजनीतिक पार्टी के सदस्य के इस बयान दर्शाता है कि औपनिवेशिक दमनकारी कानून और निचली अदालतों की रूढ़िवादी न्यायिक संस्कृति जन असंतोष को रोकने में कितना कारगर है। वास्तव में गरीबों के लिए न्याय पान मुश्किल है।

अध्याय 24 - कोहिनूर हीरे का ब्याज

जब सुभद्रा और मैं गरीब हालत में इंदौर आए और अपने दोस्तों और परिवार से मदद के लिए भीख मांगने लगें तो हमें बेकार लोगों की तरह देखा गया ना कि इस देश के आजीविका और अधिकारों से वंचित नागरिकों के लिए लोकतंत्र को अधिक सार्थक बनाने की कोशिश कर रहे सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में। निस्संदेह, बुद्ध, महावीर जैसे महान व्यक्तियों के साथ हिंदू संतों की एक शानदार परंपरा है जो भीख मांगकर ही जीवन व्यतीत किए है पर आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक न्याय के लिए काम करने वालों को बहुत कम समर्थन मिलता है। सभी भारतीय ऋषियों ने लोगों को सलाह दी है कि वे अपनी इच्छाओं को त्याग दें और अपने दुखों को समाप्त करने के लिए अपने भीतर की आत्मा पर ध्यान करें। लेकिन आम लोग, यद्यपि वे सिद्धांततः इस आदर्शवादी रहस्यवाद से मोहित है, व्यवहार में, भगवान को पूजा कर उससे हल मांगते है उनकी हर दिन की समस्याओं के लिए और राजनीतिक संघर्ष करने के लिए तो राजी ही नहीं होते।

एक अवसर पर मैं अचंभित हो गया जब एक आदिवासी महिला काटकुट की एक दुकान पर मुझसे मिली और कहा कि वह हमारे मंदिर जा रही है। न तो दुकानदार और न ही मैं उसका आशय समझ सका जब तक कि वह यह नहीं बतायी कि वह हमारे कार्यालय जा रही है! जब दुकानदार ने उससे पूछा कि क्या वह मंदिर की देवी को कुछ दक्षिणा देने जा रही है तो महिला ने कही कि सुभद्रा इलाके के सभी आदिवासियों के लिए रोटी देने वाली है, इसलिए उसके मंदिर में कुछ भी ले जाने की जरूरत नहीं है। हमने एक लोकतांत्रिक जन संगठन बनाने के लिए बहुत मेहनत किए थे, लेकिन अलौकिक शक्तियों में विश्वास इस देश में आम लोगों के मानस में इतनी गहरी है कि इससे कोई बच नहीं सकता है। हम राजनीतिक कार्यकर्ता से देवताओं में और विशेष रूप से परोपकारी लोगों में परिवर्तित हो गए थे क्योंकि हमने अपने भक्तों से कोई दक्षिणा नहीं मांगी थी! हमने इससे पहले के अपने अनुभवों से कठिन सबक सीखा था कि गरीब जनता पर हम जीवन निर्वाह के लिए निर्भर नहीं हो सकते है और इसलिए काटकूट में काम शुरू करने से पहले हमने अपनी व्यवस्था की थी। लेकिन इन दिनों भगवान और जनता के बीच मध्यस्थ, कई संतों और प्रचारकों को इस तरह की चिंता नहीं है। वे न केवल राजनीतिक संगठनों की तुलना में बहुत अधिक जनसमर्थन हासिल करने में सक्षम हैं, बल्कि लोगों से पैसे भी लेते हैं जो उनसे मोक्ष खरीदने के लिए तैयार हैं पर राजनीतिक लड़ाइयों के लिए पैसे देने के लिए अनिच्छुक है।

वास्तविकता यह है कि जब राज्य से उनके अधिकारों के लिए लड़ने की बात आती है, तो गरीबों से बहुत ज्यादा आर्थिक मदद नहीं मिलती है। वैश्वीकरण और उपभोक्तावाद ने गरीब और उनसे सहानुभूति रखने वालों को आर्थिक रूप से इतना कमजोर कर दिया है कि अब प्रगतिशील लोकोणमुखी कार्रवाई के समर्थन के लिए संसाधनों की सख्त कमी है।

18 वीं शताब्दी से शुरू हुई राज्य व्यवस्था में राजनीतिक शक्तियों के अतिकेंद्रीकरण और उद्योगपतियों, जिन्होंने पहले ही आर्थिक शक्तियों को केन्द्रीकृत कर लिया था, द्वारा इसका नियंत्रण के कारण यूरोप के देशों में व्यापक गरीबी फैल गई थी। प्रारंभिक दौर में इसके विरुद्ध आधुनिक

अराजकतावादी प्रतिक्रिया थी राज्य के अस्तित्व को पूरी तरह से नकारना इस आशा से कि यह शुतुरमुर्ग जैसा रवैया राज्य के खिलाफ लामबंदी को और आसान करेगा! फ्रांसीसी अराजकतावादी पियेर प्रूढों ने सभी निजी संपत्ति को डकैती कहने की हद तक चला गया। लेकिन राज्य को अराजकतावादी राजनीतिक चुनौती के मामले जैसे ही, संसाधन जुटाने के मामले में भी, जमीनी हकीकत ने अराजकतावादियों को अपने सिद्धांतों से समझौता करने के लिए मजबूर किया है, और वे अपनी गतिविधियों को बनाए रखने के लिए संस्थागत वित्त पोषण करते हैं। गांधी भी अपने राजनीतिक और सामाजिक कार्यों के लिए भारतीय पूँजीपति वर्ग से संसाधन एकत्रित करने में पीछे नहीं था। स्वतंत्रता के बाद के युग में, गांधीवादी आश्रमों को उद्योगपतियों और व्यापारियों के योगदान के अलावा धन के लिए सरकार पर बहुत अधिक निर्भर रहना पड़ा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि ये संस्थाएँ धीरे-धीरे अपनी गतिशीलता खोकर राज्य प्रणाली के परिशिष्ट बन गए हैं और ज्यादातर ग्रामीण जीवन की वास्तविकताओं से कट गए हैं।

सर्व सेवा संघ के पहले अध्यक्ष धीरेंद्र मजुमदार गांधीवादी संस्थाओं का नौकरशाहीकरण और उनके सीमानतिकरण की समस्या से जूझते रहे थे पर उन्हें इसे खत्म करने में कोई सफलता नहीं मिली। अंततः उन्होंने 1960 में अपने पद से इस्तीफा दे दिया और साठ साल की उम्र में एक अलग राह पर चलने का निर्णय लिया और जमीनी स्तर से अहिंसक जन आंदोलन खड़ा करने का काम शुरू किया।

उन्होंने बिहार के एक दूरदराज के गाँव में जाकर बसे, जहां सवर्ण जातियों के पास अधिकतर भूमी थी और भूमिहीन बहुजन जातियों की संख्या बहुत अधिक थी। सभी लोग शुरू में धीरेंद्रभाई के साथ काम करने के लिए सहमत हुए, और अमीर और गरीब दोनों ही लोग अपने संसाधनों को दिए धीरेंद्रभाई के सामुदायिक प्रयास के लिए। पर इस नेक प्रयोग अल्पकालिक था, क्योंकि ग्रामीणों की उम्मीद थी कि धीरेंद्रभाई सर्व सेवा संघ के पूर्व अध्यक्ष होने के नाते जल्द ही गाँव में विशाल विकास निधि लाएंगें। जबकि धीरेंद्रभाई का कटाई ऐसा कोई इरादा नहीं था और वे बाधाओं के बावजूद इस परियोजना को जारी रखना चाहा पर उनके युवा साथियों ने, जिन्होंने विभिन्न गांधीवादी संस्थानों में अपनी नौकरियां छोड़कर उनके साथ काम करने आए थे, ऐसी परिस्थितियों में इसे जारी रख नहीं पाए और वे वापस लौट गए। इस प्रकार यह प्रयोग खत्म हो गया। बाद में, धीरेंद्रभाई ने पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक अन्य दूरदराज के गाँव में भी यही प्रयोग किया और वहाँ भी असफल हुए। उन्होंने पाया कि भूदान अभियान में दान की गई भूमि के पुनर्वितरण में जबरदस्त भ्रष्टाचार था, जिसमें विभिन्न स्तरों पर भूदान समितियों के सदस्य रहे सर्वोदयी, शक्तिशाली भूमिधारी जातियों के साथ मिलीभगत कर रहे थे। बहुजन जाति के भूमिहीन किसानों को वास्तव में बहुत कम पुनर्वितरण नहीं हुआ था।

स्वतंत्रता के तुरंत बाद राज्य के विस्तार के वर्षों के दौरान सरकारी क्षेत्र में बड़ी संख्या में रोजगार उपलब्ध हुए, जिससे गाँवों से लेकर शहरों तक लगातार बहुजन जाति के युवाओं की नियुक्ति हुई। बहुत कम लोगों ने स्वैच्छिक या कम वेतन वाली सामाजिक सेवा का विकल्प चुना। आदर्शवादी शहरी युवा जिन्होंने गांधीवादी संस्थाओं को नेतृत्व प्रदान किया था, वे भी छोड़ कर चले गए क्योंकि इन संस्थाओं का नौकरशाहीकरण हो गया। केवल जिनके लिए गांधीवाद को अपनाना एक मजबूरी थी वैसे

लोग ही रह गए जैसे राधेश्याम बोहरे। जब हम माचला रहने के लिए पहुँचे तब बोहरेजी का एकमात्र काम और सिरदर्द था आश्रम की सामग्री को नष्ट करने से गाँव के उन लोगों को रोकना था जो एक समय में ग्रामोदय विद्यालय के कार्यक्रमों के सक्रिय भागीदार थे। वह अपना अधिकांश समय गाँव के उन लड़कों और लड़कियों का पीछा करने में बिताते थे जो आम, सीताफल, केला, लिम्बू, सहिंजन, बांस और चंदन की लकड़ी चुराते थे। अंत में, जब 2003 में महेंद्रभाई का निधन हो गया, तो बोहरेजी ने इस नौकरी से इस्तीफा दे दिया और एक बार फिर से खातेगांव में अपनी जमीन पर खेती करने चले गए जहां कुछ वर्ष पहले उनका देहांत हो गया।

यह एक और विडंबना को उजागर करता है जिससे विशेष रूप से अराजकतावादियों और सामान्य रूप से प्रगतिशील सामाजिक कार्यकर्ताओं को जूझना पड़ता है। प्रतिबद्ध और जानकार जमीनी स्तर के युवा कार्यकर्ताओं के बल पर ही आमूल-चूल सामाजिक परिवर्तन के लिए जन आंदोलन शुरू किया जा सकता है। लेकिन युवाओं को किसी आंदोलन पर्याप्त संख्या में आकर्षित केवल तब कर सकता है जब वह जीवंत हो और आंदोलन का संचालन के खर्चों को जनता वहन करने को तैयार हो जो अक्सर होता नहीं है। इस सवाल पर सोचते हुए, धीरेंद्रभाई इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि एक भ्रष्ट और असंवेदनशील नौकरशाही के माध्यम से सामाजिक और विकासात्मक सेवाओं के प्रदाय में राज्य व्यवस्था का एकाधिकार ने अपने स्वयं के संसाधनों और ऊर्जा को संचयित करके अपनी स्थिति में सुधार करने के लिए लोगों की पहल को खतम कर दिया था। उन्होंने पाया कि गांधीवादी संस्थान भी कार्यशैली में राज्य व्यवस्था जैसे ही असंवेदनशील बन गए थे और लोग उन्हें एक और सरकारी विभाग मानते थे। यह 1960 के दशक की शुरुआत की बात है जब नागरिकों पर राज्य का नियंत्रण इतना व्यापक नहीं था जितना आज है। इसके अलावा, क्योंकि वे विनोबा भावे के गांधीवादी तरीके से काम करते थे, जो वर्गों और जातियों के बीच असमानताओं के शमन के लिए टकराव के बजाय सहयोग पर जोर देते है, उन्हें राज्य उत्पीड़न झेलना नहीं पड़ता था जो वर्ग या जातिगत संघर्ष करने वालों को झेलना पड़ता है।

1975 में सम्पूर्ण क्रांति आंदोलन के दौरान, जयप्रकाश नारायण ने आजादी के बाद के गांधीवाद के इन अंतर्विरोधों को उजागर कर दिया जिससे गांधीवादी खेमे में विभाजन हो गया। नारायण ने जोर देकर कहा कि गांधीवादियों को एक बार फिर दमनकारी और अन्यायपूर्ण राज्य के खिलाफ बड़े पैमाने पर सविनय अवज्ञा आंदोलन करना चाहिए क्योंकि इसके साथ सहयोग कर लोगों के हित साधित नहीं हो सकता। सरकार ने नारायण और उसके समर्थक गांधीवादी संस्थानों के खिलाफ जांच शुरू कर दी क्योंकि वे अपने कार्यक्रमों को चलाने के लिए सरकारी धन लेते थे। आपातकाल के बाद, आंदोलन के अधिकांश युवा नेताओं ने नारायण के काफी चुनौतीपूर्ण अराजकतावादी कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के बजाय मुख्यधारा की चुनावी राजनीति में भाग लेने का विकल्प चुना और अंततः 1978 में नारायण का निधन हो गया।

इसके बाद अंतरराष्ट्रीय दानदाता संस्थाओं की सोच में एक महत्वपूर्ण बदलाव आया। विकासशील देशों में गैर-सरकारी संगठनों को समाज और अर्थव्यवस्था में व्याप्त संरचनात्मक असमानताओं को

संबोधित किए बिना विकास में लोगों की अधिक से अधिक भागीदारी सुनिश्चित करने के प्रयास में "सहभागी विकास" लाने के लिए वित्त पोषित किया गया। भारत भी इस नई लहर में आ गया और यहाँ भी भारी संख्या में गैर-सरकारी संगठनों का गठन हुआ जो की सेवा प्रदाय, ग्रामीण विकास, जन-विकास और नीति और कानूनी वकालत में लग गए। ;

इस नई व्यवस्था में, भारतीय राज्य ने राष्ट्रीय साक्षरता मिशन, राष्ट्रीय जलग्रहण मिशन और कॉउनसिल फॉर पीपुल्स एक्शन एंड रूरल टेक्नोलॉजी (कपार्ट) जैसे कार्यक्रमों के माध्यम से गैर सरकारी संगठनों द्वारा बड़े पैमाने पर सहभागी विकास को प्रोत्साहित किया। इस प्रकार, सहभागी विकास के नाम पर पहली बार यह संभव हो गया कि सरकार और विदेशी धन स्रोतों से बड़े पैमाने पर लोगों को संगठित करने के लिए धन जुटाना संभव हो गया। छत्तीसगढ़ में अपने जमीनी स्तर के जनसमूह के काम का विस्तार करने के लिए अधिक संख्या में युवा कार्यकर्ताओं का वित्त पोषण करने की पुरानी समस्या का हल राजाजी को इससे मिल गया। यही कारण है कि सुभद्रा, जो अन्यथा आजीविका के लिए बीड़ी बनाने पर मजबूर रहती, एक सामाजिक कार्यकर्ता बन गईं। इसी प्रकार, मैं भी खेमराज और अमित के साथ-साथ समाज कार्य अनुसंधान केंद्र के एक हिस्से के रूप में भील आदिवासियों के बीच संगठनात्मक काम को अंजाम दे सका। नबआ ने भी शुरुआती चरणों में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय गैर सरकारी संस्थाओं के समर्थन बड़े पैमाने पर लोगों को एकजुट करने का काम को नीति, मीडिया और कानूनी वकालत और ग्रामीण विकास कार्यों का एक सराहनीय मिश्रण से पूरा किया।

हालांकि, प्रगतिशील सामाजिक परिवर्तन के लिए आंदोलनों में गैर सरकारी संगठनों की भागीदारी से कुछ गंभीर समस्याएं उत्पन्न होती हैं। एक ओर, जब बड़े पैमाने पर संगठन का काम के कारण राज्य या स्थानीय शक्तिशाली वर्ग को कारगर चुनौती पहुँचती है, तो धन के स्त्रोत सूखने लगते है विशेषकर जब कार्यकर्ताओं पर लगाए गए झूठे आपराधिक मामलों पर खर्च बढ़ने लगते है। समाज कार्य अनुसंधान केंद्र के साथ हमारे संबंधों में इसी प्रकार दरार पड़ गया। राजाजी और एकता परिषद को भी अपनी गतिविधियों पर लगाम लगानी पड़ी ताकि राज्य के साथ सीधे टकराव से बचा जा सके और झूठे मामले न थोपे जाय व वित्त पोषण पर रोक न लगें। दूसरी ओर, अधिक वित्तपोषण कार्यकर्ताओं को भ्रष्ट कर सकता है और उन्हें स्वयं सहायता समूह चलाने या नीति, मीडिया, मानवाधिकार या कानूनी वकालत जैसे कुछ समर्थन कार्यों में बड़े पैमाने पर नियोजित कर सकता है जो केवल आंशिक रूप से समस्याओं को कम कर सकते हैं। इंटरनेट पर कई गर्म बहस चल रही हैं; कार्यशालाएं और जन सुनवाइयाँ धड़ल्ले से आयोजित हो रहे है और ऑन-लाइन याचिकाएं दायर की जा रही हैं लेकिन जमीनी स्तर पर बहुत कम वास्तविक जन आंदोलन हो रहे हैं।

गैर सरकारी संस्थाओं में आने वाली धनराशि की भारी मात्रा इस प्रकार एक वरदान के बजाय एक बाधा के रूप में सामने आई है जहां तक सामूहिक सामाजिक कार्रवाई का संबंध है। ऐसे कार्यकर्ताओं की संख्या बहुत कम हो गई है जो मिरची रोटी खाकर कम पैसे में आम जनता के बीच रहकर संघर्ष करने के लिए तैयार हैं । यह पिछले दो दशकों में सामाजिक परिवर्तन के लिए बड़े पैमाने पर

आंदोलनों के असफल होने का प्रमुख कारण है और यह विश्व अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण का ही परिणाम है।

1996 में, सुभद्रा की भाभी, नर्मदा, एक बार जेपरा से कुछ महीनों के लिए माचला आईं, एक पुरानी बीमारी का इलाज करवाने के लिए। उस समय, हमारे साथी कार्यकर्ता जेकब मालवा और निमाड़ क्षेत्रों के स्वदेशी अनाज, दलहन और तिलहन के संरक्षण और संवर्धन के लिए एक परियोजना चला रहा था और माचला और कस्तूरग्राम के आश्रमों में लगभग पाँच एकड़ में प्रयोगात्मक खेती कर रहा था। उसने अपने काम में मदद करने के लिए दो युवाओं को नियुक्त किया था और उन्हें हर महीने पंद्रह सौ रुपये वेतन के रूप में दिए जा रहे थे। नर्मदा को उस समय जेपरा में खेत मजदूर के रूप में बीस रुपये प्रति दिन मजदूरी मिलती थी। उसे यह समझ नहीं आई कि जैकब कम मूल्य और कम पैदावार देने वाली फसलों की खेती करने के बावजूद अपने श्रमिकों को इतना अधिक भुगतान कैसे कर रहा था। सुभद्रा नर्मदा को समझा नहीं सकीं कि जैकब एक गैर सरकारी संस्था चला रहा था, जिसे उदारतापूर्वक एक दान दाता संस्था द्वारा वित्त पोषित किया जा रहा था और इसलिए वह भारत के आम किसान के जैसे काम मजदूरी देने के लिए विवश नहीं था। अब, दो दशक बाद वही नर्मदा एक गैर सरकारी संस्था के लिए जेपरा के आसपास के गाँवों के बच्चों का टीकाकरण करने वाले एक जमीनी कार्यकर्ता के रूप में काम कर रही है। उसने यह काम करने के बाद जैपरा से हमें फोन किया और गर्व से सुभद्रा को बताया कि उसकी तरह वह भी अब एक गैर सरकारी संस्था का हिस्सा थी!

राज्य दमन का सामना करने वाले स्तर तक एक जन आंदोलन का बढ़ने पर हालात और भी विकट हो जाते हैं। महेंद्रिखेड़ा के गोलीकांड के बाद संगठन की रीढ़ टूट गई और उसका प्रभाव कम हो गया। छोटेलाल जैसे अग्रणी आदिवासी कार्यकर्ताओं के खिलाफ दसियों मामले थे और उनका अधिकांश समय इन मामलों की अदालती तारीखों में जाने में व्यतीत होता था। श्रुति जैसी कुछ दानदाता संस्थाएं कुछ मदद करती है लेकिन कार्यकर्ताओं के ऊपर राज्य द्वारा लगाए गए झूठे मामलों का खर्च यह संस्थाएं नहीं उठाती है। अनुचित और अन्यायपूर्ण राज्य नीतियों के खिलाफ आन्दोलन और सेवा प्रदाय, ग्रामीण विकास या वकालत के काम के बीच कठिनाई में अंतर को जमीनी स्तर पर लोगों को स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। कार्यकर्ताओं और लोगों द्वारा आंदोलन करने का जोखिम नहीं उठाए जाएंगे जब सेवा प्रदाय, ग्रामीण विकास, वकालत या परामर्श, या सिर्फ प्रशिक्षण प्रदान करने का तुलनात्मक रूप से बहुत आसान विकल्प उपलब्ध हैं। हमने इतना श्रमसाध्य प्रशिक्षण देकर जो कार्यकर्ता तैयार किए थे, उनमें से अनेकों ने गैर सरकारी संगठनों में नौकरी कर ली है या मुख्यधारा के राजनीतिक दलों के सदस्य बन कर दलाली में लगे हुए है या निष्क्रिय हो गए हैं।

गैर-सरकारी संगठनों द्वारा प्राप्त धन या किए गए काम पर निगरानी का अभाव ने उन्हें सामाजिक क्षेत्र में काम करने के लिए राजनीतिक व्यक्तियों और व्यावसायिक निगमों के लिए एक अच्छा माध्यम बना दिया है। राजनीतिक व्यक्ति और सरकार इस से संसदीय निगरानी से बच सकते है जब कि व्यावसायिक निगम उनके द्वारा किए गए जबरदस्त सामाजिक और पर्यावरणीय हानी के लिए गैर सरकारी संस्थाओं को किसी सामाजिक काम के लिए कुछ मामूली भरपाई कर इससे छुटकारा पा

सकते हैं। इस प्रकार, करों का भुगतान करने और आधुनिक औद्योगिक विकास की सच्ची लागतों को वहन करने के बजाय, बड़े निगम गैर सरकारी संस्थाओं को अपने मुनाफे का एक मामूली अनुपात दान कर रहे हैं और इसे निगमिय सामाजिक जिम्मेदारी का नाम देकर झूठी शान बघार रहे हैं। सरकार, राजनीतिक नेताओं और व्यावसायिक निगम द्वारा बहुत सारे गैर सरकारी संस्थाएं स्थापित किए गए हैं, और वे इस क्षेत्र पर हावी हो गए है और इन्हें अपार संसाधन दिए गए है। आश्चर्य नहीं कि इन दिनों देश में प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ता मुख्यधारा के राजनीतिक दलों के नेता, नौकरशाह, व्यावसायिक निगमों के संचालक और धर्मगुरु हैं! प्रसार माध्यम केवल खबरों के सुर्खियों में रहने वाले लोगों को तवज्जो देते है और एक गरीब जमीनी कार्यकर्ता, सामाजिक व्यवस्था में बदलाव लाने के लिए मेहनतकश और उनके द्वारा किए जा रहे जन आंदोलन कभी कभार ही सुर्खियों में होते हैं। इसलिए, बिल गेट्स और अजीम प्रेमजी उनके द्वारा किए जा रहे सामाजिक कार्यों के लिए सुर्खियों में रहते है। इस प्रकार मौजूदा शोषणकारी, विनाशकारी और अति-केंद्रीकृत शासन और विकास प्रणाली को जनता के पक्ष में बदलने के लिए व्यापक जन कार्रवाई आयोजित करने का कठिन काम से लोगों को दूर रखने के लिए शासक वर्ग द्वारा गैर सरकारी संस्थाओं को इतनी तवज्जो दी जा रही है।

इसलिए सामाजिक क्षेत्र में काम करने वाले संस्थाओं और संगठनों का कुछ वर्गीकरण आवश्यक है अगर इसका कोई अर्थ हमें निकालना है। सबसे पहले, सरकार समर्थक गैर सरकारी संस्था हैं, जो सेवाओं और विकास प्रदान करने और इस संबंध में नीतियों को तैयार करने के लिए सरकार के पूरक के रूप में काम करते हैं। फिर आते है प्रतिनिधि गैर सरकारी संस्था हैं, जो सरकार या व्यावसायिक निगमों द्वारा स्थापित किए गए हैं और जो मुख्यधारा के राजनेताओं, नौकरशाहों की अगुवाई में काम करते हैं - दोनों सेवारत और सेवानिवृत्त और व्यावसायिक निगमों के प्रबंधकों द्वारा नियंत्रित है। इनका उद्देश्य है केन्द्रीकृत राज्य और अर्थव्यवस्था और विकास के प्रचलित रूपों के जन विरोधों की संभावनाओं को खत्म कर देना। अंत में आते है सरकार और व्यावसायिक निगम विरोधी संगठन जो शासन और विकास के प्रचलित तरीकों के विरोध के लिए प्रतिबद्ध हैं। ये ज्यादातर नव-गांधीवादी विचारधारा के हैं, जो जयप्रकाश नारायण का अधूरा काम को आगे बढा रहे है और उसमें एक नया पर्यावरणीय आयाम भी जोड़ा है। सरकार विरोधी संगठन बहुत कम संख्या में हैं, और उन्हें उंगलियों पर गिना जा सकता है। सरकार समर्थक संस्थाएं संख्या में सबसे अधिक हैं और पूरे देश में फैले हुए हैं। वे सबसे दूरस्थ कोनों में घुसते हैं और ऐसे काम करते हैं जो आदर्श रूप से समुदाय द्वारा स्वयं या सरकार द्वारा किए जाने चाहिए। प्रतिनिधि गैर सरकारी संस्थाएं संख्यात्मक रूप से पूर्व दो श्रेणियों के बीच में हैं, लेकिन वे सबसे शक्तिशाली हैं क्योंकि उनके पास संसाधन, आर्थिक और राजनीतिक शक्ति और प्रसार माध्यमों तक आसान पहुंच है।

समर्थक संस्थाओं के पक्ष में एक दलील दी गई है कि वे सरकारी विभागों की तुलना में सामान्य रूप से कम भ्रष्ट और अधिक कुशल हैं। पर केवल कुछ ही ऐसी संस्थाएं वास्तव में अच्छा काम कर रहे हैं और इन में से कुछ रचनात्मक कार्य, सेवा प्रदाय, जन वकालत और गरीबों और शोषितों के अधिकारों के लिए संघर्ष के साथ साथ इसके लिए धन एकत्रित करने को मिलाकर असाधारण काम कर रहे हैं। हालाँकि, शिक्षा और स्वास्थ्य के दो महत्वपूर्ण सामाजिक क्षेत्रों में गैर सरकारी संस्थाओं

द्वारा दी जा रही सेवाओं का अनुपात मामूली है। सरकार और निजी लाभ कमाने वाली संस्थाएं इन दोनों क्षेत्रों में प्रमुख रूप से बनी हुई है और जैसे कि कोविड महामारी ने साबित कर दिया है इन दोनों क्षेत्रों में आम जनता के लिए परिस्थिति खराब है।

ये दो तरह के व्यवस्थावादी संस्थाएं, उन्हें वित्तपोषित करने वाली संस्थाएं और उन्हें प्रशंसा करने वाले बुद्धिजीवियों ने 1960 के दशक के उत्तरार्ध के क्रांतिकारी आंदोलनों का मुकाबला करने के लिए पहली बार पश्चिमी दुनिया में इस रणनीति को विकसित किए थे। जैसे मार्क्सवादी इतिहासकार, ई.पी. थॉम्पसन, कहते है, "वह सब कार्यवाहियाँ जो अलग-अलग सामाजिक भूमिकाएं निभाने वाले समूहों के सामंजस्यपूर्ण पर शोषणकारी सह-अस्तित्व को चुनौती देते है ... शासक वर्ग के लिए एक अनुचित गड़बड़ी का लक्षण है" और इसलिए शासक वर्ग के हित में एक असंतुष्ट समूह को "राज्य द्वारा अपनी सामाजिक भूमिका को स्वीकार करने के लिए समझाना चाहिए और उनके असंतोष को खत्म कर देना चाहिए यह पता कर कि उनकी शिकायतों को कैसे सबसे अच्छी तरह से निपटाया जा सकता है।" यह ही वजह है कि गत अर्ध शतक में विश्व भर में और भारत में कई आंदोलन हुए है पर यह सब पूंजीवादी केंद्रित व्यवस्था को चुनौती पहुंचाने में नाकाम रहे है। विश्व स्तर पर, बहुराष्ट्रीय कंपनियों, विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक और विभिन्न दानदाता संस्थाएं लगातार न्यायपूर्ण और पर्यावरणीय दृष्टि से निरंतर विकास की बात करते रहते और गैर सरकारी संस्थाओं को इस के लिए काम करने के लिए वित्तपोषित भी करते है पर वैश्वीकरण का विरोध करने वाले प्रतिबद्ध लोगों को, जो आधुनिक औद्योगिक विकास की वर्तमान प्रणाली को रद्द करने की मांग करते हैं, उन्हें दर किनार कर दिया जाता है।

स्वाभाविक रूप से, सरकार और व्यावसायिक निगमों का विरोध करने वाले संगठन सरकार के समर्थन वाले संस्थाओं से सावधान रहते हैं और कभी भी सरकार, व्यावसायिक निगम या दानदाता संस्थाओं से धन नहीं लेते हैं ताकि वे अपने कार्यों की स्वतंत्रता को बनाए रख सके। हालाँकि, अत्यधिक प्रतिकूल परिस्थितियों में एक जन आंदोलन को चलाने के लिए गरीबों की अक्षमता को देखते हुए कभी कभी सरकार विरोधी आंदोलनों को गुप्त रूप से अन्य दो श्रेणियों की संस्थाओं और दानदाताओं से सहायता लेनी पड़ती हैं- भारतीय और विदेशी दोनों।

आदर्श रूप से विभिन्न वंचित समुदायों और विशेष रूप से उनकी महिलाओं के जन संगठनों की एक बड़ी संख्या होनी चाहिए जिनके सक्रिय सदस्य चंदा देकर बड़े पैमाने पर आंदोलनों को चलाना चाहिए ताकि शासक वर्ग के वर्चस्व की चुनौती पँहुचाई जा सके। इससे जमीनी स्तर पर लोकतंत्र ठीक से काम करेगा और अन्य गैर सरकारी संस्थाओं, सरकार और व्यावसायिक निगमों पर दबाव बनेगा कि वे सामाजिक और आर्थिक रूप से न्यायोचित और पर्यावरणीय रूप से निरंतर विकास और शासन की नीतियां अपनाएं। हालांकि, इस अराजकतावादी सपने को साकार करना बहुत मुश्किल है क्योंकि वर्तमान में बहुत कम युवा इस प्रकार के काम करने की कठोर विकल्प को चुनते हैं और बहुत कम लोग राज्य की असंवेदनशीलता और उत्पीड़न की पहाड़ी पर पत्थर धकेल कर चढ़ा रहे हैं।

जब से हम इंदौर आए, सुभद्रा और मैं अकेले अपने दम पर लड़ रहे है। इसलिए हमारे पास बाहरी धन के स्रोतों पर ही निर्भर रहना पड़ा है सामूहिक संगठनात्मक कार्यों को निष्पादित करने के लिए। जब तक यह दानदाता हमारे जमीनी कार्य की दिशा को प्रभावित नहीं किया, तब तक हमने उनके चरित्र के बारे में चिंता नहीं की। क्योंकि हम एक बहुत ही सीमित क्षेत्र में काम करते हैं और एक व्यावहारिक समझ के साथ कि हमारे काम कभी भी उस पैमाने पर नहीं पहुंचेगा जहां वह सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में दूरगामी बदलाव ला सकता है, इसलिए हम हमारे काम के लिए आवश्यक सीमित धन के स्त्रोतों के चरित्र के बारे में अधिक सोचते नहीं है। इस रवैये ने हमें अनुसंधान कार्य के माध्यम से वित्त पोषण करते हुए बिना किसी बाधा के क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से काम करने की आजादी दी है। इस प्रकार, मैंने उसी विश्व बैंक के लिए अनुसंधान कार्य किया हूं, जिसकी नीतियों के विरोध में कभी मैं जेल गया था!

राज्य का इरादा महेन्दीखेड़ा की दमनात्मक कार्यवाही के दौरान देवास में संगठन को पूरी तरह से मिटा देने का था, लेकिन वह ऐसा करने में असफल रहे क्योंकि हमारे पास एक वित्तीय कोश था जिसके सहारे हम बाद में भी लड़ते रहे। राज्य यह साबित करने की कोशिश की कि यह कोश अवैध है, पर यह विफल हो गया क्योंकि यह पूरी तरह से कानूनी अनुसंधान कार्यों के माध्यम से बनाया गया था। अगर हमारे पास यह वित्तीय कोश ना होता तो हमें भागना पड़ता, जिससे गरीब आदिवासियों को बहुत परेशानी होती। पर हम अभी भी पहाड़ी पर पत्थर को चढ़ा रहे है जिससे राज्य की मनमानी पर कुछ अंकुश लग रहा है। अंत में, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है कि कोई विदेशी या भारतीय पैसों के बल पर काम कर रहा है क्योंकि सभी बाहरी धन के स्त्रोतों, चाहे वह विदेशी हो या भारतीय, जन आंदोलन की प्रक्रिया को सीमित करते है। हाल ही में सरकार द्वारा विदेशी धन लेने की प्रक्रिया को और कठिन कर देने के बाद से गैर सरकारी संस्थाओं को आई दिक्कत से स्पष्ट है कि इन संस्थाओं के लिए इस धन की कितनी अहमियत है। यह इस धन को लेने वाले व्यक्तियों पर निर्भर करता है कि वे इसके कितने अच्छे उपयोग कर सकते हैं। हम केवल यह कह सकते हैं कि हमने कार्यकर्ताओं के रूप में अपनी प्रतिबद्धता को बनाए रखने की पूरी कोशिश की है। चूंकि वर्तमान में सभी लोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विदेशी धन ले रहे हैं, इसलिए सबसे अच्छा होगा कि इस धन को अंग्रेजों द्वारा हम से चुराए गए प्रसिद्ध कोहिनूर हीरे पर चुकाए जा रहे ब्याज के रूप में लिया जाए!

अध्याय 25 - भारतीय क्रांति के लिए संघर्ष

अक्सर बस्तर के गहरे जंगलों में सशस्त्र पुलिसकर्मियों को नक्सलियों द्वारा मार दिए जाने की खबरें आती रहती है। एक बार तो कांग्रेस पार्टी के एक काफिला पर हमला कर छत्तीसगढ़ के उस समय के बहुत सारे बड़े नेताओं को नक्सलियों ने मार दिए थे। छत्तीसगढ़ सरकार भी पुलिस अभियान चलाकर नक्सलियों और उनके काम में सहानुभूति रखने वालों को मार देती है। और सिर्फ छत्तीसगढ़ ही नहीं बल्कि झारखंड, ओड़िशा, बंगाल, आंध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिल नाडु और केरल में राज्य द्वारा उनके खिलाफ अपनाई गई भारी दमनकारी रणनीति के बावजूद नक्सलियों ने अपने सशस्त्र संघर्ष को जारी रखे हुए है।

नक्सलवादियों या उनका एक अन्य नाम माओवादियों, द्वारा राज्य तंत्र को परास्त करने और किसानों की सशस्त्र लामबंदी के माध्यम से एक नई लोकतांत्रिक क्रांति लाने के लिए पाँच दशक से भी अधिक समय से संघर्ष चलाया जा रहा है। उन्होंने भारतीय शासक वर्गों के भ्रष्ट-चुनावी राजनीति और भारतीय जनता के शोषण पर आधारित केंद्रीकृत औद्योगिक विकास को चुनौती दी है। नक्सली आंदोलन के वर्तमान दूसरे चरण भारतीय राज्य के लिए एक बड़ा सिरदर्द है।

1960 के दशक के नक्सली विद्रोह के सशस्त्र शुरुआती दौर के बावजूद भूमि सुधार लाने में बहुत अधिक सफलता नहीं मिली थी। किसानों पर जमींदारों के सामंती नियंत्रण बेरोकटोक जारी रहे। यह विशेष रूप से बिहार और झारखंड राज्यों के लिए सच था जहां पहले भूदान आंदोलन भी असफल रहा था। 1970 के दशक में सम्पूर्ण क्रांति आन्दोलन, जिसे काफी किसान समर्थन प्राप्त था, को भी कुचल दिया गया था। केंद्र और राज्यों में कांग्रेस सरकारों की किसानों की समस्याओं को हाल करने में यह विफलता के कारण 1980 के बाद से नक्सल आंदोलन की पुन: शुरुआत हुई। शुरुआती चरण को कुचल दिए जाने के बाद 1970 के दशक के दौरान नक्सली आंदोलन पूरे देश में बिखरे हुए कई समूहों में जीवित रहा। ऐसा ही एक समूह, मुक्तिकामी मार्क्सवादी लेनिनवादी साम्यवादी दल (सीपीआइ(एमएल) लिबरेशन) ने बिहार और झारखंड में किसानों को खुलेआम लामबंद करना शुरू किया और चुनावी राजनीति में सफलतापूर्वक भाग लिया। जब कि बिहार और झारखंड में दो अन्य समूहों, सीपीआई एमएल पार्टी यूनिटी और माओवादी कम्युनिस्ट सेंटर ने सशस्त्र संघर्ष का विकल्प चुना। इसी तरह, सीपीआई (एमएल) पीपुल्स वार ग्रुप और कुछ अन्य सीमांत समूहों ने भी आंध्र प्रदेश में सशस्त्र संघर्ष शुरू किया।

इस बार, दलित और आदिवासी किसानों के बीच एक स्पष्ट समझ के साथ आंदोलन शुरू हुआ कि इसे राज्य द्वारा भारी दमन का सामना करना पड़ेगा। इसलिए, शुरुआत से ही, सशस्त्र दस्ते बनाए गए और उन्हें स्वचालित हथियारों से लैस कर दिए गए। ये दस्ते बेहद घुमंतू थे और ज्यादातर घने जंगलों में ही रहकर सशस्त्र कार्रवाइयों को अंजाम देने के बाद पीछे हट जाते थे। इसके साथ ही, किसानों, श्रमिकों, छात्रों, बुद्धिजीवियों और कलाकारों के बीच खुले जन संगठन बनाए गए, जिन्होंने जनता की राजनीतिक चेतना के स्तर को बढ़ाने और सामाजिक और आर्थिक उत्पीड़न से उत्पन्न उनकी सामाजिक-आर्थिक समस्याओं को हल करने की दिशा में काम किया। ये जन संगठन सशस्त्र

दस्तों और भूमिगत पार्टी के लिए कार्यकर्ता भी प्रदान करते थे। इसके अलावा, क्योंकि 1960 के दशक के पहले दौर में नक्सलबाड़ी और श्रीकाकुलम में राज्य बलों ने उनके एक ही जगह पर अलग थलग सशस्त्र आंदोलन को आसानी से घेर लिया था इसलिए दूसरे दौर में आंदोलन का नेतृत्व जल्द ही अपना प्रभाव को पास के अन्य राज्यों में फैला दिया। इसलिए, अब इसका प्रभाव क्षेत्र बहुत बड़ा है, जो तमिलनाडु और केरल से कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और झारखंड होते हुए उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल और बिहार तक फैला हुआ है। यह ध्यान रखना दिलचस्प है कि पश्चिम बंगाल में आंदोलन ने बिगड़े आदिवासियों के बीच जड़ें जमा ली हैं।

जब एक जगह पर बहुत अधिक पुलिस कार्यवाही होती है, तो माओवादी अपनी कार्रवाई को किसी अन्य स्थान पर स्थानांतरित कर देते है जहां स्थिति अपेक्षाकृत आसान होती हैं। इससे आंदोलन को बरकरार रखा जाता है। नतीजतन, समन्वित पुलिस कार्रवाई के कारण नक्सली गतिविधि सीमित हो जाने के बाद भी उनके सशस्त्र दस्ते अभी भी छत्तीसगढ़, झारखंड और महारक्षर में काफी सक्रिय है।

राज्य के खिलाफ एक सशस्त्र संघर्ष को बनाए रखने की इस क्षमता ने नक्सलियों को गरीबी से जूझ रहे युवाओं के बीच, मुख्य रूप से दलितों और आदिवासियों से और जनता के अन्य वर्गों से भी काफी समर्थन मिला है। पर हिंसा और जवाबी हिंसा के इस चक्र का मतलब है कि नक्सलियों के प्रभाव वाले क्षेत्रों में आम लोग उनके और राज्य के बलों के बीच की लड़ाई में फंसे हुए है। एक गृहयुद्ध जैसी स्थिति में दोनों पक्षों ने उन लोगों को निशाना बनाता है, जिन्हें वे दुश्मन के मुखबिर और हमदर्द मानते हैं। परिणामस्वरूप लोकतांत्रिक जन कार्रवाई की गुंजाइश गंभीर रूप से बंद कर दिया गया है। वर्तमान में, नक्सलियों के सभी जन संगठनों को आधिकारिक तौर पर प्रतिबंधित कर दिया गया है और कड़े गैर कानूनी गतिविधि निवारण अधिनियम के तहत अनेकों कार्यकर्ताओं और कथित समर्थकों को जेल में बंद कर दिया गया है। इसके अलावा, भारतीय राज्य के चरित्र को एक अर्ध-सामंती और अर्ध-औपनिवेशिक इकाई के रूप में मानने के माओवादी आधुनिक बाजार-केंद्रित विकास को अपने प्रभाव के क्षेत्रों में प्रवेश का विरोध करते है, जिससे उन्हें पिछड़ी स्थिति में रखा गया है। पहल स्वरूप देश के सुदूर घने जंगल वाले ग्रामीण इलाकों से परे नक्सली संघर्ष के प्रसार नहीं हो पा रहा है और इन क्षेत्रों में कुछ मामलों में जनता और कार्यकर्ताओं के बीच माओवादी नेतृत्व के प्रति असंतोष भी पैदा हुआ है। इसका फायदा उठाकर दक्षिण बस्तर में राज्य ने आदिवासियों का ही एक सशस्त्र बल बना दिया है माओवादियों के खिलाफ़।

नक्सलवादी लामबंदी का यह दूसरा चरण एक ऐसे समय में आया है जब दुनिया भर में आम जनता के दिमाग पर पश्चिम के सांस्कृतिक साम्राज्यवाद दूरदर्शन के माध्यम से हावी है। पूंजीवादी औद्योगिक विकास, उपभोक्तावाद और भारी भरकम सैनिक ताकत पूरी दुनिया को चला रहे है और इसमें माओवाद और जमीनी पर्यावरणवाद के सफल होने की संभावना बहुत कम है। 2001 में आई हिंदी फिल्म "लगान" की अभूतपूर्व सफलता से बेहतर इस स्थिति को और कुछ दर्शा नहीं सकता है। यह फिल्म भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान किसानों से लगान या भूमि कर वसूलने की जबरन वसूली की समस्या पर केंद्रित है। फसल की विफलता से उत्पन्न गंभीर आर्थिक संकट में

भी लगान वसूली अंग्रेजों और किसानों के बीच विवाद का कारण है। हालांकि, जबकि वास्तव में इस तरह की परिस्थितियों में ब्रिटिश शासन के दौरान कई खूनी विद्रोह हुए है, फिल्म में, बेतुके तरीके से, किसानों को एक क्रिकेट स्पर्धा में जीत हासिल कर लगान माफ करते हुए दिखाया गया है। ऐसी फिल्म का लोकप्रिय होना दर्शाता है कि जन मानस कितना भ्रमित है कि उसकी आजीविका की समस्या कैसे हाल होगा।

यह समझना बहुत मुश्किल नहीं है कि जनता की जनता की चेतना का स्तर जब इतना उपभोगवादी है तो भारत में नक्सलवादियों द्वारा क्रांति लाने की संभावनाएं बहुत कम हैं। माओ ने कहा था कि सत्ता बंदूक की नाल से आती है, लेकिन आज की परिस्थितियों में यह एक टेलीविजन सेट से आती है! अपने सशस्त्र कार्रवाइयों के माध्यम से नक्सलियों ने न केवल अपने स्वयं के जन संगठनों के लिए, बल्कि अन्य लोकतान्त्रिक संगठनों के लिए भी जन कार्रवाई करना मुश्किल कर दिए हैं। नक्सलियों के करीब होने और इस तरह अतिरिक्त-कानूनी उत्पीड़न के अधीन हैं। दलितों के भीम कोरेगाओं स्थित स्मारक स्थल पर हुए आंदोलन की जांच कर रही पुलिस ने उसे एक नक्सलवादी साजिश करार देकर देश भर के अनेक कार्यकर्ताओं को गैर कानूनी गतिविधि निवारक अधिनियम के तहत तीन साल से जेल में बंद कर रखा है।

अमेरिकी अराजकतावादी थोरो ने एक बार लिखा था, "अगर एक आदमी अपने साथियों के साथ तालमेल नहीं रखता है, तो शायद इसलिए कि वह एक अलग ताल को सुन रहा है। उसे उस संगीत के साथ ही नाचने देना चाहिए भले ही वह कितना भी अलग हो।" यह आधुनिक औद्योगीकरण के द्वारा फैलायी गई संरूप संस्कृति के खिलाफ उद्घोष है। आधुनिक युग में आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विविधता को बनाए रखना बहुत कठिन हो गया हैं। पूंजीवादी औद्योगिक विकास के आधिपत्य को एक ठोस चुनौती पहुँचने की संभावना काफी कम हो गई है। इसीलिए नक्सलियों की परिधीय हिंसा के कारण लोकतांत्रिक जन कार्यवाहियों की संभावनाएं कम होना चिंता का विषय है। इससे भी बड़ी चिंता की बात यह है कि नक्सली कार्यकर्ता अधिकतर दलित और आदिवासि हैं, और ये जमीनी बुद्धिजीवी, जो एक बेहतर दुनिया की लड़ाई में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते थे, सभी सशस्त्र क्रांति के पीछा करते हुए असामयिक मौत मर रहे हैं। वर्तमान में बहुत कम लोग बचे है जो आधुनिक औद्योगिक विकास के विनाशकारी यात्रा का विरोध कर रहे है।

अध्याय 26 – कुछ समय के लिए संघर्ष विराम

1998 की गर्मियों में एक दिन, सुभद्रा और मैं पुलिस के यह झूठे प्रचार कि हम दोनों नक्सली है के बारे में शिकायत करने के लिए इंदौर में संभागीय आयुक्त से मिलने गए थे। बरवाह की पुलिस ने हमारे कोलकाता और बस्तर से होने के बारे में पूछताछ की थी। इससे सुभद्रा बहुत व्यथित हुई। वह एक दशक पहले आजीविका की तलाश में सामाजिक कार्य में प्रवृत्त हुई थी और फिर धीरे-धीरे राजनीतिक संगठनात्मक कार्य में। वह सचेत रूप से गरीबों के अधिकारों के लिए लड़ने के लिए नहीं आई थी। राज्य के वास्तविक चरित्र और उच्चतम स्तर तक नौकरशाही के जन विरोधी रुख के बारे में उसे कुछ पता नहीं था। उसने भोलेपन में मानी थी कि राज्य वास्तव में गरीबों के प्रति संवेदनशील है और केवल निचले स्तर के कर्मचारी बुरे और भ्रष्ट थे। लेकिन, तीन वर्षों के काटकुट प्रवास के दौरान उसने यह कठिन तथ्य जान लिया था कि राज्य स्वयं अमीर और शक्तिशाली वर्ग के पक्षपाती है एवं गरीबों की भला नहीं चाहती है। उसने फैसला किया कि वह अब तक एक दीवार पर अपना सिर को पटक रही थी और कुछ समय के लिए इससे छुट्टी लेकर उसे पढ़ाई ध्यान केंद्रित करनी चाहिए अपनी राजनीतिक समझ बढ़ाने के लिए।

वह अपनी समझ बढ़ाने के लिए सामाजिक और राजनीतिक सिद्धांत पर किताबें पढ़ने लगी। पर स्कूल में उसे जो शिक्षा मिली थी, वह इन किताबों को समझने के लिए अपर्याप्त थी। इसलिए, 1997 में, उन्होंने राजनीति शास्त्र में स्नातक की उपाधी के लिए औपचारिक अध्ययन फिर से शुरू करने का फैसला किया। एक कॉलेज की तलाश करते हुए, वह इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (इग्नू) के एक पर्चा देखी, जिसमें दूरस्थ शिक्षा प्रदान करने की बात की गई थी। उसमें लिखा था इग्नू का पाठ्यक्रम उन लोगों के लिए बनाया गया था, जो हाई स्कूल के बाद उच्च शिक्षा से चूक गए थे। उसने विश्वविद्यालय के स्नातक प्रोग्राम के लिए दाखिला लिया। हालांकि, पाठ्यक्रम सामग्री प्राप्त करने पर, उन्होंने पाया कि इग्नू के पाठ्यक्रम काफी कठिन है। उसने पाया कि परीक्षाएँ पास करने के लिए उसे पढ़ाई में अधिक से अधिक समय लगाना होगा जो अपने जमीनी काम को जारी रखते हुए संभव नहीं है। इसलिए सुभद्रा ने राजनीतिक सक्रियता से कुछ समय के लिए विश्राम ले लिया।

सुभद्रा को उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम के अध्ययन में कठिनाई आने के पीछे मुख्य कारण स्कूल में उन्हें मिली बुनियादी शिक्षा की खराब गुणवत्ता थी। यह अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में एक आम बात है। भारत में शिक्षा परंपरागत रूप से कुछ सवर्ण जाति के लोगों का विशेषाधिकार रही है। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में एक ब्राह्मण ऋषि की कहानी है, जिनकी दो पत्नियां थीं- एक ब्राह्मण और दूसरा दलित। उनकी दो पत्नियों में से प्रत्येक का एक बेटा था। वैदिक काल में, ऋषि अपने शिष्यों को अपने पुत्रों सहित, देवताओं को यज्ञों या अग्नि यज्ञों के दौरान वैदिक छंदों का पाठ पढ़ाते थे। दोनों पत्नियों ने अपने पुत्रों को उनके पिता के पास पाठ के लिए भेजा जब एक ऐसे यज्ञ चल रहा था। ऋषि ने अपने ब्राह्मण पुत्र को गोद में बैठा लिया और उसे छंद सिखाना शुरू कर दिया, लेकिन अपने दूसरे पुत्र को नजरअंदाज कर दिया, जो आधा दलित था। दलित बेटा रोता हुआ आया और अपनी माँ से शिकायत की कि उसके पिता ने उसे अनदेखा कर दिया है, और इसलिए वह पढ़ाई नहीं कर

पाएगा। पहले तो माँ उदास हुई, लेकिन बाद में कही कि वह एक दलित है यानि पृथ्वी माता की बेटी और इसलिए वह अपनी माँ से समाधान मांगी। पृथ्वी देवी, वसुंधरा, ने उसे चिंता न करने के लिए कही और वह खुद अपने दौहित्र को पढ़ाने लगी। इस प्रकार, दलित का यह पुत्र, जिसे पृथ्वी माता ने सिखायी थी, एक बहुत ही विद्वान संत बन गया।

इस दलित ऋषि ने फिर अपना बदला लिया। संस्कृत एक ऐसी भाषा है जिसमें शब्दों के कई अर्थ होते हैं; किसी भी शब्दों के अनुक्रम की अलग-अलग व्याख्या हो सकती है। एक विशेष कविता के कई अर्थ हो सकते हैं, निरर्थक से लेकर अत्यधिक दार्शनिक तक। वेदों के संहिता भाग में छंदों के वास्तविक दार्शनिक अर्थ को समझने के लिए, शब्दों के कौन से अर्थ और कौन से क्रम को चुनना है, यह जानना होगा। यह कुंजी वेदों के ब्राह्मण भाग में दी गई है। दलित ऋषि ने ऋग्वेद के लिए ब्राह्मण की रचना की और इसे अपने नाम पर रखा। उन्होंने जो नाम चुना वह था ऐतरेय या एक इतर का पुत्र, जिसका अर्थ है सवर्ण के अलावा अन्य किसी जाती के व्यक्ति। तो सबसे पवित्र ब्राह्मणवादी हिंदू ग्रंथ का सही अर्थ को केवल एक दलित द्वारा लिखी गई कुंजी की मदद से ही समझा जा सकता है।

प्राचीन दलित ऋषि ऐतरेय और उनके आधुनिक समकक्ष बाबासाहेब अंबेडकर के बीच समानताएं बहुत है। न केवल दोनों ने कठिनाइयों के सामने व्यक्तिगत दृढ़ता के माध्यम से शिक्षा पाने का संघर्ष किया, बल्कि वैदिक छंदों के दार्शनिक अर्थ की समझ के लिए ऐतरेय के ज्ञानवर्धक योगदान के समान, बाबासाहेब ने संविधान सभा के अध्यक्ष के रूप में, एक अच्छा संविधान तैयार कर गए है। संविधान के उदारवादी और सामाजिक न्याय वाले हिस्से, जो इसकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं, उन्ही की दें है। जिस प्रकार वेदों के उच्च कोटी के दर्शन को पुजारियों की वास्तविक हिंदू धार्मिक परंपरा के रूढ़ीवादी संस्कारों में डुबो दिया गया है, उसी प्रकार हमारे संविधान के उदारवादी और सामाजिक न्याय के सिद्धांतों को औपनिवेशिक जन विरोधी नीतियों के तले आधुनिक भारत के मंदिरों के पुजारियों - मुख्यधारा के राजनेता और नौकरशाह द्वारा दफनाया गया है। शिक्षा के क्षेत्र में यह कहीं अधिक स्पष्ट है।

ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था के विभाजनकारी और दमनकारी चरित्र को अंग्रेजों ने बहुत चतुराई से मजबूत किया था, ताकि उनके शासन के खिलाफ जनता द्वारा व्यापक विद्रोह की संभावना को कम किया जा सके। सवर्ण जातियों, जो बड़े पैमाने पर अंग्रेजों के साथ सहयोग किया था, बहुजन समाज में शिक्षा सुविधाओं का अभाव का लाभ उठाकर अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा प्रणाली पर एकाधिकार जमाया और भारतीय समाज पर अपना वर्चस्व को और मजबूत किया।

गांधी ने व्यापक पैमाने पर "नई तालीम" या एक नई शिक्षा प्रणाली लागू करने की बात की थी, जो युवाओं को अपनी भाषा और मुहावरों में प्रशिक्षित करने के लिए और अंग्रेज उपनिवेशवादियों द्वारा तबाह की गई ग्रामीण अर्थव्यवस्था को पुनर्जीवित करने के लिए अधिक उपयुक्त थी। पर स्वतंत्र भारत में इसकी अनदेखी की गई और न केवल सरकारी शिक्षा प्रणाली को व्यापक नहीं बनाया गया बल्कि जो कुछ भी आधी अधूरी शिक्षा व्यवस्था चलायी गई उसमें भी अंग्रेजों के समय का पाठ्यक्रम

को जारी रखा गया। आज तक, स्थानीय संदर्भहीन और अनुपयुक्त पाठ्यक्रम, अयोग्य शिक्षकों द्वारा पढ़ाए जाते हैं और बच्चों के पास रट्टे लगाने के अलावा और कोई विकल्प नहीं होता हैं। यह उनके ज्ञानवर्धन और विश्लेषण के कौशल के समुचित विकास को रोकता है। मध्य प्रदेश में एक आम मजाक यह है कि राज्य शिक्षा बोर्ड परीक्षाओं का नाम इसलिए बोर्ड परीक्षा रखा जाता है क्योंकि इनमें शिक्षक ब्लैक बोर्ड पर प्रश्न के उत्तर लिख देते हैं ताकि छात्र उसे नकल करन सके! इसके बावजूद, अधिकांश छात्र परीक्षा पास करने में असमर्थ होते हैं क्योंकि वे नकल करने के भी काबिल नहीं हैं।

सरकारी स्कूल प्रणाली, जो कि शैक्षणिक और मानव संसाधनों में कभी भी ठीक से सुसज्जित नहीं थी, समय के साथ और भी अप्रासंगिक हो गई है। ऐसे समय में जब शिक्षा संरचना के पुनर्जीवन के लिए धन और विचारों का एक बड़ा निवेश आवश्यक है, राज्य और केंद्र सरकारें दोनों ही इस दिशा में बहुत कम पहल कर रही है। इस प्रकार, राज्य की स्कूल शिक्षा प्रणाली अपर्याप्त और बहुत कम गुणवत्ता वाली हैं। इसलिए, समाज के विभिन्न वर्गों के बीच राजनीतिक लड़ाई जारी है सीमित सार्वजनिक संसाधनों पर कब्जे जमाने के लिए।

अलीराजपुर जिले के एक गाँव के सरकारी स्कूल के एक प्रधानाध्यापक ने एक बार मुझसे कहा था कि उनके पास कम से कम पचास प्रतिशत छात्र उत्तीर्ण करने के निर्देश हैं; वरना उनकी वार्षिक वेतन वृद्धि रोक दी जाएगी। इसी तरह, 2001 की जनगणना के दौरान, सरकारी शिक्षकों, जिन्होंने गणना का काम किया था, को उनके वास्तविक पढ़ने और लिखने की क्षमताओं की परवाह किए बिना कई लोगों को साक्षर घोषित करने के आदेश दिए गए थे। इस तरह झूठे आँकड़ों के आधार पर इस देश में योजना और अनुसंधान होता है। आश्चर्य नहीं कि गरीबों और हाशिए पर रहनेवाले लोगों की हालातों में कोई सुधार नहीं होता है।

यह समझते हुए कि अच्छी गुणवत्ता की प्रासंगिक शिक्षा एक जन आंदोलन के निर्माण के लिए अनिवार्य है, खेमचेस ने अलीराजपुर के दूरदराज के गांवों में प्राथमिक स्कूलों की स्थापना 1987 में की थी। देवनागरी लिपि में भीली भाषा में पढ़ना, लिखना और अंकगणित सिखाया जाता था। प्रारंभ में, कोई पाठ्यपुस्तकें नहीं थीं। इसके बजाय, शिक्षक और छात्र अपने आसपास के विभिन्न प्रकार के सर्वेक्षण करते थे और फिर परिणामों का विश्लेषण करते थे। इससे प्राप्त जानकारी और समझ का उपयोग भीली में भाषा, अंकगणित, विज्ञान, भूगोल और इतिहास के लिए पाठ्यपुस्तकों को बनाने के लिए किया गया था। शिक्षकों और छात्रों ने मिलकर शिक्षण सामग्री के निर्माण में भाग लिया था। बाद में, हिंदी में सीखने के लिए पुस्तकें उसी तरह विकसित किया गया था।

बाद में, जब 1990 के दशक के मध्य में यह स्पष्ट हो गया कि राजनीतिक संघर्ष की एक सीमा है तब कई कार्यकर्ताओं ने रचनात्मक काम के नए रास्ते तलाशने शुरू कर दिए। अमित और जयश्री शिक्षा सामग्री के व्यवस्थित विकास और सामाजिक रूप से समान और पर्यावरण की दृष्टि से स्थायी समाज की स्थापना के लिए ग्राम-केंद्रित आदिवासी स्व-शासन की विचारधारा के अनुसार एक वैकल्पिक शिक्षाशास्त्र पर ध्यान केंद्रित करने के बारे में सोचा। आदिवासी मुक्ति संगठन के सदस्यों ने इस हेतु

बड़वानी जिले के सेंधवा के पास ग्राम साकर में आधारशिला स्कूल नामक एक प्रशिक्षण केंद्र-सह-विद्यालय की स्थापना किया।

पहले स्कूल चलाने के खेमचेस के अनुभव से पता चला था कि अनपढ़ माता-पिता के आदिवासी बच्चों को प्रभावी ढंग से पढ़ाने के लिए उन्हें नियमित स्कूली शिक्षा के बाद भी अतिरिक्त पढ़ाई की आवश्यकता होती है। चूंकि यह दैनिक स्कूलों में संभव नहीं था, इसलिए आवासीय विद्यालय चलाने का निर्णय लिया गया। माता-पिता को अपने बच्चों की शिक्षा के लिए नकद और अनाज का भुगतान करने के लिए कहा गया ताकि स्कूल आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो सके। इसका मतलब था कि स्कूल को अभिभावकों की अपेक्षाओं के अनुरूप परीक्षाओं में अच्छा प्रदर्शन करने के लिए बच्चों को दक्ष बनाना होगा ताकि बाद में बच्चों को नौकरी मिल सकें। इस प्रकार, पाठ्यक्रम और शिक्षण को बच्चों में आधुनिक विकास के बारे में एक आलोचोनात्मक दृष्टिकोण को विकसित करने के साथ-साथ उन्हें आधुनिक क्षेत्र में नौकरी पाने के लिए कुशल बनाने की आवश्यकताओं का ध्यान रखना था। जाहिर है कि यह एक लंबा क्रम है और इसमें शिक्षकों की ओर से काफी मेहनत और नए काम की जरूरत होती है।

1970 के दशक की शुरुआत में, किशोर भारती संस्था ने स्कूली शिक्षा पर प्रयोग शुरू किया था। स्कूली बच्चों के बीच विज्ञान की शिक्षा को लोकप्रिय बनाने के लिए बच्चों के भौतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण के अनुरूप गतिविधि और खोज आधारित पढ़ाई की शुरुआत की कोशिश की गई थी। बाद में, यह केंद्र और राज्य सरकारों और विभिन्न शैक्षणिक संस्थानों को मिलाकर, होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम नाम से विकसित हुआ। इसके संचालन की समीक्षा के बाद, इसे होशंगाबाद जिले से आगे बढ़ाने का निर्णय लिया गया और इसमें शामिल कुछ लोगों ने 1982 में एकलव्य संस्था की स्थापना की। बाद में, 1986 में सामाजिक विज्ञान शिक्षण में भी काम शुरू हुआ। इस प्रयोग का एक अभिनव पहलू यह था कि इसने सरकारी स्कूल प्रणाली के भीतर काम करने और इसे सुधारने की कोशिश की। पर बाद में मध्य प्रदेश सरकार द्वारा इस कार्यक्रम को बंद कर दिया गया था, मुख्यतः भाजपा के एक स्थानीय विधायक के इशारे पर। यह इस देश का दुर्भाग्य है कि आजादी के सत्तर वर्ष के बाद भी, राजनेता और नौकरशाह शिक्षा की नीति तय करते हैं। इसलिए अधिकतर गरीब नागरिक को, जो गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए पैसे नहीं दे सकते हैं, सरकार द्वारा प्रदान की गई घटिया स्तर की शिक्षा से संतोष करना पड़ता है।

इस बीच, सुभद्रा ने इग्नू पाठ्यक्रम सामग्री को लेकर जूझते रही। उसकी भाषा बहुत क्लिष्ट है, क्योंकि पाठ्यक्रम सामग्री का अंग्रेजी से हिंदी में संस्कृत शब्दों के साथ अनुवाद किया गया है जो हिंदी शब्दकोशों में नहीं पाए जाते है। इस प्रकार, इग्नू पाठ्यक्रम सामग्री को समझना लगभग उतना ही कठिन है जितना कि वेदों के वास्तविक अर्थों को समझना। मुझे न केवल पाठ्यपुस्तकों के अर्थ को समझने में, बल्कि अभ्यासकार्य के लेखन में भी सुभद्रा की सहायता करनी पड़ती थी, जो कि उसी कठिन संस्कृतनिष्ठ हिंदी में लिखी जानी थी। परीक्षाओं के दौरान कठिनाई होती थी। पिछले प्रश्न पत्रों

के एक अध्ययन से पता चला था कि पूछे गए प्रश्नों में कोई पैटर्न नहीं है। इस देश में अधिकांश विश्वविद्यालयों में कुंजी पढ़ कर परीक्षा दी जा सकती है पर इग्नू में ऐसा नहीं किया जा सकता है।

इस सबका अपरिहार्य परिणाम यह था कि प्रारंभिक अवस्था में, सुभद्रा ने ज्यादातर परीक्षाएं बहुत मुश्किल से उत्तीर्ण कीं। कई बार, वह न्यूनतम अंकों को हासिल नहीं कर पाती थी। पर इग्नू में किसी छात्र आठ साल तक तीन साल के पाठ्यक्रम को उत्तीर्ण कर सकती थी इसलिए सुभद्रा असफल परीक्षाओं के लिए पुन: आवेदन कर परीक्षा देती थी। जब सुभद्रा ने लगभग दो साल बाद पढ़ाई और परीक्षा में कुछ महारत हासिल की तो उसने गर्भ धारण कर लिया। सुभद्रा ने कहा कि चूंकि उसने कुछ समय के लिए राजनीतिक काम नहीं करने का फैसला किया था, इसलिए वह बच्चा पैदा करने की सोच ली! हमारा पुत्र ईशान का बड़े होने तक दो साल के लिए उसकी पढ़ाई बंद रही।

इसके बाद, उसने अपनी पढ़ाई फिर से शुरू की और बिना किसी परेशानी के अपने सारी परीक्षाएं उत्तीर्ण की और केवल अंग्रेजी की परीक्षा बच गई। बाकी विषयों के जैसे, इसमें भी, प्रश्नपत्र बेहद कठिन होता था। चूंकि प्रश्न पूरी तरह से अप्रत्याशित थे, इसलिए उन्हें केवल वह छात्र द्वारा सफलतापूर्वक उत्तर दिया जा सकता था, जिनके पास अंग्रेजी भाषा की बहुत अच्छी कमान थी। इसलिए एक साल के अभ्यास के बाद भी यह स्पष्ट था कि सुभद्रा का उत्तीर्ण होना पूरी तरह से संयोग पर निर्भर करेगा। मैंने एक दशक के प्रश्न पत्रों की समीक्षा की और उन विषयों पर निबंधों और संवादों के चार सेट तैयार किए जिनकी मुझे लगा कि आने की सबसे अधिक संभावना है और सुभद्रा ने उन्हें रट ली। अन्य प्रश्नों की कठोरता और अंकों की कम संख्या को देखते हुए, उन्हें अपने पेपर में उत्तीर्ण होने का एकमात्र तरीका यह था कि उनके द्वारा तैयार किए गए विषयों में से एक परीक्षा प्रश्न पत्र पर दिखाई दे।

परीक्षा से पहले सुभद्रा स्वाभाविक रूप से घबरा रही थीं और मुझसे लगातार पूछ रही थीं कि वह उत्तीर्ण होंगी या नहीं। मेरे द्वारा तैयार किए गए विषयों में से एक जो किसी न किसी रूप में सबसे अधिक बार पूछा गया था: "उस व्यक्ति के बारे में लिखें जिसने आपको सबसे अधिक प्रभावित किया है।" मैंने इस विषय के लिए डॉ भीमराव अम्बेडकर पर एक निबंध तैयार किया था। बहुजन समाज पार्टी के सदस्य अक्सर "जय भीम" का उपयोग करते हैं। इसलिए मैंने सुभद्रा से कहा कि वे बाकी सब कुछ भूल जाएं और सिर्फ “जय भीम” को दोहराते रहें जब तक कि उसे प्रश्नपत्र नहीं मिल जाता है और आशा रखे कि वही विषय आएगा, जिस पर वह पहले से तैयार किया हुआ निबंध लिख सकती हैं। उसने यही करना शुरू किया और जब उसने प्रश्न पत्र खोला और सीधे निबंध भाग में गई, तो उसे उसी विषय मिला और वह बाबासाहेब अम्बेडकर पर लिख दी! इस निबंध के बल पर एक जैसे वैसे परीक्षा उत्तीर्ण की और अंत में दाखिला होने के सात साल बाद वह स्नातक हो गई।

इग्नू की परीक्षा उत्तीर्ण करने के उसके संघर्ष ने मुझे इग्नू से यह जानकारी मांगने के लिए प्रेरित किया कि पिछले एक दशक में स्नातक पाठ्यक्रम में उत्तीर्ण होने की अनुपात क्या है। पर दिल्ली के कुछ पत्रकार मित्रों के हस्तक्षेप के बावजूद और प्रमुख सचिव, उच्च शिक्षा को लिखने के बाद भी इग्नू से कोई जवाब नहीं मिला।

जब मैंने सूचना के अधिकार अधिनियम के तहत इग्नू के लोक सूचना अधिकारी को इस बारे में आवेदन किया, तो इस अधिकारी के अधीनस्थ ने एक अस्पष्ट जवाब दिया। मैंने कुलपति को इसके विरुद्ध अपील की जो सूचना अधिकार कानून के तहत इग्नू के लिए नामित अपीलीय प्राधिकारी है, यह इंगित करते हुए कि सार्वजनिक सूचना अधिकारी दंडात्मक कार्रवाई के लिए उत्तरदायी है, जिसने मांगी गई सूचना मुझे नहीं दी है। इसके बाद मुझे चाही गई जानकारी मिली जो काफी चिंताजनक थी।

सन 2002 में, कुल 35,844 छात्रों ने दाखिला लिया था, जिनमें 63.4% महिलाएँ और 36.6% पुरुष थे। अनुसूचित जातियों का अनुपात केवल 6.2% था जबकि जनसंख्या में उनका प्रतिशत पूरे 15% है। अनुसूचित जनजातियों का अनुपात 5.9% था, जबकि कुल जनसंख्या में उनका अनुपात 7% है। उत्तीर्ण होने वाले छात्रों की संख्या 1490 थी, जो नामांकन की तुलना में सिर्फ 4.2% थी। उन छात्रों की संख्या जो निर्धारित समय में पाठ्यक्रम पूरा करने में विफल रहे थे, 2002 तक 21178 तक बढ़ गई थी।

परिणामों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि पुरुष छात्रों की तुलना में उत्तीर्ण होने वाली महिला छात्रों की संख्या काफी कम थी और सफल महिला छात्रों का अनुपात लगभग 30% था, जब कि कुल छात्रों में उनका अनुपात 65% के आसपास था। इसका मतलब यह है कि सुभद्रा जैसी बहुत सारी महिलाएं हैं खराब स्कूली पृष्ठभूमि से जो उन कॉलेजों में प्रवेश लेने में असमर्थ हैं जिन में नियमित उपस्थिति की आवश्यकता होती है। ऐसी महिलायें बहुत आशा के साथ इग्नू में दाखिला ले रहे हैं पर पाठ्यक्रम और परीक्षा की कठिनायी के कारण वे उत्तीर्ण नहीं हो पाती है।

कोई आश्चर्य नहीं कि उत्तीर्ण होने के प्रतिशत के ये आँकड़े, जो आसानी से अधिकांश विश्वविद्यालयों द्वारा उपलब्ध कराए जाते हैं, इग्नू में इतने आसानी से प्रकट नहीं किए जाते हैं! जो सबसे ज्यादा भयावह है, वह यह है कि एक संस्था जो खुद को दुनिया की सर्वश्रेष्ठ दूरस्थ शिक्षा विश्वविद्यालय के रूप में पेश करती है, उसके पास अपने सबसे बुनियादी स्नातक पाठ्यक्रम के लगातार खराब प्रदर्शन की समीक्षा करने की ईमानदारी नहीं है।

जब वंचितों की मदद करने के उद्देश्य से स्थापित उच्च शिक्षा के एक प्रमुख शैक्षणिक संस्थान द्वारा इस प्रकार बर्ताव किया जा रहा है, तो आदिवासियों और दलितों और विशेष रूप से उनकी महिलाओं के लिए शिक्षा प्राप्ती के क्या आशा है?

अध्याय 27 – धरती माता की लूट

पारंपरिक आदिवासी विश्वदृष्टि और आधुनिक मनुष्यों के बीच की खाई मैक्सिको की एक कहानी से बखूबी स्पष्ट होती है। वहाँ एक आदिवासी था, जो जड़ी बूटियों से तैयार किए गए रंगों में रंगे हुए बांस के टोकरियाँ बुनता था। इन टोकरियों को देखकर एक अमेरिकी व्यवसायी ने तुरंत उनमें चॉकलेट भरकर न्यूयॉर्क में बेचने के लिए सोचा। चूँकि टोकरियाँ एक पैसे के हिसाब से बिक रही थीं, इसलिए उन्होंने बहुत लाभ कमाने की उम्मीद से आदिवासी को रियायती मूल्य पर दस हजार टोकरियाँ बुनने को कहा। कुछ विचार के बाद, आदिवासी ने उत्तर दिया कि वह टोकरियों को सौ रुपये प्रति नंग के हिसाब से बेचेगा। जब अमेरिकी ने चौक कर पूछा कि वह इतनी अधिक कीमत क्यों लगा रहा है, तो आदिवासी ने जवाब दिया कि इतने कम समय में दस हजार टोकरी बनाने में बांस और जड़ी बूटी सब हमेशा के लिए समाप्त हो जाएगा और वह अपनी आजीविका खो देगा। तो इस स्थायी नुकसान के लिए, उसे अधिक कीमत वसूलनी होगी।

आदिवासियों के इस बेहतरीन पर्यावरणीय तर्क को नजर अंदाज कर आधुनिक मनुष्य जबरन उन प्राकृतिक संपदा से उन्हें दूर करने में लगे हुए है, जिन्हें वे इतनी समझदारी से संवारा है। इन प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग भविष्य के परिणामों की उपेक्षा कर आधुनिक औद्योगिक विकास में लापरवाही से किया जाता है। पिछली चार शताब्दियों से, इस विनाशकारी आधुनिक विकास को बनाए रखने के लिए जिम्मेदार दो महत्वपूर्ण कारक है बढ़ी हुई आबादी के लिए पर्याप्त मात्रा में सस्ते भोजन की आपूर्ति और उद्योग और व्यापार की बढ़ती जरूरतों के लिए प्राकृतिक संसाधनों का बेतहाशा दोहन। सबसे महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधन जीवाश्म ईंधन है, जो उन मशीनों को चलाने के लिए ऊर्जा प्रदान करते थे जो मानव श्रम की उत्पादकता में जबरदस्त वृद्धि करते थे। कच्चे तेल और प्राकृतिक गैस अब प्राकृतिक संसाधनों में सबसे महत्वपूर्ण हो गए हैं, क्योंकि वे न केवल ऊर्जा के मुख्य प्रदाता हैं, बल्कि प्लास्टिक, फाइबर, रासायनिक उर्वरक, कीटनाशक और दवाओं जैसे विभिन्न उत्पादों के लिए कच्चे माल भी हैं जो आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था के लिए अपरिहार्य हो गए हैं। इस प्रकार, पूरे बीसवीं सदी में मूल रूप से कच्चे तेल के भंडार के नियंत्रण के लिए लड़े गए कई युद्ध देखे गए हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका ने भारी मात्रा में अपने यूरोपीय सहयोगियों को अनाज और हथियारों की बिक्री कर बहुत मुनाफा कमाया। युद्ध के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका में एक सशक्त सैन्य-औद्योगिक-कृषि आधारित अर्थव्ययस्था स्थापित हो गया जो उसके बाद के युग में ढह सकता था क्योंकि यूरोप और जापान की अर्थव्यवस्थाएं युद्ध में जर्जर हो गई थी। इन अर्थ व्यवस्थाओं को फिर से खड़ी करने की जरूरत थी इसलिए, संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा अपने सहयोगियों और पराजित शक्तियों को विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए एकमुश्त अनुदान दिए गए। प्रत्यक्ष साम्राज्यवाद के बदले व्यापार पूँजीवादी विकास का नया माध्यम बना। भारत सहित कई देशों को धीरे-धीरे आजादी दी गई और उन्हें यह बताया गया कि वे पूंजीवादी दुनिया के विकसित देशों की तुलना में विकास के निचले स्तर पर है। उन्हें कहा गया कि वह उनकी

अर्थव्यवस्थाओं को खोल दें और विकसित पूंजीवादी राष्ट्रों द्वारा निर्धारित किए जा रहे विश्व बाजार में उच्च उपभोग का विकास का मार्ग अपनाएंगे तो कुछ ही समय में वह भी विकसित हो जाएंगे। विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ) और टैरिफ और व्यापार पर सामान्य समझौता पर सामान्य समझौता (जीएटीटी), जो बाद में 1994 में विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) बन गया, को इसकी देखरेख करने के लिए स्थापित किया गया था। पूँजीवादी विश्व व्यवस्था को फिर से तैयार किया गया और यह सुनिश्चित किया गया कि मानव और प्राकृतिक संसाधनों का दोहन बेरोकटोक जारी रहे।

प्रारंभ में, युद्ध के तुरंत बाद, अमरीका को बड़े पैमाने पर उसके युद्ध-उन्मुख उद्योग और कृषि के उत्पादन को साधारण अर्थव्यवस्था में तब्दील करने की समस्या का सामना करना पड़ा था। यह एक ओर बख्तरबंद वाहनों के बजाय असैनिक कारों, ट्रकों, विमानों और मालवाहक जहाजों को बनाकर और दूसरी ओर विस्फोटक विनिर्माण इकाइयों को उर्वरक और कीटनाशक उत्पादक इकाइयों में परिवर्तित करके किया गया था। जाहिर है इतनी सारी कारें, प्लेन और जहाज और इतने उर्वरक और कीटनाशक अकेले अमेरिकियों द्वारा उपयोग में नहीं लिए जा सकते है। इसलिए कारों और निजी जेट से सज्जित उपभोक्तावादी जीवन शैली और प्रसंस्कृत मांस और अनाज का भारी भोजन दुनिया भर में फैला दिया गया था और इन उत्पादों के लिए एक विश्व बाजार बनाया गया था। मवेशी मनुष्यों की तुलना में बहुत अधिक अनाज खा सकते हैं और इसलिए विकसित दुनिया के लोगों को मांस खाने के लिए प्रोत्साहित किया गया था और गरीब देशों के लोगों को, उनके मवेशियों के साथ, उर्वरकों और कीटनाशक के बढ़ते उपयोग के परिणामस्वरूप उत्पादित अतिरिक्त अनाज खिलाया गया था । एक महत्वपूर्ण विकास अमेरिकियों के इशारे पर दुनिया भर में सोयाबीन को अपनाना था। विकासशील देशों को सहायता देकर अमरीका अपने निर्यात और खेती को आगे बढ़ाया ताकि गोमांस उत्पादन के लिए सस्ते फ़ीड उपलब्ध किया जा सके और इसके प्रसंस्करण के लिए सस्ते खाद्य तेल को तैयार किया जा सके। इस प्रकार, एक कृत्रिम रूप से अत्यधिक उत्पादक और पर्यावरण की दृष्टि से विनाशकारी कृषि प्रणाली स्थापित की गई थी दुनिया भर में। यह बड़े पैमाने पर सरकारी अनुदान द्वारा समर्थित था। पूंजीवादी विकास का स्वर्ण युग, 1950 और 1960 के दशक में मोटोरवाहन और गोमांस के उत्पादन और बिक्री पर फलफूल रहा था।

1970 के दशक में इस खुशहाली का अंत हो गया। सबसे पहले, जीवविज्ञानी राचेल कार्सन ने 1962 में पहली चेतावनी देते हुए बताया कि किस तरह से रसायनों और विशेष रूप से कीटनाशकों से पर्यावरण और स्वास्थ्य को भारी खतरा पैदा हो रहा था। इसने आधुनिक पर्यावरण आंदोलन को जन्म दिया और गंभीर रूप से आधुनिक विकास पर सवाल उठाया। 1970 के दशक के प्रारंभ में पर्यावरणीय प्रदूषण के खिलाफ हुए जबरदस्त जन प्रदर्शन ने इसे एक ज्वलंत मुद्दा बना दिया। पर्यावरण पर पहला संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन स्वीडन के स्टॉकहोम शहर में 1972 में आयोजित किया गया था। दूसरी बात, प्राकृतिक संसाधनों की सीमित चरित्र उजागर हो गया क्योंकि अरब कच्चे तेल उत्पादक देशों ने 1974 में तेल की कीमतों में चार गुना वृद्धि की। इसने इतना बड़ा धक्का दिया कि पूंजीवादी विश्व अर्थव्यवस्था एक गहरी मंदी में चली गई।

आधुनिक मनुष्यों को इसके बाद से लगातार पर्यावरणीय निरंतरता और आधुनिक विकास के बीच द्वन्द का सामना करना पड़ रहा है। चूँकि बहुराष्ट्रीय कंपनियां और दुनिया के अमीर लोग पर्यावरणीय निरन्तरता स्थापित करने से इनकार कर रहे हैं इसलिए अन्य सभी लोग बिना सोचे समझे उसे राह पर चल रहे है।

इन सबका भारतीय कृषि और उस पर निर्भर करोड़ों लोगों पर विनाशकारी प्रभाव पड़ा है। भारत में अधिकांश किसान छोटे भूखंडों पर खेती करते हैं जो पानी फेर कर सिंचाई के लिए अनुपयुक्त है और परंपरागत रूप से लाभ के बजाय निर्वाह के लिए उत्पादन करते आए है। हजारों वर्षों में, उन्होंने कृषि की एक प्रणाली विकसित की है जो बीज, जैविक उर्वरक, मिट्टी की नमी और प्राकृतिक कीट प्रबंधन के साथ स्थानीय रूप से उपलब्ध संसाधनों का सबसे अधिक उपयोग करती है। आधुनिक जैविक खेती के प्रणेता सर अल्बर्ट हॉवर्ड, जिन्होंने अपना अधिकांश काम इंदौर में किया था, कुछ करीब अस्सी साल पहले कहा था, "भारत के छोटे खेतों में आज जो हो रहा है ... कई सदियों पहले से हो रहा है। प्राच्य की कृषि पद्धतियों ने सर्वोच्च परीक्षा उत्तीर्ण की है, और स्थायी हैं।" विभिन्न प्रकार की फसलों के मिश्रण के चतुर उपयोग ने यह सुनिश्चित करता था कि बाढ़ और सूखे के बावजूद, फसल का कुछ हिस्सा हमेशा बचा रहता था। अकाल पड़ने का कारण कृषि की विफलता नहीं बल्कि सामाजिक-आर्थिक कारक थे जैसे कि राजाओं और औपनिवेशिक शासकों द्वारा लगाए गए अत्यधिक लगान या साहूकारों द्वारा सूदखोरी और जमाखोरी। प्राचीन काल से, पूरे विश्व में कृषि के विकास पर अत्यधिक करों और सूदखोरी एक गंभीर बाधा रहा है। भारत में, यह समस्या और भी तीव्र हो गई क्योंकि अंग्रेजों ने साहूकार को ही कर-संग्रहकर्ता बना दिया। एक भीली कहावत इस तरह है, "मुझे साहूकार से इतना प्यार है कि मैंने उसका पेट मोटा कर दिया है।"

भारत में आजादी के बाद जरूरत थी पारंपरिक कृषि के विकास की राह में आने वाली बाधाओं को दूर करना और इसे और अधिक अनुसंधान, व्यापक भूमि सुधार, सस्ते संस्थागत ऋण और बाजार समर्थन के साथ मजबूत करना। अध्ययनों से पता चला है कि भारत की स्वदेशी कृषि पद्धतियां, जो सदियों से किसानों द्वारा सँवारी गई हैं, उच्च उपज देने वाले संकर बीज और कृत्रिम इनपुट आधारित हरित क्रांति कृषि के बराबर उत्पादक हैं। लेकिन ऐसा नहीं हुआ क्योंकि 1930 के दशक के बाद से अमेरिकियों ने औद्योगिक कृषि के एक नए प्रारूप जिसमें संकर बीज, उर्वरक, कीटनाशक, बड़े बांध से सिंचाई और मशीनों का उपयोग को शामिल कर तैयार किया था और उसे बड़े पैमाने पर सरकारी अनुदान के साथ कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए लागू किया गया। अंततः इसका लाभ उन व्यावसायिक निगमों को मिला जिन्होंने न केवल इस खेती की जरूरतों की आपूर्ति की, बल्कि अधिकांश खेतों के स्वामित्व भी इनके पास थे और कृषि उत्पादों के कारोबार भी करते थे। इसलिए, किसानों को मिलने वाली कीमतें कम रह गईं, और किसान धीरे-धीरे अपनी ज़मीनें बेच कर बेरोजगार हो गए और अन्य कामों में लग गए।

अमेरिकी बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा स्थापित अनुसंधान संस्थाओं के इशारे पर और विश्व बैंक द्वारा प्रदान की गई वित्तीय सहायता के साथ इससे पहले भारत को अमेरिकी गेहूं के निर्यात से प्राप्त धन,

जो इस उद्देश्य के लिए निवेश किया गया, को मिलाकर अमेरिकी कृषि पद्धति को हरित क्रांति के रूप में बढ़ावा दिया गया था 1960 के दशक के अंत में। गेहूँ और चावल की विदेशी संकर किस्मों को देश में कुछ ही क्षेत्रों में लगाया गया था, जिससे अन्य क्षेत्र वंचित रह गए। अमेरिकियों ने भारत सरकार को उन भारतीय कृषि वैज्ञानिकों को दरकिनार करने के लिए मजबूर किया जिन्होंने स्वदेशी प्रजातियों का विकास किया था और विदेशी संकरों का विरोध किया था। कृषि का यह आधुनिक रूप अब दुनिया भर में समस्याग्रस्त हो गया है और इसे इसके लिए आवश्यक रासायनिक तत्वों का उत्पादन करने वाले बहुराष्ट्रीय कंपनियों को सरकारी अनुदान देकर ही बरकरार रखा जा सकता है। इस तरह, कृषि क्षेत्र में विकासशील देशों के बेहतर स्थिति को न केवल खराब किया गया है, बल्कि इस प्रकार प्राप्त जो अतिरिक्त उत्पादन होता है उसे उन देशों में भेज दिया जाता है, जिससे उनकी कृषि में स्वनिर्भरता खत्म हो जाती है।

कृत्रिम रसायनों से कृषि में मुख्य समस्या यह है कि कृत्रिम रसायनों के लिए एक प्राकृतिक सीमा है जो मिट्टी बर्दाश्त कर सकती है; इसलिए खाद, कीटनाशक और सिंचाई का पानी की मात्रा बढ़ती रहती है, जबकि पैदावार घटती रहती है। कई बार, फसल पूरी तरह से चौपट हो जाती है। नतीजतन, आर्थिक लागत में वृद्धि होती रहती है, जबकि बाजार में कृषि उत्पादों के मूल्य उस गति से नहीं बढ़ती है। यह अनिवार्य रूप से किसानों को साहूकारों और चक्रवृद्धि ऋण के चंगुल में फँसने की ओर ले जाता है। यह संकट अब गंभीर हो गया है, जिसके कारण हजारों किसान आत्महत्या कर रहे हैं, अपनी जमीन, मकान और यहां तक कि गुर्दा भी बेच रहे हैं। अधिकतर किसानों ने खेती छोड़ने और अन्य व्यवसायों को करने की इच्छा व्यक्त की है।

प्राकृतिक जैव-विविधता के निरंतर नुकसान, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथों में अनाजों के जीनों का केंद्रित होना और उनके द्वारा जीवों का पेटेंट कराने के कारण एक ऐसा परिदृश्य पैदा हो गया है, जिसमें पृथ्वी का भविष्य बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लालच के कारण खतरे में है। हालांकि अमेरिकी गोमांस के अधिक सेवन से मोटे हो गए हैं और इसके परिणामस्वरूप कई शारीरिक और मानसिक विकार से पीड़ित हैं पर मध्य प्रदेश में भील आदिवासी उसी अनुपात में कुपोषित हो गए हैं। देसी अनाज और दालों के बोवनी में कमी के साथ, जो कि सोयाबीन और ग्रामीण अर्थव्यवस्था के अधिक विमुद्रीकरण द्वारा प्रतिस्थापित किया गया है, सीमांत आदिवासी किसानों को बाजार से अपना भोजन खरीदना पड़ता है। इससे उनके पोषण का स्तर स्वस्थ मानकों से कम हो गया है।

हरित क्रांति कृषि को अपनाने से उत्पन्न सबसे बड़ी समस्या पानी की बढ़ती कमी है। भारत में सिंचाई के लिए आवश्यक अधिकांश पानी भूजल से प्राप्त किया जा रहा है। इससे जल खनन की स्थिति पैदा हो गई है, जिसमें गत दो दशक के अंतराल में सैकड़ों वर्षों से भूमी में एकत्रित पानी का उपयोग किया गया है। देश का बड़ा हिस्सा 1990 के दशक से भूजल सूखे का सामना कर रहा है। जब से न केवल सिंचाई के लिए, बल्कि पीने के लिए भी भूजल उपलब्धता में लगातार कमी आई है। क्योंकि भूजल स्तर नीचे जा रहा है इसलिए उसका निष्कर्षण की लागत लगातार बढ़ रही है। पर बड़े बांध पर्यावरणीय और सामाजिक रूप से हरित क्रांति के सबसे हानिकारक घटक हैं और हाल के वर्षों

में इनकी गंभीर आलोचना की गई हैं। विकसित देशों में, बांध के निर्माण को पूरी तरह से रोक दिया गया है और साथ ही कई बांधों को पर्यावरणीय क्षति को सीमित करने के लिए तोड़ दिए गए हैं।

दुनिया भर में, पारिस्थितिक कृषि और जल ग्रहण क्षेत्र विकास संयुक्त रूप से आधुनिक कृषि के हानिकारक प्रभावों की प्रतिक्रिया के रूप में सामने आये है। यह आंदोलन सैद्धांतिक रूप से प्रकृति के साथ तालमेल बनाकर उसकी धीमी गति के साथ विकास की विचारधारा से प्रेरित है। कई स्थानीय प्रयासों ने जल संसाधन विकास के लाभों और लागतों के वितरण में असमानता और कृषि की गंभीर समस्याओं से उबरने के लिए व्यवहारिक समाधानों को ढूंढ लिया है। पश्चिमी मध्य प्रदेश क्षेत्र में भी, कई ऐसे सफल स्थानीय प्रयोग हुए हैं। परियोजना निर्माण और कार्यान्वयन में गरीब लोगों को शामिल करने वाले जलग्रहण विकास कार्यक्रमों से स्थायी कृषि का खाका तैयार किया गया है। परंतु सरकार द्वारा इन प्रयासों का व्यापक तौर पर फैलाने का काम नहीं किया जा रहा है।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोश के कहने पर विकासशील देशों द्वारा अपनाई गई संरचनात्मक समायोजन नीतियों की विफलता के कारण 1980 के दशक में बढ़ती गरीबी की वास्तविकता को यह संस्थाएं छिपा नहीं पा रही थी। इससे विश्व बैंक ने इन नीतियों की समीक्षा की और उन तरीकों की खोज की, जिन से "न्याय के साथ विकास" को सुनिश्चित किया जा सके और गरीबी को मिटाया जा सके। एक बड़ी विफलता यह थी कि गरीबी में रहने वालों की ऋण की जरूरतों को पूरा करने के लिए बैंकों और सहकारी समितियों जैसे वित्तीय संस्थानों अक्षम थी। इस कारण ऋण वितरण के वैकल्पिक साधनों की खोज की गई। बांग्लादेश और इंडोनेशिया में गरीबों को ऋण की आसान पहुँच प्रदान करने में कुछ पहल की प्रारंभिक सफलता को विश्व बैंक द्वारा दुनिया भर में दोहराया जाने लगा। 1990 के दशक की सूक्ष्म वित्त योजनाएं इस प्रकार फैल गई।

दुनिया भर में सूक्ष्म वित्त के संचालन के अनुभव से पता चला है कि गैर-सरकारी संगठनों की उचित मध्यस्थता के साथ, यह लेन-देन की लागत को कम कर संस्थागत ऋण वंचित गरीब आबादी तक पहुंचाता है और इसलिए उनकी आर्थिक अक्षमता को कम करता है। हालाँकि, यदि स्वयं सहायता समूहों के गठन और संचालन में गैर-सरकारी संगठनों द्वारा इस महत्वपूर्ण मध्यस्थता की लागत, जो वर्तमान में अनुदान द्वारा प्राप्त की जा रही है, को जोड़ा जाता है तो सूक्ष्म वित्त उतना कारगर नहीं हो पाएगा। अनुदान के बिना सूक्ष्म-वित्त की दीर्घकालिक सफलता संदेह में है। सूक्ष्म वित्त समूहों के सदस्यों का गैर-सरकारी संगठनों और उनके प्रायोजकों पर बहुत कम नियंत्रण है। उचित विनियमन के बिना बेईमान गैर-सरकारी संगठनों और गैर-बैंकिंग वित्तीय कंपनियों द्वारा गलत तरीके से धनराशि को गबन करने की बात सामने आई है।

हरित क्रांति कृषि को विश्व बैंक और केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा बड़े पैमाने पर प्रचारित करना और धन उपलब्ध कराने का परिणाम यह रहा है कि इस देश का सामान्य किसान अधिक टिकाऊ कृषि विकल्प को अपनाने में असमर्थ हैं। 1999 में जेपरा में अपनी पैतृक भूमि के हिस्से को हासिल करने के बाद, सुभद्रा ने उस पर स्वादिष्ट, पौष्टिक और सुगंधित दुबराज चावल की खेती को पुनर्जीवित करने का फैसला किया।

पहली फसल आने के बाद, मैंने चावल के दो बोरे अपने साथ इंदौर ले आया। जब मैं रायपुर से बस से उतरा और इन बोरियों को साइकिल रिक्शा पर लाद दिया रेलवे स्टेशन पर ले जाने के लिए तो रिक्शा चालक ने मुझसे कहा "बाबूजी, आपके पास इन बोरियों में दुबराज चावल हैं।" मुझे आश्चर्य हुआ क्योंकि दो बोरियों में चावल को भरा गया था और कोई बाहरी संकेत नहीं था कि उनमें चावल है। इसलिए जब मैंने रिक्शा चालक से पूछा कि उसे कैसे पता चला तब उसने जवाब दिया कि उसने चावल की सुगंध को सूंघा था। मेरे शहरी बन्द नाक को जो सुगंध नहीं मिल रहा था वह इस रिक्शा वाला को मिल गया। वह विलाप करने लगा कि उसने एक समय अपनी जमीन पर दुबराज चावल उगाता था लेकिन कर्ज के कारण उसे जमीन बेचने के लिए मजबूर होना पड़ा और अब वह रिक्शा को जीविका के लिए खींच रहा था। बहुत से लोगों ने इसलिए दुबराज को नहीं बोते है क्योंकि इसकी उपज कम थी। रिक्शावाले ने सोचा होगा कि मेरे जैसे शहरी बुरबक को यह चावल कैसे मिला। उसे नहीं पता था कि मेरी शादी एक ऐसे व्यक्ति से हुई थी जो धरती माता की बेटी है! दुर्भाग्य से, बाद के वर्षों में, सुभद्रा अपनी खेती की देखरेख करने के लिए नियमित रूप से जेपरा नहीं जा सकीं, और उनके भाई ने तुरंत दुबराज को तिलांजली देते हुए एक संकर किस्म को बोने लगा। बाजार ने भारत के कृषि और ग्रामीण समाज को इस प्रकार नष्ट किया है।

एक पारिस्थितिक रूप से टिकाऊ कृषि पर वापस जाने से ग्रामीण गरीबों को अच्छे जीवन यापन के लिए पर्याप्त आजीविका के अवसर मिलेंगे और साथ ही बहुसंख्यक लोगों की जरूरतों को पूरा करने वाला विकास को स्थापित किया जा सकेगा। इस प्रकार वर्तमान की तुलना में बहुत अधिक शांतिपूर्ण दुनिया सुनिश्चित करेगा और सैन्य और पुलिस पर दुनिया भर में होने वाले भारी और बेकार खर्चों को कम करेगा। हालांकि, ऐसा होने की उम्मीद करना उतना ही दूर का सपना है, जितना वास्तव में इस अध्याय की शुरुआत में वर्णित मैक्सिकन आदिवासी को खोजना।

आधुनिक विकास के चलते पिछले तीन शताब्दियों से तेज गति से धरती मां को लूटने का सिलसिला जारी है जिसमें साथ ही करोड़ों लोगों की हत्या हुई हैं, या तो सीधे युद्ध के माध्यम से, या परोक्ष रूप से रोजगार और भोजन की कमी के कारण से। पूंजीपति अत्यधिक चतुर हैं और गैर सरकारी संस्थाओं को वित्तपोषित कर कुछ टुकड़े फेंक देते हैं, जिससे वे विरोध करने वालों को खरीद लेते है। पर प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन और जैवमंडल के प्रदूषण के कारण अब पूंजीवादी औद्योगिक विकास की दो बुनियादी आवश्यकताओं, सस्ते भोजन और औद्योगिक कच्चे माल की पर्याप्त और सुनिश्चित आपूर्ति, को खतरा उत्पन्न हो गया है। चूंकि प्रकृति को घूस देकर खरीदा नहीं जा सकता है, इसलिए कृषि में शुरू हुई पर्यावरणीय संकट अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में फैल रही है, जिससे एक ऐसी स्थिति पैदा हो रही है जिसमें मानव जाति का भविष्य खतरे में है। वह समय दूर नहीं जब धरती मत उसके पास से लूटा गया सारा खजाना वापस लेना शुरू कर देगी।

अध्याय 28 – दिवास्वप्न का अंत

“बार-बार सुनकर जो ज्ञान हासिल किया गया है, उस को मत मानो; न परंपरा को; न ही अफवाह को; न किसी शास्त्र को; न किसी अंदाज को; न किसी नियम को; न ही किसी ऊलजलूल तर्क को; न किसी पूर्वाग्रह को; न ही किसी दूसरे की कुशलता पर; न ही इस विचार को कि, 'महोदय हमारा शिक्षक है'। केवल जब आप खुद जान लेते हैं, 'ये चीजें अच्छी हैं; ये चीजें निंदनीय नहीं हैं; इन चीजों की प्रशंसा बुद्धिमान करते हैं; आजमाने पर, ये चीजें लाभ और खुशी की ओर ले जाती हैं”, तब उनका पालन करें। "

- गौतम बुद्ध

"उस सूक्ष्म क्षण में जब मनुष्य इस जीवन में पीछे की ओर झांकता है, सिसिफस अपनी चट्टान की ओर लौटते हुए उनकी यादों द्वारा समन्वित उन असंबंधित क्रियाओं की श्रृंखला पर विचार करता है जो जल्द ही उसकी मृत्यु के साथ खत्म होनेवाली उसके द्वारा बनायी गई उसकी किस्मत है। वह आश्वस्त है कि मानवता की उत्पत्ति पूरी तरह से मानवीय है और देखने के लिए उत्सुक एक अंधा आदमी की तरह वह जानता है कि इस रात का कोई अंत नहीं है और इसलिए वह उसका काम में लगा हुआ है। वह चट्टान को अभी भी पहाड़ी पर चढ़ा रहा है। मैं सिसिफस को पहाड़ी के नीचे छोड़ देता हूं। कोई भी व्यक्ति हमेशा उसका अपना बोझ को ढूंढ लेता है। लेकिन सिसिफस उस उच्च निष्ठा को सिखाता है जो देवताओं की उपेक्षा करता है और चट्टानों को उठाता है। वह यह भी निष्कर्ष निकालता है कि यह सब ठीक है। बिना किसी स्रष्टा और संचालक के यह ब्रह्मांड उसे न तो निष्फल लगता है और न ही निरर्थक। उस चट्टान के हर परमाणु और उस रात भरा पहाड़ के हर परत, अपने आप में एक दुनिया है। ऊंचाइयों की ओर पहुँचने का संघर्ष ही एक आदमी के दिल को खुश करने के लिए पर्याप्त है। हमें मानना होगा कि सिसिफस खुश है।“

- एलबर कामू

अपनी युवावस्था में मैं रूमानी सपने देखने वाले रुबाशोव से, बीसवी शताब्दी के कथा साहित्य के सबसे दुखद चरित्रों में से एक, बहुत प्रभावित था। वह रूसी लेखक आर्थर कोएस्लर के उपन्यास "डार्कनेस एट नून" के केंद्रीय चरित्र था और उसके बारे में पढ़कर मैं गरीबों की स्थिति में सुधार के लिए कुछ करने का सपना देखना शुरू किया और अंततः अलीराजपुर पहुँच गया।

दार्शनिकों और प्रगतिशील राजनीतिक कार्यकर्ताओं की दिवास्वप्न देखने की यह प्रवृत्ति मनुष्य के मानस का एक पक्ष है जिसके तहत मनुष्य अपने अस्तित्व का अर्थ निकालने का प्रयास करता है। अक्सर लोग व्यवस्थावादी धर्म और मिथकों का सहारा लेते है पर कुछ लोग बदलाव के रास्ते पर चलते है। पर स्वप्न देखने वालों से अलग एक और समूह है प्रकृतिवादियों का जिन्होंने सदियों से देवों के अस्तित्व या प्रकृति में किसी उद्देश्य होने को नकारकर मानव स्वतंत्रता की बात किए है।

निजी संपत्ति की उत्पत्ति के बाद उसे संरक्षित और संवर्धित करने के लिए राज्य व्यवस्था का निर्माण हुआ और राज्य के दमनकारी संस्थानों, विवाह और पितृसत्ता को वैधता प्रदान करने के लिए संगठित

धर्म और अध्यात्मवाद की शुरुआत हुई। महान यूनानी दार्शनिक सुकरात ने इस परंपरा को तोड़ा और इसके बजाय तर्क पर आधारित प्रकृतिवाद को तवज्जो दिया। सुकरात के एक अन्य छात्र, एंटिसथेनेस ने न केवल इस महत्वपूर्ण परंपरा को आगे बढ़ाया, बल्कि इसे सिनोप के डायोजनीज को सौंप दिया, जिसने इसे एक निश्चित दार्शनिक रूप दिया। डायोजनीज ने दोनों भगवानों के खिलाफ मोर्चा खोलते हुए जोर देकर कहा कि मनुष्य को प्रकृति के साथ मिलकर कठोर श्रम का जीवन व्यतीत करना चाहिए और संपत्ति संचय करने से बचना चाहिए। डायोजनीज को पहले जागरूक नास्तिक पारिस्थितिक अराजकतावादी कहा जा सकता है।

भारत में चार्वाक नाम से प्रसिद्ध भौतिकवादी दार्शनिकों की एक लंबी कतार है जो वैदिक काल में अध्यात्मवाद का विरोध कर रहे थे। उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व और पुनर्जन्म के सिद्धांत का खंडन किया और जोर देकर कहा कि प्रार्थनाओं में समय बर्बाद करने के बजाय, लोगों को प्रकृति के साथ सामंजस्य बिठाकर जीवन जीने में व्यस्त होना चाहिए। सुकरात से लगभग एक सदी पहले बुद्ध ने भी अध्यात्मवाद को बहुत बड़ी चुनौती दी। उन्होंने कहा कि मनुष्यों के सभी दुख उनकी इच्छाओं से उत्पन्न हुए हैं। अनादिकाल से असंख्य लोगों की इच्छाओं ने कारण और प्रभाव के एक जटिल जाल को जन्म दिया, जिस में लोग फंसे है। कोई ईश्वर नहीं है जो मनुष्य की नियति को नियंत्रित करता है; इसके बजाय उन्हें अपनी इच्छाओं और जीवनशैली में लगाम लगाना चाहिए यदि वे अपने कष्टों को समाप्त करना चाहते हैं। इस अध्याय की शुरुआत में उद्धृत सच्चे ज्ञान का पहचान करने की उनकी कसौटी आज भी नायाब है। हालांकि, बुद्ध की मृत्यु के बाद धीरे-धीरे उनके अनुयायियों के बीच आध्यात्मिकता हावी हो गई और वे बुद्ध को भगवान बना दिया। उसके चारों ओर हर तरह के मिथक बन गए और बौद्ध धर्म संगठित रूप ले लिया।

एक और महान प्रकृतिवादी और बुद्ध के समकालीन, चीनी दार्शनिक लाओ त्ज़ु इस विचार को प्रतिपादित किया कि मूल प्राकृतिक सिद्धांत ताओ पर मानव इच्छाओं को लागू किए बिना उसे स्वतंत्र रूप से चलने देना चाहिए। उनका एक अराजकतावादी उद्धरण इस प्रकार है:

लोग क्यों भूखे मर रहे हैं?
क्योंकि शासक अधिक कर वसूलते हैं।
इसलिए लोग भूखे मर रहे हैं।
लोग क्यों विद्रोह कर रहे हैं?
क्योंकि शासक बहुत ज्यादा हस्तक्षेप करते हैं।
इसलिए वे विद्रोही हैं।
लोग मौत को कम क्यों समझते हैं?
क्योंकि शासक उनके जीवन से अधिक माँग करते हैं।
इसलिए लोग जीवन को हल्के में लेते हैं।

प्राचीन काल के यह प्रारंभिक नास्तिक प्रकृतिवाद को जल्द ही दुनिया भर में संगठित धर्म के नीचे दफनाया गया, जो मनुष्य की लालच को और उससे प्राप्त धन को सुरक्षित करने के लिए स्थापित

दमनकारी राज्य संरचना को दैविक वैधता प्रदान किया। इस व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह की किसी भी संभावना को रोकने के लिए प्रगतिशील सोच को बेरहमी से दबा दिया गया। इस धार्मिक कट्टरपन का प्रमुख शिकार विज्ञान था। प्रेक्षित वास्तविकता की तर्कसंगत व्याख्या पर आधारित विज्ञान ने यूनानियों के समय में अच्छी प्रगति की थी। पर एक बार ईसाई धर्म जब संगठित रूप ले लिया तो विज्ञान को दर किनार कर दिया गया और इसके बजाय कई शताब्दियों तक धार्मिक मिथक और अंधविश्वासों का बोलबाला रहा। जिसमें प्रमुख यह था इक पृथ्वी ब्रह्मांड का केंद्र है और इसलिए सूर्य उसके चारों ओर घूमता है।

अंततः पोलैंड के वैज्ञानिक कोपर्निकस ने अपने शोधों से इस अंधविश्वास को तोड़ा और कहा कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमता है। इतालवी वैज्ञानिक गैलीलियो ने जब कोपर्णिकस का समर्थन किया तो धरम गुरुओं ने उस को मौत की सजा सुनाने की धमकी दी और उसे इस विचार को वापस लेने के लिए मजबूर किया। पर इसके बाद विज्ञान का रुका हुआ विकास चल पड़ा और धार्मिक रूढ़िवाद का वर्चस्व कम होने लगा। इसका असर राजनीति में भी हुआ जहां राजाओं के दैविक अधिकारों के विरुद्ध उदारवादी व्यक्ति स्वतंत्रता के विचार जोर पकड़ने लगा। फ्रांसीसी तर्कवादी विचारक वोल्टेयर ने शानदार सामाजिक-राजनीतिक व्यंग्य से धार्मिक और राजयिक एकतंत्र प्रहार किया। वोल्टेयर ने जीवन भर न केवल धार्मिक रूढ़िवाद के खिलाफ लड़ाई लड़ी, बल्कि वह भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के भी पक्षधर थे, जो लोकतांत्रिक व्यवस्था की सबसे बुनियादी आवश्यकता है। यह उसकी इस मशहूर कथन से मालूम पड़ता है कि "हो सकता है कि मैं आपके कथन से सहमत नहीं हो, लेकिन मैं आपके ऐसा कहने का अधिकार की मरते दम तक रक्षा करूंगा।"

हालांकि, इसके बाद यह तार्किक परंपरा को उलट दिया गया। एक और फ्रांसीसी दार्शनिक रूसो ने राजनीतिक दर्शन में राज्य का वर्चस्व को वापस स्थापित किया। उन्होंने तर्क दिया कि यदि लोग प्रकृति से प्राप्त स्वतंत्रता को कम कर एक सामाजिक अनुबंध के लिए राजी होतो तो वे एक दूसरे का सहयोग करेंगे क्योंकि इस तरह की व्यवस्थित समाज में एक सामान्य इच्छाशक्ति होती है जो समाज के भले के लिए काम करती है, न कि किसी एक व्यक्ति के लिए और इसलिए समाज विरोधी व्यक्तिगत हित समाप्त हो जाएंगे। लगभग उसी समय, ब्रिटिश अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ने इसी तरह की अवधारणा को अर्थव्यवस्था के लिए पेश किया कि एक अदृश्य हाथ बाजारों को इस प्रकार नियंत्रित करता है कि सभी का बहाल हो। इसी प्रकार जर्मन दार्शनिक कांट ने कहा कि एक ऐसा पूर्ण और सर्वोच्च आंतरिक नैतिक कानून है जो मानवता की परम भलाई के लिए समाज को संचालित करता है। इसी क्रम में जर्मन दार्शनिक हेगेल ने एक सर्वोच्च संकल्पना की बात की और कहा कि एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के माध्यम से मानवता पूर्णता की और प्रगति कर रहा है। इसके बाद एक और जर्मन दार्शनिक मार्क्स ने कहा कि भौतिक विकास का इतिहास भी एक द्वंदात्मक प्रक्रिया से अनिवार्य रूप से एक शोषणमुक्त समाज की ओर प्रगति कर रहा है। अंतत: वर्तमान में व्यापक रूप से यह माना जाता है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के द्वारा प्राकृतिक कानूनों की खोज के माध्यम से मनुष्य की अत्यधिक लालच से उत्पन्न समस्याओं का समाधान हो सकते हैं। इन सभी प्रस्तावों में

समस्या यह है कि यह कोई प्रमाण के बिना एक नियतात्मक कानून या सिद्धांत प्रतिपादित करते है जिसमें एक आदर्श और अच्छे अंतिम परिणाम की प्राप्ति सुनिश्चित है।

इस प्रकार, मिथकों का एक नया दौर आया है जिसमें उदारवादी कहते है कि केंद्रीयकृत उदारवादी लोकतांत्रिक राज्य और संसदीय सरकार सबसे अच्छा विकल्प है; मार्क्सवादी कहते है कि इस प्रकार का उदारवादी लोकतंत्र वास्तव में पूंजीपति वर्ग की कार्यकारी समिति है जिसे एक क्रांति से पूरी तरह से उखाड़ फेंककर एक ऐसे राज्य से प्रतिस्थापित किया जाएगा जिस पर सर्वहारा वर्ग का नियंत्रण होगा जो अंततः एक साम्यवादी समाज का गठन के साथ दूर हो जाएगा; आधुनिकतावादी कहते है कि केंद्रीकृत औद्योगिक विकास ही मानव के लिए आर्थिक प्रगति का एकमात्र मार्ग है और पूंजीवादी कहते है कि संसाधनों और आय के आवंटन के लिए बाजार सबसे अच्छा और सबसे कुशल संस्थान है। जैसे कि देवताओं पर केंद्रित पुराने मिथक ने धर्म की शक्तिशाली संस्था को जन्म दिया था, जिसने व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बेरहमी से रौंद दिया था, वैसे ही इन नए मिथकों ने राज्य के संस्थानों को जन्म दिया है जो और अधिक शक्तिशाली हैं व्यक्ति और नागरिक समाज की तुलना में।

फ्रांसीसी समाजशास्त्री फुको ने उल्लेख किया है कि आधुनिक राज्य, चाहे वह किसी भी राजनीतिक विचारधारा का हो, एक शक्ति तंत्र बन गया है जो "स्वचालित है और शक्ति को व्यक्ति केंद्रित कम और तंत्र आधारित अधिक बना दिया जिसमें व्यक्ति फंसा हुआ हैं।" इसलिए रूस में पूर्व-क्रांतिकारी और उत्तर-क्रांतिकारी राज्यों के बीच और भारत में औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक राज्यों के बीच बहुत अंतर नहीं है जहाँ तक जनता के विरोध को दबाने की बात है। वर्तमान दुनिया में, बहुराष्ट्रीय कंपनियों दवारा नियंत्रित अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोश, विश्व बैंक और विश्व व्यापार संगठन की अपवित्र त्रिमूर्ति राष्ट्र राज्यों की तुलना में अधिक शक्तिशाली हैं। बीसवीं सदी के पहले तीन दशकों में पूँजीवादी लालच की दलदल में शोषण से मुक्ति प्राप्ति के अराजकतावादी, मार्क्सवादी और उदारवादी सपनों के दफन होने के बाद से राज्य तंत्र की तुलना में आधुनिक मानवों की इस शक्तिहीनता लगातार बढ़ती जा रही है।

आम मार्क्सवादियों के विपरीत पोलैंड के मार्क्सवादी रोजा लक्समबर्ग ने कुछ हद तक अराजकतावादी और प्रकृतिवादी दृष्टिकोण रखी थी कि जन संगठनों को क्रांति की ऐतिहासिक अनिवार्यता का विश्वास का उत्पाद नहीं होना चाहिए, बल्कि उन्हें श्रमिक वर्गों के सचेत संघर्ष द्वारा निर्मितकिया जाना चाहिए: "आधुनिक सर्वहारा वर्ग किसी पुस्तक या सिद्धांत में निर्धारित योजना के अनुसार अपने संघर्ष को अंजाम नहीं देता है; आधुनिक श्रमिकों का संघर्ष इतिहास का हिस्सा है, सामाजिक प्रगति का हिस्सा है, और इतिहास के मध्य में, प्रगति के बीच में, लड़ाई के बीच में, हम सीखते हैं कि हमें कैसे लड़ना चाहिए ... यही प्रशंसनीय है, यही कारण है कि आधुनिक श्रमिकों के आंदोलन युगांतरकारी है: मेहनतकश जनता अपनी चेतना से, अपने विश्वास से और अपनी समझ से अपनी पराधीनता से अपनी मुक्ति के हथियारों का निर्माण करता है।"

भगवान के अस्तित्व के बाद दूसरा सबसे लंबे समय तक चलने वाला मिथक है पुरुषों का महिलाओं से श्रेष्ठ होना। इस मिथक की इतनी गहरी जड़ें हैं कि मैरी वोलस्टोनक्राफ्ट ने भी, जिन्होंने सर्व प्रथम

पितृसत्तात्मक उत्पीड़न से महिलाओं की मुक्ति के लिए आधुनिक आंदोलन शुरू किया था, खुद को इससे पूरी तरह मुक्त नहीं कर पाईं थी। वह पुरुषों को वह आदर्श मानती थीं जिसकी नकल करना महिलाओं की आकांक्षा होनी चाहिए। अंतिम विश्व युद्ध के बाद के युग में फ्रांसीसी दार्शनिक सिमोन डी बोवॉयर ने इस मिथक को पूरी तरह चुनौती दी थी। उन्होंने तर्क दिया कि महिलाओं को ऐतिहासिक रूप से पुरुषों से हीन माना जाता था और इस मिथक को तोड़ने के लिए, महिलाओं को पुरुषों की नकल करने के बजाय अपनी अनूठी शक्तियों की खोज करनी चाहिए। महिलाओं को पुरुषों और उनके दमनकारी सामाजिक संरचनाओं को खारिज कर अपनी अलग पहचान बनाना होगा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के युग में प्रगतिशील नारीवाद ने शुरू में डी बोवॉयर के विचारों से प्रेरणा ली। इस प्रकार, वर्तमान में नारीवादियों द्वारा महिलाओं के काम और कामुकता को महत्व देने और दमनकारी पितृसत्तात्मक संरचनाओं से मुक्त महिलाओं की अलग पहचान बनाने का मुहिम डी बोवॉयर के शुरुआती बौद्धिक विद्रोह से ही संभव हुआ हैं।

सिमोन डी बोवॉयर एक ऐसी दार्शनिक परंपरा का हिस्सा थे, जिसमें बाहरी दुनिया के संदर्भ के बिना मानव अस्तित्व का अर्थ खोजने का प्रयास किया जा रहा था। फ्रांसीसी दार्शनिक ज्यां पॉल सार्त्र, इस अस्तित्ववादी परंपरा से संबंधित थे और उन्होंने कहा कि मनुष्य बिना किसी पूर्व निर्धारित उद्देश्य के अस्तित्व में है और उन्हें खुद अपने अस्तित्व को परिभाषित करना और अपनी पहचान बनाना था। इसलिए मनुष्य अपने द्वारा स्वतंत्र रूप से बनाए गए विकल्पों, मूल्यों और मानदंडों के लिए पूरी तरह जिम्मेदार हैं।

हिटलर द्वारा यहूदियों का विनाश और सोवियत संघ में स्तालिनवादी तानाशाही की अमानवीय ज्यादतियों के कारण द्वितीय विश्व युद्ध के बाद फ्रांसीसी दार्शनिक और सारत्र के दोस्त कामू ने जीवन की निरर्थकता पर विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मिथक तोड़ने वालों को, जिन्हें वे "निरर्थक" नायक करार दिया, मानव स्वतंत्रता की खोज में मिथकों की शक्ति के खिलाफ एक अंतहीन संघर्ष करना होगा। इसे समझाने के लिए उन्होंने अध्याय के आरंभ में उद्धृत सिसिफस के यूनानी मिथक की पुनर्व्याख्या की।

अराजकतावादी होने के नाते कामू ने इस संघर्ष की कल्पना केवल व्यक्तिगत शब्दों में की। लेकिन वास्तव में प्रभावी होने के लिए, आधुनिक सिसिफस का संघर्ष केवल एक व्यक्ति का नहीं हो सकता है, बल्कि बड़ी संख्या में जनता को इसमें शामिल होना होगा। जैसे कि पहले बताया जा चुका है यह अराजकतावाद की केंद्रीय समस्या है - केंद्रीयकृत संस्थानों के अत्याचार से लड़ने के लिए जनता को संगठित करने के लिए अपने स्वयं के बड़े संस्थानों की स्थापना ना कर पाना। वैसे कामू क्योंकि फ्रांस के उपनिवेश अल्जेरिया में जन्में थे इसलिए वे अलजेरियाई स्वतंत्रता संग्राम का विरोध किया था जो कि उनका गलत निर्णय था और इसके कारण उनकी सारत्र से दोस्ती टूट गई। इसलिए द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के युग में आवश्यकता थी ऐसी नई संगठन की प्रक्रिया और संघर्ष के नए तरीके की जो केंद्रीयकरण और मिथकों के बिना जनता को संगठित कर सके।

1961 में इस दिशा में एक महत्वपूर्ण घटना घटी जब लंदन में वकीलों, पत्रकारों, लेखकों और अन्य लोगों के एक समूह ने एक सार्वजनिक अपील जारी किया जिसमें उन दो पुर्तगाली कॉलेज के छात्रों को रिहा करने की मांग की गई जिन्हें वहाँ के तानाशाह द्वारा बीस साल की जेल की सजा सुनाई गई थी क्योंकि वे आजादी के लिए गुहार लगाया था। इससे आगे चलकर "एमनेस्टी इंटरनेशनल" नामक संस्था का गठन हुआ और आधुनिक मानवाधिकार आंदोलन का जन्म हुआ। इसकी एक ही मांग थी कि हर जगह की सरकारें, विचारधारा की परवाह किए बिना, मानवाधिकारों के कुछ बुनियादी सिद्धांतों का पालन करें। यह उन लोगों के एक बड़े समूह को आकर्षित किया जो किसी राजनीतिक आंदोलन में शामिल होने में दिलचस्पी नहीं रखते है पर फिर भी आधुनिक राज्य द्वारा व्यक्तियों के अधिकारों का हनन के खिलाफ है।

इसके बाद 1960 के दशक में संयुक्त राज्य अमेरिका में मार्टिन लूथर किंग के अश्वेतों के हक में नागरिक अधिकार आंदोलन और वियतनाम युद्ध के विरुद्ध युवाओं का आंदोलन हुए और यूरोप में युवाओं के पूंजीवाद के विरुद्ध विद्रोह हुए। भारत में 1975 में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में सम्पूर्ण क्रांति आंदोलन हुए।

इस प्रकार की जन कार्रवाई ने बाद में कई छोटे समूहों को विभिन्न प्रकार के अधिकारों के लिए संगठित करने के लिए प्रेरित किया, और आज, दुनिया भर में बहुत सारे ऐसे आंदोलन चल रहे है। भले ही ये छोटे संगठन राज्यों या बहुराष्ट्रीय कंपनियों की शक्ति को बहुत अधिक चुनौती नहीं दे पा रहे है लेकिन वे कई तरह से अपनी उपस्थिति दर्ज कराने में सफल हैं। मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ में जमीनी स्तर पर आंदोलनों का अस्तित्व बना हुआ है भारी राज्य दमन के बावजूद।

पर यह विविध आंदोलन विनाशकारी विकास की वर्तमान विश्व व्यवस्था को कारगर चुनौती पहुंचाने में सक्षम नहीं हैं! बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा गैर-सरकारी संगठनों के जरिए जमीनी स्तर पर आंदोलनों को कमजोर करने का काम किया है। स्व-सहायता समूहों, जल उपयोगकर्ता संघों, वन प्रबंधन समितियों आदि को वित्त पोषित कर राजनीतिक आंदोलनों में लोगों की भागीदारी कमजोर कर दिया गया है। टेलीविजन और इंटरनेट के माध्यम से प्रसारित उपभोक्तावाद को फैलाया गया है और पहलस्वरूप इन दिनों युवा प्रगतिशील सामाजिक परिवर्तन का सपना देखना बंद कर दिए है। राजनीतिक दिवास्वप्न का अंत हो गया है।

जिस समय कामू सिसिफस के मिथक को फिर से व्याख्या कर रहा था, उस समय बाबासाहेब अम्बेडकर बुद्ध की शिक्षाओं की नई व्याख्या कर रहे थे। यह महसूस करते हुए कि बड़े पैमाने पर दलित लोग भगवान पर विश्वास को इतनी आसानी से नहीं छोड़ पाएंगे, उन्होंने उन्हें एक पुनर्व्याख्यायित बौद्ध धर्म का विकल्प पेश किया। इस रूपांतरण का प्रभाव यह था कि सुभद्रा के माता-पिता और दरगाहान के कई अन्य लोग इस अम्बेडकरवादी बौद्ध धर्म में परिवर्तित हो गए। सुभद्रा को याद है कि उनके घर में कभी कोई मूर्ति या प्रार्थना नहीं होती थी।

विश्व पूंजीवाद की ताकत को देखते हुए, खोई हुई ज़ुबानों को वापस लाने का काम हमेशा खतरे से भरा होता है, जिसे बंगालियों द्वारा गंगा नदी की ठंडी हवा पीठ पर लगना कहा जाता है। जब भी

कोई जन आंदोलन अपने चरम पर पहुंचता है, तो बहुत सारे लोग इसमें अपना सक्रिय समर्थन देते हैं। पर, जैसा ही राज्य दमन धीरे-धीरे तेज होता है, ज्यादातर समर्थक हट जाते हैं। तो गंगा की ठंडी हवा, जो पहले उनके पीछे खड़े कई समर्थकों द्वारा रोक दिए जाते थे, कार्यकर्ता और नेताओं की पीठ को ठंडी कर उनकी लड़ने की इच्छा को कम कर देती है!

इसीलिए बाबासाहेब अम्बेडकर का उदाहरण उन सभी लोगों के लिए एक रोशनदान की तरह काम करना चाहिए जो अभी भी आधुनिक औद्योगिक विकास के विनाशकारी मिथक से मानव जाति को मुक्त करने का सपना देखते हैं। यह "मूक नायक" या गूंगों के वीर नेता, उनकी मृत्यु के दिन तक, अकेले ही दलितों के लिए खोई हुई जुबान को पुनः प्राप्त करने के लिए लड़ते रहा, यह परवाह किए बिना कि उनके समर्थन में कितने लोग है। इसलिए उनकी यह नारा हमें शिरोधार्य कर लेना चाहिए, "मेरे लिए लड़ाई खुशी की बात है, क्योंकि यह धन या शक्ति की लड़ाई नहीं है, बल्कि यह स्वतंत्रता की लड़ाई है।"

मिथकों के अत्याचार से मुक्ति की लड़ाई।